प्रकरण वक्रता का सिद्धान्त और कालिदास तथा भवभूति की कृतियों में उसका विवेचन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

की

डी० फिल० उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध प्रबन्ध

मार्गनिर्देशक :

प्रो० सुरेश चन्द्र पाण्डेय

अनुसन्धात्री :

श्रीमती सुधा शर्मा

संस्कृत विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद

१९९३

सरस्वतीवन्दना

या कुन्देदु तुषारधवला, या शुभ्र वस्त्रावृता ।

या वीणावरदण्डमण्डिमण्डितकरा, या श्वेत पद्मासना ।।

या ब्रह्माच्युत शङ्कर प्रभृतिभिर्दिवै सदा वन्दिता

सा मा पातु सरस्वती भवगती नि शेषजाड्यापहा ।।

।। श्रीः ।।

प्राक्कथन

अपने अध्ययनकाल के प्रारम्भ से ही मुझे संस्कृत विषय में अत्यधिक रूचि रही । इसका प्राचीनतम स्वरूप वेद व पौराणिक कथाऐं तथा उनमे क्रमश महान्विभूतियों के द्वारा नवीनता व मौलिकता का समावेश - इस साहित्य को सदैव समृद्धतर व सुसम्पन्न करता रहा ।

अपने अध्ययनकाल में ही मैने सस्कृत साहित्य में शोधकार्य करने की विचारधारा बना ली थी। एम0 ए0 करने के पश्चात् मैने शोध-विषय के चुनाव में वक्रोक्ति-सिद्धान्त के प्रकरण-वक्रता के सिद्धान्त को चुना क्योंकि सदैव से ही प्राचीनता मे नवीनता व मौलिकता के परिवर्तित व सशोधित स्वरूप मुझे आकर्षित करते रहे थे । महाकवि भवभूति व महाकवि कालिदास के ग्रन्थों मे यह मौलिकता व प्रकरण-वक्रता पद-पद पर लक्षित होती थी, अत मैने इसी विषय पर शोधकार्य प्रारम्भ किया ।

अपने शोध-निर्देशक डा0 सुरेश चन्द्र पाण्डेयजी के प्रति मै कृतज्ञ हूँ, जिनके अथक सहयोग से मै आज यह शोध-ग्रन्थ समर्पित करने में समर्थ हुयी हूँ ।

इस शोधकार्य व सम्पूर्ण ही अध्ययनकाल मे मेरे पिता, श्री दीनानाथ भट्ट व मेरी माँ श्रीमती सुमित्रा देवी, की प्रेरणा हमेशा मेरे साथ रही । मेरे पिता की मै सदैव ऋणी रहूँगी, जिन्होंने अपने सहयोग व प्रेरणा से सदैव मेरे लक्ष्यमार्ग को प्रशस्त किया ।

मेरा अर्ध शोधकार्य पूर्ण होने पर ही मेरा विवाह एक फौजी अफसर से तय हो गया । मेरा शोध कार्य मुझे अपूर्ण होता सा लगा, अत मैं बहुत निराश हुयी, परन्तु मेरे विवाह के पश्चात् मेरे पति, कैप्टेन सुनील दत्ता शर्मा, की प्रेरणा व अत्यधिक व्यस्त जीवनचर्या ने मुझे अपना शोधकार्य जारी रखने का पर्याप्त अवसर व समय दिया । मेरे पति सदैव मुझे सम्बल व प्रेरणा देते रहे और जिनके पर्याप्त सहयोग से मेरा यह लक्ष्य पूरा हो सका ।

मेरी परमपूज्य सास, श्रीमती सुशीला देवी, को भी मै याद करना नहीं भूल सकूँगी, जिन्होंने बहुत शिक्षित न होते हुये भी हमेशा मुझे मेरी वैवाहिक जिम्मेदारियों से दूर रखते हुये मुझे आशीष व प्रेरणा प्रदान की ।

विभिन्न ग्रन्थों व पूर्ववर्ती टीकाओं के अध्ययन से अर्जित ज्ञान एवं अपनी क्षमता के अनुसार शोध-विषय 'प्रकरण-वक्रता का सिद्धान्त और कालिदास तथा भवभूति की कृतियों में उसका विवेचन' पर शोध के उद्देश्य को पूरा करने का ईमानदारी के साथ भरसक प्रयत्न किया है, किन्तु उसमें मैं कहाँ तक सफल हुयी हूँ, इसे तो पाठक ही आँक सकेंगे । यदि मेरे इस प्रयास से उन्हें कुछ भी सन्तोष मिला, तो मुझे कृतार्थ होने के लिये वही पर्याप्त होगा ।

अन्त मे अज्ञानवश हुयी अपनी त्रुटियों के लिये क्षमा-याचना कर अपने वक्तव्य को यहीं समाप्त करती हूँ ।

परमपिता परमात्मा की कृपा ही मेरी शोध-यात्रा की पूर्णता मे अदृश्य रूप से रही है, प्रभु चरणों मे मेरा प्रणाम ।

निवेदिका
सुधा शर्मा
(सुधा शर्मा)

।। श्री रामचन्द्राय नम ।।

प्रकरण वक्रता का सिद्धान्त तथा कालिदास और भवभूति की कृतियों में उसका विवेचन की

रूपरेखा

प्रथम अध्याय: वक्रोक्ति का स्वरूप

वक्रोक्ति का अर्थ

भारतीय काव्यशास्त्र मे वक्रोक्ति

1- कुन्तक के पूर्वकालिक आचार्य

2- कुन्तक के परवर्ती आचाय

3- कुन्तक और कुन्तक के समवर्ती आचार्य

कुन्तक का वक्रोक्ति सिद्धान्त

1- काव्यास्वरूप और वक्रोक्ति

2- अलड्कार्य

क- शब्दार्थ-स्वरूप

ख- शब्दार्थ-साहित्य

3- अलड्कार

क- विचित्राभिरूपा वक्रोक्ति

ख- प्रसिद्धाभिधानन्यतिरेकिणी वक्रोक्ति

ग- कविव्यापाराश्रिता वक्रोक्ति

घ- सहृदयाह्लादकारिणी वक्रोक्ति

तृतीय अध्याय - वक्रोक्ति तथा भारतीय काव्यसिद्धान्त

चतुर्थ अध्याय - पाश्चात्य काव्यशास्त्र में वक्रोक्ति

वक्रोक्ति का स्वरूप

वक्रोक्ति की व्याख्या

भारतीय वाङ्मय की प्रत्येक विद्या का मूलरूप वेदों में ही उपलब्ध होता है । वेद न केवल प्रत्यक्ष अथवा अनुमान प्रमाणों से न जानने योग्य विषयों के ज्ञापक हैं बल्कि भाषा एवं शैली की दृष्टि से भी वह परवर्ती युग में पल्लवित अनेक अलङ्कारों एवं अन्यान्य काव्यबन्धों के सर्जक भी हैं । ऋग्वेद में तो मण्डूक सूक्त एवं सूर्या-सोम विवाह सन्दर्भ न केवल मर्मस्पर्शी उपमाओं का व्यावहारिक चित्रण किया गया है बल्कि 'अरङ्कृति' शब्द का प्रयोग भी देखने को मिलता है । इतना ही नहीं अन्यान्य अलङ्कारों के सविधानक भी वेद-मन्त्रों में देखने को मिल जाते हैं जिनसे यह सुस्पष्ट हो जाता है कि वेदों में अलङ्कारों का सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों ही पक्ष सहजता के साथ पल्लवित हुआ है।

कविता क्या है ? स्वरूप की दृष्टि से काव्य को अधिकांश आचार्यों ने शब्दार्थ समष्टि ही स्वीकार किया है, परन्तु तटस्थ दृष्टि से किये कान्यलक्षणों मे जो तथ्य बरबस उभर कर सामने आता है वह यह है कि सामान्य कथन या वर्णन काव्य नहीं होता । वस्तुतः विशिष्ट प्रकार के वर्णन को ही काव्य माना गया है । अब प्रश्न यह है कि वह विशिष्टता क्या है ? इस प्रश्न में प्रायः संस्कृत काव्य शास्त्र के प्रत्येक सवेदनशील आचार्य को सोचने-विचारने के लिये प्रेरित किया है । सामान्य कथन या वर्णन तो लोक-व्यवहार का माध्यम होता है, परन्तु आचार्य दण्डी ने कड़ी-स्पष्टता से लोकवार्ता को कविता से अलग रखा है । क्रान्तदर्शी जो कुछ भी वर्णन करता है वह लोक-परम्परा से अथवा लोक-व्याहृत की शैली से पूर्णतः भिन्न होता है । उसके कथन में एक विद्धतापूर्ण वर्णविन्यास होता है, चातुर्य होता है, नैपुण्य होता है । इसी वैशिष्ट्य को परिभाषित करने का यत्न ईसा की छठीं शताब्दी में आचार्य भामह ने किया था ।

आचार्य भामह कविता का प्राणतत्व वक्रोक्ति को मानते हैं । वक्रोक्ति अर्थात वक्रता भरी उक्ति अर्थात् को भामह नाना प्रकार के अर्थों की विभावना का मूल निस्पन्द मानते हैं ।

किया । इस प्रकार काव्य प्रयुक्त शब्द और अर्थ के विषय में आचार्य कुन्तक अपना मत देते हैं।[1]

आचार्य कुन्तक का शब्दार्थ स्वरूप विषयक यह मत पूर्णत ध्वनिकार के मत से मेल खाता है । आचार्य आनन्दवर्द्धन शब्द-प्रत्यभिज्ञान की चर्चा करते हुये कहते है।[2]

आचार्य कुन्तक ऐसे ही विशिष्ट शब्द एवं विशिष्ट अर्थ के युगल को काव्य मानते हैं। इस सम्बन्ध में यह तथ्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि वह केवल शब्द अथवा केवल अर्थ को काव्य नहीं मानते, बल्कि शब्द और अर्थ दोनों को समान रूप से काव्य का प्रयोजन मानते हैं । इस सन्दर्भ में उनका सुस्पष्ट कथन है कि[3] ।

शब्दार्थ युगल को काव्य मानकर आचार्य कुन्तक ने अपनी पूर्व-परम्परा का ही समर्थन किया क्योंकि उनसे पूर्व भामह और रुद्रट भी शब्दार्थ-साहित्य को ही काव्य मान चुके थे । आगे चलकर आचार्य मम्मट तथा विद्याधर ने भी शब्दार्थ समष्टि को ही काव्य माना । रसगङ्गाधरकार आचार्य जगन्नाथ यद्यपि शब्द की ही काव्यता पर जोर देते हैं लेकिन उसे रमणीय अर्थ का प्रतिपादक कहकर उन्होंने भी प्रकारान्तर से शब्दार्थ समष्टि को ही काव्य माना । इस प्रकार आचार्य कुन्तक काव्य को स्वरूप निर्धारित करने मे विशेष होते हुये भी बहुत कुछ परम्परावादी हैं । उनकी दृष्टि में साहित्य उसे कहते है जहाँ रमणीय शब्दों और सहृदयाहृलादकारी अर्थो का परस्पर साम्य हो, परन्तु प्रतिस्पर्धा के साथ।[4]

1- शब्दों विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि।
अर्थः सह्रदयाहृलादस्वरूपस्पन्द सुन्दर.।।
- व0 जी0, 1/9

2- सोऽर्थस्तद्व्यक्ति सामर्थ्य योगी शब्दश्च कश्चन्।
यत्न प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवे.
- ध्वन्यालोक

3- तेन यत्केषान्चित्मतं कविकौशलकल्पितकमनीयातिशयः शब्दः एव केवलं काव्यमिति केषान्चित् वाच्यमेव रचनावैचिञ्य चमत्कारि काव्यमिति, पक्षद्वयमपि निरस्तं भवति।
- व0 जी0 ,0 18

4- तस्यां स्पर्धित्वेन याऽसावस्थितिः परस्परसाम्यसुभगमवस्थानं सा साहित्यमुच्यते ।
- व0 जी0, पृ0 61

आखिर भावाभिव्यक्ति में वक्रता क्यों अपेक्षित है ? यह प्रश्न मनुष्य की सवेदनात्मक अंतश्चेतना और लोक-मानसिकता से सीधे जुड़ा है । यह एक सौन्दर्य-शास्त्रीय अनुभूति है कि वक्रता सौन्दर्य की जननी होती है । केशों की वक्रता अर्थात घुँघराले केश होना क्या सौन्दर्य का नियामक नहीं है ? नेत्रों की वक्रता अर्थात चंचल चितवन (कटाक्ष) क्या सौन्दर्य का आधायक नहीं है ? नटनागर कृष्ण वंशी बजाने की मुद्रा में जानु, कटि एवं कण्ठ तीन बिन्दुओं पर टेढे हो जाते थे । उनके इस त्रिभङ्गी रूप पर ब्रजमण्डल की गोपियाँ निछावर थीं जिसका प्रमाण श्रीमद्भागवाद्कार स्वयं है । केश, नेत्र तथा अङ्गों की वक्रता के ही समान अभिव्यक्ति की वक्रता भी एक अभूतपूर्व सौन्दर्य की सृष्टि करती है । सच तो यह है कि यही वक्रता कविता को सामान्य उद्गार से पृथक भी करती है ।

संस्कृत काव्यशास्त्र में दो हजार वर्षों के इतिहास में वक्रोक्ति के अन्य अनेक पर्यायों की व्याख्या भी आचार्यों द्वारा की गयी मिलती है । ऐसे प्रमुख शब्दों मे भङ्गभिणिति, वचोभङ्गी, चमत्कार, रमणीयार्थ तथा विन्यासविदग्धरीति (वाग्वैदग्धी) आदि आते हैं । भङ्गभिणिति का तात्पर्य है ऐसी अभिव्यक्ति जो भंगिमा के साथ, टेढेपन के साथ प्रस्तुत की जाये । वचोभङ्गी का अर्थ है - वाणी की वक्रता । चमत्कार शब्द एक मनोवैज्ञानिक संवेदनात्मक स्थिति होने के कारण सरलता से व्याख्या योग्य तो नहीं है, फिर भी उसे स्पष्ट करने का यत्न किया जा सकता है । 'चमत् करोति इति चमत्कार.' अर्थात वह तत्व जो अंतश्चेतना को झिंझोड़ कर रख दे, जो मन में पुलकन पैदा कर दे। चूंकि ऐसी स्थिति काव्य में प्रयुक्त वक्रता के अनुभव से ही होती है इसलिये इसे भी वक्रोक्ति का पर्याय मान सकते हैं । आचार्य जगन्नाथ इसी चमत्कार को रमणीयार्थ का सर्जक मानते हैं और जगन्नाथ द्वारा कल्पित रमणीय अर्थ भी वक्रोक्ति अथवा भङ्गीभिणिति ही है । अट्ठारवीं शताब्दी में आचार्य नीलकण्ठ दीक्षित ने इसी वक्रोक्ति तत्व को एक नये रूप में अभिव्यक्त किया।[1]

1- यानेव शब्दान् वयमालपामो यानेव चार्थान् वयमुल्लिखाम ।
तैखे विन्यास विशेषभव्यैः सम्मोहयन्ते कवयो जगन्ति ।।

अर्थात विन्यास की विदग्ध रीति से, कथन की चतुर्यपूर्ण रीति से ही प्रतिभाशाली कविगण सारे संसार को सम्मोहित कर लेते हैं ।

इस प्रकार उपर्युक्त उद्धरणों से वक्रोक्ति के उद्भव और विकास का एक संक्षिप्त लेखा-जोखा हमारे समक्ष प्रस्तुत हो जाता है । यही वक्रता जब दृश्य-काव्य मे समाहित होती है, तो नाट्य का रूप धारण कर लेती है । विभिन्न पात्रों द्वारा प्राचीन पात्रों की अवस्थाओं का अनुकरण करते समय अंगों की वक्रता गात्रविक्षेप का ही प्राधान्य होता है । इस प्रकार अग-संचालन अथवा नटन-प्रक्रिया ही नाट्य की आधार शिला है । इस प्रकार वक्रता एक ऐसा व्यापक तत्व है जो समूची सृष्टि के अणु-अणु मे व्याप्त होकर अभूतपूर्व सौन्दर्य की सृष्टि करता है । प्रकृति में ऐसे सौन्दर्य निरन्तर देखने को मिलते है । घटती-बढती चन्द्रमा की कलाएँ, समुद्र मे उठती तरंगों के टेढे-मेढे घात-प्रतिघात, हवा के झोंकोरों मे झूमती फसलें और गॉव-शहर की टेढ़ी-मेढी गलियॉ - जहॉ कहीं भी सुन्दरता है, वहॉ वक्रता अवश्य है ।

भारतीय काव्यशास्त्र में वक्रोक्ति

काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का सड्केत हमे अस्पष्ट रूप मे आचार्य यास्क प्रणीत निरुक्त में भी मिलता है । परन्तु काव्यशास्त्र का सुव्यवस्थित विवेचन सर्वप्रथम हमें आचार्य भरत के नाट्य शास्त्र में मिलता है, जिसका समय ईसा पूर्व 4थी शती मान्य है । 36 अध्यायों से युक्त इस विशाल ग्रन्थ को **'षट्त्रिंशकम्'** भी कहते हैं । इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इस रंगमंच व्यवस्था, नाट्य-शास्त्र, काव्य-शास्त्र और छन्द-शास्त्र का एक साथ विवेचन हुआ है । कहने को भले ही यह ग्रन्थ नाट्य-शास्त्र कहा जाता है, परन्तु वह काव्य-शास्त्र भी है । आचार्य भरत काव्य और नाट्य को पर्याय रूप मे प्रयुक्त करते हैं ।

आचार्य भरत ने उपमा, रूपक, दीपक और यमक केवल इन चार अलङ्कारों का विवेचन किया है । वक्रोक्ति के विषय मे वह प्राय मौन से हैं । हाँ, लक्षणों के विवेचन में उन्होंने अवश्य ही वक्रोक्ति से मिलते-जुलते शब्दों का प्रयोग किया है । उदाहरण के लिये मनोरथ नामक लक्षण मे उन्होंने हृदयस्थ भावों के सुश्लिष्टार्थ प्रदर्शन की बात कही है। [1]

वस्तुत हृदयस्य गूढ भावों का प्रदर्शन करने मे वक्रोक्ति के बीज निहित दिखायी पड़ते हैं।

वक्रोक्ति का प्राचीनतम सम्यक् विवेचन आचार्य भामह के काव्यालङ्कार में प्राप्त होता है। भामह में वक्रोक्ति को एक काव्यविद्या (अलङ्कार्य) और अलङ्कार दोनों ही रूपों में स्वीकार करते हैं। यह कहना कठिन है कि भामह को वक्रोक्ति विषयक व्याख्यान की प्रेरणा कहाँ से मिली होगी क्योंकि उनके पूर्ववर्तियों मे भरत ने चार ही अलङ्कार माने थे । परवती आचार्य मेधावी रूद्र ने भी अनुप्रास सहित उन्हीं चार अलङ्कारों को स्वीकार किया था । काव्यालङ्कार मे भामह स्वयं इसी बात का हवाला देते है कि हमारे पूर्ववर्तियों ने पाँच ही अलङ्कार स्वीकार किये हैं। [2] ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य भामह को काव्यतत्व के रूप में वक्रोक्ति की अवधारणा पूर्ववर्ती साहित्यकारों से मिली होगी। कालिदास, सुबन्धु और बाणभट्ट ने अपनी कृतियों में यथावसर वक्रोक्ति तथा उसके समानार्थक पर्यायों का खुलकर प्रयोग किया है । सुबन्धु ने वासवदत्ता में 'विन्यासवैदग्ध्यनिधिः' शब्द का प्रयोग किया है। जैसा कि प्रारम्भ मे ही स्पष्ट किया गया है - वैदग्ध्य अथवा वाग्वैदग्धी को वक्रोक्ति का ही पर्याय माना गया है । सुबन्धु की ही तरह आचार्य नीलकण्ड दीक्षित भी वक्रोक्ति के पर्याय रूप मे 'विन्यासविदग्धरीतिः' शब्द का प्रयोग करते हैं ।

1- 'हृदयस्थस्य भाव सुश्लिष्टार्थ प्रदर्शनमन्यापदेश-कथनैः' इति मनोरथ स्मृत ।
- नाट्यशास्त्र

2- पञ्चैवान्यै उदाहृता ।
- काव्यालङ्कार

महाकवि बाणभट्ट, जो निश्चय ही भामह के पूर्ववर्ती रहे होंगे, ने भी कादम्बरी मे वक्रोक्ति और परिहासजल्पित शब्दों का प्रयोग किया है । निश्चय ही वक्रोक्ति शब्द से बाणभट्ट का अभिप्राय रहा होगा - लोकोत्तरचमत्कारकारी नवीन काव्यार्थ । हर्षचरित मे स्वाभिमत गद्य की विशेषता बताते हुये बाणभट्ट ने उसी नूतन अर्थ की बात कही है । जो वक्रोक्ति के अभ्यास से कविता में प्रकट होता है।[1]

इस प्रकार स्पष्ट है कि भामह से पूर्व भी संस्कृत कवि वक्रोक्ति तत्त्व से सर्वथा सुपरिचित थे, परन्तु जैसा कि पहले कहा गया है कि काव्यशास्त्रीय परम्परा मे आचार्य भामह ने सर्वप्रथम वक्रोक्ति तत्त्व का व्यवस्थित विवेचन किया है । आचार्य भामह अतिशयोक्ति को रमणीयार्थ का कारणभूत एक चमत्कारी अलङ्कार मानते है । उनका कथन है कि किसी कारणवश कवि जिस लोकातिक्रान्तगोचर अर्थात अलौकिक अर्थ की परिकल्पना करता है, वही अतिशयोक्ति है । उसे अतिशयोक्ति इसलिये भी कहते हैं कि उसमें गुणातिशय का योग होता है और यह गुणातिशय का योग ही कविता में उस वक्रता का आधान करता है जिसके कारण नाना प्रकार के अर्थों की सम्भावना बनती है।[2]

इस प्रकार भामह बड़ी स्पष्टता से वक्रोक्ति को अतिशयोक्ति का पर्याय साथ ही साथ कविता की आधारशिला मानते हैं । उन्होंने हेतु, सूक्ष्म, और लेश अलङ्कारों को केवल इसीलिये अलङ्कार मानना अस्वीकार किया है क्योंकि उनमें वक्रोक्ति तत्त्व नहीं होता । भामह वक्रोक्ति को इतना महत्त्व देते हैं कि वह वक्रोक्ति रहित काव्य को काव्य नहीं बल्कि गेय मात्र मानते हैं।[3]

1- नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषोऽक्लिष्टः स्फुटोरसः।
विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुष्करम् ।।
- हर्षचरित 1/18

2- निमित्ततों वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम्।
मन्यन्तेऽतिशयोक्ति तामलङ्कारतया यथा ।।
इत्येवमातिरुचिता गुणातिशययोगत.।
सर्वोवातिशयोक्तिस्तुतर्कयेत्तां यथागमम्।।
सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया बिना।।
काव्यालङ्कार 2/81,84,85

काव्यालङ्कार में अनेक प्रसङ्गों में भामह वक्रता अथवा वक्रोक्ति तत्व की चर्चा करते हैं। एक स्थान पर उन्होंने बड़ी स्पष्टता से कहा है कि वक्रता से परिपूर्ण शब्द और अर्थ ही वाणी को रमणीय बनाने में समर्थ है। [1]

इस कथन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य भामह वक्रता को उभयपक्षीय मानते थे - शब्द - वक्रता और अर्थ-वक्रता । इस प्रकार वक्रोक्ति के सन्दर्भ मे भामह की उद्भावना अत्यन्त मौलिक, समीक्षात्मक साथ ही साथ व्यापक भी है ।

आचार्य दण्डी काव्यादर्श के लेखक और भामह के परवर्ती हैं । वह भी अतिशयोक्ति को ही काव्यसर्वस्व मानते है । अतिशयोक्ति को आचार्य दण्डी अलङ्कारों के वैचित्र्य का सर्जक मानते हैं। [2]

परन्तु आचार्य दण्डी की यह अतिशयोक्ति भी वक्रोक्ति से भिन्न नहीं है । हॉलाकि, दण्डी भामह की तरह स्पष्ट शब्दों में अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति का तादात्म्य नहीं स्थापित करते, परन्तु वैचित्र्यमूलक अलङ्कारों को वह वक्रोक्ति वर्ग में भी रखते हैं । जैसा कि काव्यादर्श के एक टीकाकार ने स्पष्ट किया है। [3]

ऐसा प्रतीत होता है कि भामह के साथ प्रतिस्पर्धा होने के कारण ही दण्डी ने अपना मत-वैभिन्न स्थापित करने के लोभ से शब्दों को तोड़-मरोड़कर प्रयुक्त किया है, परन्तु काव्यादर्श में उपलब्ध स्वाभावोक्ति, अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति या प्रसङ्ग पढने के अनन्तर यही निष्कर्ष निकलता है कि आचार्य दण्डी भी भामह के ही समान वक्रोक्ति को काव्य का एक व्यापक तत्व मानते हैं ।

1- वाचाम् वक्रार्थशब्दोक्तिरलङ्काराय परिकल्पते ।
- काव्यालङ्कार 5/66

2- असावतिशयोक्ति : स्यादलङ्कारोत्तमायथा
- काव्यादर्श 2/2/4

3- वक्रोक्तिशब्देन उपमादय· संकीर्णपर्यन्ता: अलङ्कारा.
- काव्यादर्श (हृदयङ्गमटीका), पृ0 202

आचार्य कुन्तक के पूववर्तियों में दण्डी के अनन्तर आचार्य वामन आते हैं । चूंकि वामन रीति-सम्प्रदाय के सस्थापक थे इसलिये उनका ध्यान वक्रोक्ति की गरिमा और महिमा पर अधिक केन्द्रित नहीं हो सका फलतः उन्होंने वक्रोक्ति का क्षेत्र भामह और दण्डी की तुलना में अत्यधिक संकुचित कर दिया है। वक्रोक्ति सम्बन्धी उनकी स्थापनाएँ भी बहुत अधिक शिथिल प्रतीत होती हैं । पहली बात तो यह कि वामन वक्रोक्ति काव्यसर्जना के क्षेत्र में एक व्यापक तत्त्व न मानकर उसे अर्थालड्कार विशेष मानते हैं और कहते है कि सादृश्य के आधार पर हुयी लक्षणा ही वक्रोक्ति है। [1] वह पुनः कहते हैं कि सादृश्य से इतर अन्य निमित्तों पर आधारित लक्षणा वक्रोक्ति नहीं होती। [2]

वामन के अनन्तर आचार्य रुद्रट ने काव्यालड्कार की रचना की । उन्होंने भी वामन के ही समान वक्रोक्ति की व्यापकता पर विचार नहीं किया, उसे नवीन अर्थों की उद्भावना का मूल तथा अलड्कारों के विकल्प का हेतु नहीं माना, बल्कि एक विशिष्ट अलड्कार ही स्वीकार किया । परन्तु ऐसा करते हुये भी रुद्रट वामन से अलग हैं क्योंकि वामन वक्रोक्ति को अर्थालड्कार मानते हैं जबकि आचार्य रुद्रट शब्दालाड्कार मानते है । उन्होंने पुन. वक्रोक्ति के दो भेद किये-श्लेष वक्रोक्ति तथा काकु वक्रोक्ति ।

परन्तु आश्चर्य तो यह है कि रुद्रट के टीकाकार आचार्य नमिसाधु इस प्रसड्ग की व्याख्या करते हुये भड्ग्यन्तर व्याख्यान को ही वक्रोक्ति कहते हैं। [3]

नमिसाधु की यह वक्रोक्ति दृष्टि भामह के मत का पूर्णत समर्थन करती है । इस प्रकार आचार्य रुद्रट भले ही वक्रोक्ति को एक अलड्कार विशेष ही मानते हों, परन्तु उनके टीकाकार निश्चित रूप से वक्रोक्ति की व्यापकता का समर्थन करते हैं ।

1- सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः
- काव्यालड्कारसूत्र 4/3/8

2- असादृश्यनिबन्धना तु लक्षणा न वक्रोक्तिः
- काव्यालड्कारसूत्र, पृ0 165

3- 'किं गौरी मां प्रति रूषा' इति शब्दसमुदायोऽलड्कार्य एव।
तस्य यद् भड्ग्यन्तरेण व्याख्यानं सोऽलड्कारः ।
- नमिसाधुकृतटीका, पृ0 37

ध्वनिकार आचार्य आनन्दवर्द्धन भी न केवल भामह और दण्डी द्वारा व्याख्यात वक्रोक्ति से अवगत है, बल्कि उन्होंने व्यङ्ग्यार्थ की संस्थापना में वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग सभिप्राय किया है । ध्वन्यालोक के द्वितीय उद्योत में वह कहते हैं। [1]

तीसरे उद्योत में उन्होंने बड़ी स्पष्टता से अतिशयोक्ति की सर्वालङ्काररूपता तथा वक्रोक्ति एवं अतिशयोक्ति की एकता को भी स्वीकार किया है । इस प्रसङ्ग में वह भामह की 'सैषा सर्वेव वक्रोक्ति ' आदि कारिका को भी उद्‌घृत करते हैं । इस सन्दर्भ में उनके दो वाक्य उल्लेखनीय हैं। [2] आनन्दवर्द्धन के ही समान काव्य में नवीन उक्ति अथवा नूतन अभिप्राय का महत्व काव्यमीमांसाकार आचार्य राजशेखर भी स्वीकार करते है । परन्तु जहाँ आचार्य रूद्रट 'काकु' को वक्रोक्ति नामक शब्दालङ्कार मानते थे, वहीं आचार्य राजशेखर उसका विरोध करते हुये कहते हैं कि काकु अलङ्कार्य है, अलङ्कार नहीं । राजशेखर की दृष्टि मे काकु जान-बूझकर एक विशेष प्रकार से पढने अथवा बोलने का प्रकार है । ऐसी स्थिति में वह अलङ्कार कैसे हो सकता है। [3]

इस प्रकार हम देखते है कि आचार्य कुन्तक के पूर्ववर्ती अनेक साहित्यकारों एवं काव्यशास्त्रियों ने वक्रोक्ति शब्द को विभिन्न सन्दर्भों मे प्रयुक्त कर रखा है । यह बात अवश्य आश्चर्यजनक प्रतीत होती है कि भामह और दण्डी के युग तक जो वक्रोक्ति समूचे काव्य को अनुप्राणित करने वाली एक व्यापक विधि थी, वह आगे चलकर संकुचित क्यों हो गयी ? उसकी महिमा और गरिमा का ह्रास क्यों हो गया ? सम्भवतः इसका एक प्रबल कारण तो यही था कि अलङ्कार-सम्प्रदाय

1- 'तत्र वक्रोक्त्यादिवाच्यालङ्कार व्यवहारेव'
- ध्वन्यालोक, द्वि०उ०, पृ० 174

2- यत· प्रथम तावदतिशयोक्तिगर्भता सर्वालङ्कारेषु शक्यक्रिया ।
अतिशयोक्तिस्तु सर्वालङ्कारविषयोऽपि संभवतीत्ययम् विशेष· ।
- ध्वन्यालोक, द्वि०उ०, पृ० 1149

3- 'अभिप्रायावन् योऽपाठधर्म. काकुः स कथमलङ्कारी स्यात्' इति यायावरीयः ।
- काव्यमीमांसा, पृ० 78

के अनन्तर वामन और आनन्दवर्द्धन रीति तथा ध्वनि की सस्थापना में दत्तचित्त रहे अतः उनकी दृष्टि इन्हीं काव्यतत्वों के प्रचार, प्रसार एव सैद्धान्तिक व्याख्यान मे लगी रहीं, परन्तु आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को उसकी खोई हुयी प्रतिष्ठा पुन· लौटाई और उसे सर्वतन्त्रस्वतन्त्र सम्प्रदाय के रूप मे पुन· स्थापित करने का यत्न किया ।

कुन्तक के समकालिक आचार्य

आचार्य कुन्तक से पूर्व काव्यशास्त्र में रस और अलङ्कार सम्प्रदाय पूर्णतः प्रतिष्ठित हो चुके थे । यदि आचार्य भरत का रससूत्र (विभावानुभावव्यभिचारीसंयोगाद्रसनिष्पत्ति.) रस-सम्प्रदाय की आधारशिला था, तो आचार्य दण्डी की निम्नलिखित मान्यता अलङ्कार-सम्प्रदाय की व्यापकता का मूल थी।[1]

अर्थात आगमान्तर मे जिन्हे सन्ध्यङ्ग, वृत्यङ्ग तथा लक्षण आदि नाम दिया गया है, वह सब हमें अलङ्कार के ही रूप मे मान्य हैं ।

परन्तु रस और अलङ्कार सम्प्रदाय की यह सारी मान्यताएँ नवीं शताब्दी के आचार्य आनन्दवर्द्धन द्वारा प्रतिष्ठित ध्वनि-सम्प्रदाय के समक्ष ढह गयीं । प्रतीयमानार्थ की सहज संवेद्य महिमा और गरिमा की स्थापना करके तथा रसध्वनि एवं अलङ्कार ध्वनि के माध्यम से रस और अलङ्कार को भी ध्वन्यर्थक का ही अग सिद्ध करके आचार्य आनन्दवर्द्धन ने दोनों प्राचीन सम्प्रदायों को निर्मूल तथा अनपेक्षित सिद्ध कर दिया । रीति-सम्प्रदाय का तो उन्होंने सौ शब्द्य का ही पर्याय माना। ध्वनि-सम्प्रदाय की सर्वाभिभावी विश्वसनीयता एवं व्यापक समर्थन ने किसी भी अन्य काव्यतत्त्व के प्रख्यापन की सम्भावना पर ही प्रश्न चिन्ह लगा दिया ।

1- यच्च सन्ध्यङ्ग वृत्यङ्ग लक्षणाद्यागमान्तरे
व्यावर्णितमिदं चेष्टं अलङ्कारतैरेव नः ।
- काव्यादर्श 2/367

परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि ध्वनि का विरोध हुआ ही नहीं । 10वीं और 11वीं शती में अनेक ऐसे प्रतिभाशाली आचार्य भारत में उत्पन्न हुये, जिन्होंने व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता तो क्या उसके अस्तित्व पर ही प्रश्न चिन्ह लगा दिया । ऐसे आचार्यों मे एक तो थे अनुमितावादी व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट और दूसरे थे 'वक्रोक्तिजीवितम्' के स्वनामधन्य लेखक आचार्य कुन्तक ।

आचार्य कुन्तक न भामह द्वारा प्रतिष्ठित प्रातिभ कविता के मूलबीज वक्रोक्ति का नये सिरे से मूल्यॉकन किया । उन्होंने वामन और रूद्रट द्वारा अवमूल्यित वक्रोक्ति को न केवल व्यापकता दी बल्कि उसे काव्यात्मा के पद पर भी प्रतिष्ठित किया । यद्यपि आनन्दवर्द्धन कुन्तक के पूर्ववर्ती थे तथापि ध्वनि को ही काव्यात्मा मानते हुये उन्होंने वक्रोक्ति के महत्व को स्वीकार किया और उनके टीकाकार अभिनवगुप्त ने भी वक्रोक्ति को समस्त अलङ्कार का अनुप्राणतत्त्व मानकर कुन्तक के ही मत का समर्थन किया ।

सुप्रतिष्ठित ध्वनि-सिद्धान्त के विरूद्ध वक्रोक्ति को काव्यात्मा के रूप में प्रतिष्ठित करने का आचार्य कुन्तक का प्रयत्न निश्चय ही बहुत कठिन था, परन्तु अपनी हृदयावर्जक प्रतिपादन शैली तथा विश्वसनीय तर्कों द्वारा आचार्य कुन्तक न केवल अपने युग के विद्वत् समाज को चमत्कृत कर दिया बल्कि आने वाली पीढी को भी उन्होंने बेहद प्रभावित किया । महिमभट्ट ने तो ध्वनि का अन्तर्भाव अनुमान में करके अपने सम्पूर्ण प्रयास को आनन्दवर्द्धन के विरोध मे ही खपा दिया है । उनकी सारी प्रतिभा, श्रय और अध्यवसाय ध्वनि-विरोध में ही क्षीण हो गयी । फलत· व्यक्तिविवेक एक संकीर्ण विचारधारा का ग्रन्थ बन गया ।

परन्तु आचार्य कुन्तक ऐसे संकीण मनो-विचार के नहीं थे । ध्वनि-सिद्धान्त उन्हें भी प्रिय नहीं था । परन्तु उन्होंने अपनी प्रतिभा ध्वनि के विरोध मे नहीं खर्च की । बल्कि उन्होंने समूचे काव्यशास्त्र को एक नये परिप्रेक्ष्य में देखा । काव्यलक्षण, काव्यहेतु, वक्रोक्ति की काव्यरूपता एवं

सर्वालङ्कारमयता - इन समस्त बिन्दुओं पर आचार्य कुन्तक ने अपने सर्वथा नवीन और क्रांतिकारी विचार प्रस्तुत किये । इस सन्दर्भ में कुछ तथ्य बड़े महत्वपूर्ण है । कुन्तक ने भी शब्दार्थ-समष्टि को ही काव्य माना, परन्तु ऐसी समष्टि जो कि अलङ्कार से युक्त हो । कुन्तक ने शब्द और अर्थ के अलङ्करण का हेतु एकमात्र वक्रोक्ति को ही स्वीकार किया । 'वक्रोक्तिजीवितम्' मे उन्होंने बड़ी स्पष्टता से लिखा कि प्रसिद्ध अमिधान का अतिक्रमण करने वाली, विचित्रता को जनम देने वाली उक्ति ही वक्रोक्ति है । यही वक्रोक्ति पण्डितों अथवा विदग्धों के द्वारा प्रयुक्त की जाती है। इसीलिये कुन्तक वक्रोक्ति को वैदग्धभङ्गीभणिति भी कहते हैं।[1]

आगे चलकर आचार्य ने कविव्यापार की इसी वक्रता को छ रूपों मे व्यवस्थित और व्याख्यूत किया । वर्ण, पदपूर्वार्द्ध, प्रत्यय, वाक्य, प्रकरण और प्रबन्ध । इस प्रकार आचार्य कुन्तक ने अपनी प्रतिभा और अध्यवसाय के बल पर वक्रोक्ति-सिद्धान्त को विपरीत वातावरण में स्थापित किया । भले ही ध्वनि-सम्प्रदाय की राष्ट्रव्यापी संस्थापना के कारण वक्रोक्ति सिद्धान्त का अधिक प्रचार, प्रसार वहीं हो सका, फिर भी आचार्य कुन्तक की अकुण्ठ शास्त्र प्रतिभा के समक्ष समस्त विद्वान नतमस्तक हुये ।

कुन्तक के समसामयिक अन्य आचार्यों में प्रमुख हैं - अभिनवगुप्त एवं भोज । अभिनवगुप्त ने तो भामह द्वारा वक्रोक्ति के पर्याय रूप में स्थापित अतिशयोक्ति को समस्त अलङ्कारों मे ध्वनन का मूल स्वीकार किया।[2]

1- 'लोकोत्तरचमत्कारकारिवैचित्र्यसिद्धये काव्यस्यायमलङ्कार कोऽप्यपूर्वो विधीयते'
'शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनिबन्धेव्यवस्थितौ काव्य तद्विदाह्लादकारिणि'
'उभावेतावलङ्कार्यौ तयोः पुनरलङ्कृति र्वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरूच्यते'
- वक्रोक्तिजीवितम् 1,2,7,10

2- अतिशयोक्तेश्च प्रायश्च सर्वालङ्कारेषु ध्वन्यमान्यत्वम् ।
-ध्वन्यालोक, द्वि0उ0, लोचनटीका पृ0 224

अन्य अनेक प्रसङ्गों मे भी अभिनवगुप्त वक्रोक्ति के महत्व को स्वीकार करते हैं । महाराज भोज ने भी काव्य की भाषा को लोकोत्तरव्यवहार और शास्त्र की भाषा से भिन्न मानते हुये वक्रोक्ति को ही काव्यत्व का निर्धारक माना है । उन्होंने स्पष्टतः कहा है।[1]

श्रृगारप्रकाश के ही ।।वें प्रकाश में महाराज भोज पुनः सारे अलङ्कारों को वक्रोक्ति रूप ही मानते हैं।[2]

महाराज भोज दूसरे प्रसङ्गों में भी वक्रोक्ति का प्रयोग करते हैं । जैसे - भामह वक्रोक्ति को काव्यानुप्राणत्व और अलङ्कार विशेष मानकर उसमें व्यापक और संकुचित दोनों ही रूपों की व्याख्या करते हैं । उसी प्रकार भोज भी वक्रोक्ति की सर्वालङ्कारमयता स्वीकारने के बाद भी उसे संकुचित अर्थ मे एक विशिष्ट अलङ्कार वर्ग भी मानते हैं।[3]

महाराज भोज वक्रोक्ति को एक अलङ्कार विशेष भी स्वीकार करते हैं । यह उनकी तीसरी द्रृष्टि है । वाकोवाक्य नामक एक नवीन शब्दालङ्कार को स्वीकारते हुये उसके 5 भेदों मे से वह वक्रोक्ति को भी एक भेद मानते हैं।[4]

1- यद् वक्र वचश्शास्त्रे लोके च वच एव तत् ।
वक्रं यदार्थवादादौ तस्य काव्यमिति स्मृतिः ।।

- श्रृङ्गारप्रकाश खण्ड-

2- अस्मिन् सति सर्वालङ्कारजातयो वक्रोक्त्यामिधान वाच्या. भवन्ति।

- श्रृङ्गारप्रकाश, पृ0 438

3- त्रिविध. खल्वलङ्कारवर्गः - वक्रोक्तिः, स्वभावोक्तिः,
रसोक्तिः इति तत्रोपमाद्यलङ्कारप्राधान्ये वक्रोक्तिः आदि ।

- सरस्वतीकण्ठाभरण 5/8

4- उक्ति. प्रत्युक्तिः वाकोवाक्यम् । सा षोढा - त्र्जूक्तिः, वक्रोक्तिः, वैयाव्योक्तिः,
गूढोक्ति., प्रश्नोतरोक्तिः, चित्रोक्तिः ।

- सरस्वतीकण्ठाभरण 2/132

भोज ने वक्रोक्ति के निर्व्यूढ तथा अनिर्व्यूढ भेदों की भी चर्चा की है । इस प्रकार हम देखते हैं कि कुन्तक के समकालीन आचार्य भी उनके दृष्टिकोण से न केवल भलीभाँति परिचित थे, बल्कि कुछ बिन्दुओं पर उनके महान समर्थक भी थे ।

कुन्तक के परवर्ती आचार्य

जैसा कि पहले सङ्केत किया जा चुका है आचार्य कुन्तक के महान अध्यवसाय के बावजूद भी वक्रोक्ति सिद्धान्त ध्वनि जैसी लोकप्रियता और स्थाई अनुमोदन नहीं प्राप्त कर सका । परवर्ती युग मे वाग्देवतावतार आचार्य मम्मट द्वारा ध्वनि की नये सिरे से प्रतिष्ठा किये जाने पर वक्रोक्ति सिद्धान्त की महनीयता क्षीण होने लगी और धीरे-धीरे वह पुन एक अलङ्कार विशेष बनकर रह गयी । कुन्तक के अधिकाश परवर्ती आचार्य या तो ध्वनि की तुलना मे वक्रोक्ति सिद्धान्त को देय मानते थे या फिर ध्वनि के साथ-साथ वक्रोक्ति का भी विरोध करते थे क्योंकि ध्वनि विरोधी आचार्यों की दृष्टि मे वक्रोक्ति ध्वनि का ही पर्यायभूत थी ।

ध्वनिकार के प्रचण्ड विरोधी महिमभट्ट ने ध्वनि के साथ ही साथ वक्रोक्तिवाद का भी खण्डन किया । महिम ने वक्रोक्ति को औचित्य अथवा ध्वनि का ही पर्याय माना, वह इसलिये कि शब्द और अर्थ का औचित्य ही काव्यरूपता का प्रयोजक है । आचार्य कुन्तक भी वक्रोक्ति को ही काव्यरूपता का प्रयोजक मानते हैं । आचार्य आनन्दवर्द्धन भी ध्वनि को काव्यरूपता का प्रयोजक मानते थे । इस प्रकार महिम की दृष्टि में औचित्य, ध्वनि और वक्रोक्ति काव्यरूपता का प्रयोजक होने के कारण एक ही है । अनुमितवादी महिमभट्ट को इसी कारण वक्रोक्ति का विरोध करना पड़ा क्योंकि वह ध्वनिवादी तथा वक्रोक्तिवादी आचार्यों की तरह वक्रोक्ति को शब्दार्थ व्यापार मानने में अरुचि रखते थे। उनकी दृष्टि में तो अभिधा के अतिरिक्त-कोई शब्दार्थ व्यापार होता ही नहीं अभिधा के अतिरिक्त यदि

अर्थान्तर की प्रतीति के लिये कोई व्यापार सम्भव है तो वह अनुमान ही हो सकता है । इस प्रकार आचार्य महिमभट्ट प्रतीयमान अर्थ की ही भाँति अनुमान के ही अन्तर्गत रखते है।[1]

कुन्तक के परवर्ती आचार्यों में प्रमुख हैं - काव्यप्रकाशकार मम्मट, जिन्होंने रूद्रट के ही समान वक्रोक्ति के प्रति अत्यन्त संकुचित दृष्टि अपनाई है । उन्होंने भी वक्रोक्ति को शब्दालङ्कार मानते हुये उसके दो भेदों की चर्चा की है - श्लेष वक्रोक्ति तथा काकु वक्रोक्ति । श्लेष वक्रोक्ति को भी मम्मट अभङ्ग तथा समङ्ग श्लेष में भी विभक्त करते हैं।[2]

बारहवीं शती में उत्पन्न 'अलङ्कारसर्वस्व' के लेखक आचार्य रूय्यक भी यद्यपि मम्मट की ही तरह वक्रोक्ति को अलङ्कार मानते हैं, परन्तु शब्द का नहीं बल्कि अर्थ का । परन्तु एक विशेष बात यह है कि रूय्यक वक्रोक्ति की व्यापकता के प्रति अपने समर्थन का भी सङ्केत यह कहकर करते है कि 'उपचार वक्रता के बहाने कुन्तक के सम्पूर्ण ध्वनि-प्रपञ्च को स्वीकार कर लिया है।'[3]

वाग्भटालङ्कार के लेखक वाग्भट्ट ने भी वक्रोक्ति को शब्दालङ्कार ही माना है । परन्तु वह उसके काकुपरक भेद को मान्यता नहीं देते।[4]

1- अत्रोच्यतेमिधासञ्ज्ञ शब्दस्यार्थप्रकाशने।
व्यापाराकएवेष्टोयस्त्वन्योऽर्थस्य सोऽखिलः।।
अभेदे बहुता न स्यादुक्तेर्मार्गान्तराग्रहात्।
तेन ध्वनिवदेशापि वक्रोक्तिरनुमान किम्।।
- हिन्दी व्यक्तिविवेक 1/73

2- यदुक्तमन्यथावाक्यमन्यथान्येनयोज्यते।
श्लेषण काक्वा वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथाद्विधा।।
- काव्यप्रकाश 9/78

3- उपचारवक्रतादिभिः समस्तो ध्वनिप्रपञ्चो स्वीकृतः'
- अलङ्कारसर्वस्व, पृ0 10

4- प्रस्तुतादपरं वाचामुपादायोतपरप्रदः।
भङ्गश्लेषमुखेनाह यत्र वक्रोक्तिरेव सा।।
- वाग्भटालङ्कार 1/14

राजशेश्वर और हेमचन्द्र ने भी वक्रोक्ति को काकु से सर्वथा पृथक माना है । ये दोनों ही आचार्य वक्रोक्ति को शब्दालङ्कार और काकु वक्रोक्ति को पाठधर्म मात्र स्वीकार करते हैं। [1]

चन्द्रालोककार आचार्य जयदेव भी मम्मट के ही समान वक्रोक्ति के काकु और श्लेष भेदों को स्वीकार करते है, परन्तु उन्होंने भी वक्रोक्ति को अर्थ का ही अलकरण माना। [2]

परवर्ती युग के अन्य आचार्यगण प्राय वक्रोक्ति को अलङ्कार मात्र ही मानते हैं । यदि मान्यता मे भेद है तो केवल इतना ही कि कोई उसे शब्दालङ्कार मानता है, तो कोई अर्थालङ्कार। कोई उसके श्लेष और काकु दोनों भेदों को, तो कोई काकु वक्रोक्ति को अलङ्कार रूप वक्रोक्ति से सर्वथा पृथक मानता है । निष्कर्ष यह है कि वक्रोक्ति तत्व बीज से वृक्ष बनकर अन्तत पुन बीज रूपता को ही प्राप्त हो गया । परन्तु वक्रोक्ति के पक्ष में सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि प्राय. समस्त काव्य सम्प्रदाय के लोगों ने उसे अपने ही सम्प्रदाय में समाहित करने का यत्न किया। भामह, दण्डी ने सारे अलङ्कारों के मूल मे वक्रोक्ति को ही माना, तो ध्वनिवादी आनन्दवर्द्धन ने भी वक्रोक्ति को व्यङ्ग्यार्थ का सहकृत स्वीकार किया और यही वक्रोक्ति औचित्य का भी अनुप्राणक सिद्ध हुयी ।

कुन्तक का वक्रोक्ति-सिद्धान्त

जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, सस्कृत मे काव्यशास्त्रीय परम्परा का उदय आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र स हुआ । परन्तु यह आश्चर्य की बात है कि जहाँ उन्होंने रस, अलङ्कार, गुण और प्रवृत्ति जैसे काव्यशास्त्रीय तत्वों का तलस्पर्शी विवेचन प्रस्तुत किया, वहीं काव्यलक्षण के विषय में

1- काकुवक्रोक्तिस्त्वलङ्कारत्वेन न वाच्या ।
पाठधर्मत्वात् गुणीभूतव्यङ्ग्यप्रभेदश्चार्या।।
- काव्यानुशासन, पृ0 333

2- वक्रोक्तिः श्लेषकाकुभ्यां वा वाच्यार्थकल्पनम् ।
- चन्द्रालोक, पृ0 5।।

वह सर्वथा मौन है । सच तो यह है कि काव्य के स्वरूप पर सर्वप्रथम प्रकाश डालने वाले आचार्य काव्यालङ्कार के लेखक भामह हैं । भामह ने सर्वप्रथम बताया कि शब्द और अर्थ का साहित्य ही काव्य है । - 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'। भामह की यही काव्य परिभाषा परवर्ती युग में भी संशोधित और परिमार्जित होती रही । इस काव्यलक्षण को अतिव्याप्ति और अव्याप्ति के दोषों से मुक्त करने के लिये ही दण्डी, वामन, उद्भट और रूद्रट आदि आचार्यों ने प्रयत्न किये। परन्तु यह काव्यलक्षण निर्दोष और साङ्गोपाङ्ग तब हुआ, जब काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट ने यह लिखा कि निर्दोष, गुणयुक्त और यथासम्भव सालङ्कार शब्दार्थ-समष्टि को ही काव्य कहते हैं ।

परन्तु आचार्य मम्मट के उपर्युक्त काव्यलक्षण की आधारशिला वक्रोक्तिजीवितकार आचार्य कुन्तक ने ही रखी । कुन्तक प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने कि साधारण शब्दार्थ समष्टि को काव्य मानने से इन्कार कर दिया । उन्होंने बड़ी स्पष्टता से कहा कि वक्रता से परिपूर्ण काव्य-व्यापार वाले चमत्कारी अर्थ में ही काव्यत्व नहीं होता है, बल्कि इन गुणों से युक्त शब्द और अर्थ दोनों की समष्टि में ही काव्यता होती है क्योंकि शब्द और अर्थ दोनों ही काव्यार्थ का मर्म समझने वाले सहृदयों को सामन्जस्य भाव से आह्लाद प्रदान करते है।[1] अर्थात् जैसे प्रत्येक तिल मे तेल होता है, किसी एक में नहीं । ठीक उसी प्रकार सहृदयाह्लादकारित्व शब्द और अर्थ दोनों मे ही होता है। इस व्याख्या के अनन्तर ही कुन्तक अपना काव्यलक्षण प्रस्तुत करते हैं।[2]

इस काव्यलक्षण में 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' कहकर आचार्य कुन्तक ने काव्यलक्षण की भामह सम्मत प्राचीन परम्परा का ही समर्थन किया है। अर्थात् कुन्तक भी अकेले शब्द या अर्थ को काव्य न मानकर दोनों की समष्टि को ही काव्य मानते हैं ।

1- तस्माद् द्वयोरपि प्रतिलमिव तैलं तद्विदाह्लादकारित्वं वर्तते न पुनरेकस्मिन्।
- व0 जी0, पृ0 18

2- शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि ।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि ।।
- व0जी0 1/7

'बन्धे व्यवस्थितौ' का तात्पर्य है कि वाक्य-विन्यास में व्यवस्थित । यह वाक्य-विन्यास वक्रकविव्यापारशाली और सहृदयाह्लादकारी होना चाहिये और ऐसा तभी होगा जब उस वाक्य विन्यास में गुणों एवं अलङ्कारों का सन्निवेश हो । आचार्य कुन्तक के इसी तथ्य को मम्मट ने अपने काव्यलक्षण में 'सगुणावनालङ्कृती पुन: क्वापि' शब्दावली के माध्यम से उपन्यस्त किया है। आचार्य कुन्तक कहते हैं। [1] आचार्य कुन्तक काव्य-स्वरूप को थोड़ा और स्पष्ट करते हुये कहते है। [2]

काव्य-स्वरूप को और सुस्पष्ट करते हुये आचार्य कुन्तक उसे दो भागों में विभक्त करते हैं - अलङ्कार और अलङ्कार्य। शब्द और अर्थ ही अलङ्कार्य हैं और वक्रोक्ति ही इनका एकमात्र अलङ्कार है। यह वक्रता ६ प्रकार की होती है [3] परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि अलङ्कार अलङ्कार्यभूत शब्दार्थ से कोई भिन्न तत्व है । वस्तुतः यह विभाजन औपचारिक मात्र है । सच तो यह है कि अलङ्कार से युक्त शब्दार्थ की ही काव्यता होती है । इस प्रकार कुन्तक वक्रोक्ति मण्डित शब्दार्थ समष्टि में ही काव्यता मानते हैं ।

अब प्रश्न यह है कि कुन्तक की दृष्टि में काव्य के संघटक अलङ्कार्य (शब्द एवं अर्थ) तथा अलङ्कार का स्वरूप क्या है ?

प्राचीन आचार्यों की तरह कुन्तक भी अर्थ को वाच्य और शब्द को वाचक स्वीकार करते हैं । परन्तु कविता में प्रयुक्त शब्द और अर्थ का स्वरूप ही कुछ और होता है। वस्तुतः काव्य मे शब्द भी

1- बन्धो वाक्यविन्यास: तत्र व्यवस्थितौ ।
विशेषण लावण्यादिगुणालङ्कार शोभिना सन्निवेशेन कृतावस्थानौ ।।
- व0 जी0 पृ0 29

2- वक्रो योडसौ शास्त्रादि प्रसिद्धशब्दार्थोपनिबन्धव्यतिरेकी षट्प्रकारवक्रताविशिष्टः कविव्यापारस्तत्क्रियाक्रमस्तेन शालते श्लाघते यस्मिन् तस्मिन् ।
- व0 जी0, पृ0 36

3- उभावेतावलङ्कार्यौ तयोः पुनरलङ्कृतिः ।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गिभिणितिरूच्यते ।।
- व0 जी0 1/10

विशिष्ट कोटि का होता है और अर्थ भी । कुन्तक कहते है।[1] इस मन्तव्य के अनन्तर कुन्तक यह भी बताते है कि काव्य में प्रयुक्त शब्द और अर्थ को कैसा होना चाहिये ? उनकी दृष्टि मे शब्द को ऐसा होना चाहिये जो कि अन्यान्य पर्यायों के रहते हुये भी कवि के विवक्षितार्थ का एकमात्र वाचक हो। एक मात्र वाचक होने का तात्पर्य यह है कि उस शब्द को हटा देने पर विवक्षितार्थ की प्रतीति ही असम्भव हो जाय ।

कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' मे शकुन्तला को भयभीत करते हुये भ्रमर के लिये षट्पद शब्द का प्रयोग कालिदास करते है । यद्यपि भ्रमर के अनेक ऐसे पर्याय है जो षट्पद के स्थान पर प्रयुक्त हो सकत है । जैसे - रोदर , भृङ्गक आदि। परन्तु उन शब्दों में यह क्षमता ही नहीं है कि वह कवि के विवक्षितार्थ की प्रतीति करा सके । षट्पद का अर्थ है छ पैरों वाला जीव । यह शब्द स्वयमेव एक विचित्र अटपटे तथा घृष्ट व्यक्तित्व को सङ्केतित करता है । दो पैर तथा चार पैर के जीव तो ससार में बहुतेरे है, परन्तु छ· पैरों के तो जीव की सृष्टि ही विचित्र है । जिस प्राणी की शरीर संरचना ही इतनी विचित्र, बीहड़ हो, वह उद्दंड, घृष्ट और अविनयशील न होगा तो क्या होगा? सम्भवतः षट्पद के प्रयोग से कालिदास को यह ही अर्थ अभीष्ट रहा होगा जिसे कोई अन्य पर्याय नहीं दे सकता । ऐसे ही विलक्षण शब्द को आचार्य कुन्तक काव्य में प्रयुक्त विशिष्ट शब्द मानते हैं।

शब्द की ही तरह काव्यार्थ भी विशिष्ट कोटि का ही होना चाहिये । कुन्तक की दृष्टि से उस अर्थ को सहृदयों को आह्लादित करने वाले सामर्थ्य के कारण चमत्कार होना चाहिये। यहाँ आचार्य कुन्तक वही बात कह रहे है, जिसका समर्थन परवर्ती युग मे आचार्य मम्मट ने 'लोकोत्तरवर्णना' कहकर

1- वाच्योऽर्थो वाचकः शब्दः प्रसिद्धमिति यद्यपि ।
तथापि काव्यमार्गेषु परमार्थोऽयमेतयोः ।।

- व0 जी0 1/8

यह परस्परस्पर्धित्व केवल कविता मे प्रयुक्त शब्द और अर्थ के बीच ही नहीं होना चाहिये, बल्कि शब्द का और शब्दान्तर के साथ और अर्थ का अर्थान्तर के साथ स्पर्धित्व होना आवश्यक है। ऐसा होने पर ही तो विवक्षितार्थ की प्रतीति हो सकेगी अथवा अर्थ मे सहृदयाह्लादकारित्व आ सकेगा।[1]

जैसा कि काव्यस्वरूप के सन्दर्भ में बताया गया है कि कुन्तक विशिष्ट कोटि की शब्दार्थ समष्टि को ही काव्य मानते हैं । ऐसी शब्दार्थ समष्टि जिसमें रमणीयता हो और जो सहृदयाह्लादकारी हो। आचार्य कुन्तक यह भी कहते हैं कि काव्य की यह दोनों ही विशेषताये कविव्यापारवक्रता पर ही आश्रित हैं, इसलिये वक्रोक्ति ही काव्य का अलङ्कार सिद्ध होती है ।

यह वक्रोक्ति क्या है? कुन्तक के व्याख्यानों को पढा ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी दृष्टि में वक्रोक्ति के अनेक वैशिष्ट्य है । उसका पहला वैशिष्ट्य यह है कि उसमें सहृदयों को आह्लादित करने की क्षमता है । दूसरा वैशिष्ट्य यह है कि वक्रोक्ति कवि प्रतिभा की देन है । तीसरा यह है कि वह पूर्व कवियों द्वारा प्रयुक्त अभिधान का अतिक्रमण करती है । अर्थात उनकी तुलना में कहीं अधिक सौन्दर्य उत्पन्न करती है और अंतिम वैशिष्ट्य यह है कि वक्रोक्ति एक विचित्र अभिधा है।

1- तस्यां स्पर्धित्वेन याऽसावस्थितिः परस्परसाम्य-
सुभगमवस्थानं सा साहित्यमुच्यते ।

- व0 जी0, पृ0 61

2- सहितावित्यत्रापि यथायुक्ति स्वजातियापेक्षया शब्दस्य शब्दान्तरेण
वाच्यस्य वाच्यान्तरेण च साहित्यं परस्परस्पर्धित्वल-
क्षणमेव विवक्षितम् ।

- व0 जी0, पृ0 29

आचार्य कुन्तक सम्मत वक्रोक्ति की उपर्युक्त विशेषताओं को समझने के लिये बड़े धैर्य और संयम की आवश्यकता है । यद्यपि कुन्तक भी शब्दार्थ-बोध के लिये अभिधा को ही स्वीकार करते हैं, परन्तु आचार्य महिमभट्ट की ही तरह उनका अभिधा सम्बन्धी दृष्टिकोण सर्वथा विलक्षण है । अन्य आचार्यगण तो सङ्केतार्थ के लिये अभिधा, गौण-अर्थ-बोध के लिये लक्षणा और वक्तृबोधकादि वैशिष्ट्य से युक्त व्यङ्ग्यार्थ के लिये व्यञ्जना शक्ति को प्रमाण मानते हैं । परन्तु आचार्य कुन्तक 'विचित्र अभिधा' की परिकल्पना करते हुये लक्षणा और व्यञ्जना को भी उसी में अन्तर्भूत कर देते हैं । उनका कथन यह है कि शब्द चाहे लक्षक हो अथवा व्यञ्जक लेकिन उनका धर्म है - अर्थ को प्रतीति कराना । चाहे वह अर्थ किसी भी प्रकार का क्यों न हो । इसलिये अर्थबोधरूपी धर्म की समानता होने के कारण लक्षक और व्यञ्जक शब्द भी वाचक ही होते हैं । ठीक इसी प्रकार लक्ष्य और व्यङ्ग्य अर्थ भी बोध्यत्व रूप धर्म की समानता के कारण वाच्य ही होते हैं । ऐसी स्थिति में शब्द एवं अर्थ के बीच वाचक और वाच्य का ही सम्बन्ध घटित होता है, कोई और सम्बन्ध नहीं।[1]

इस प्रकार आचार्य कुन्तक एक अद्भुत अभिधावादी चिन्तक सिद्ध होते हैं । परन्तु यह नहीं समझना चाहिये कि कुन्तक लक्षणा और व्यञ्जना का तिरस्कार करते हैं। वस्तुतः वे लक्षणा और व्यञ्जना को स्वीकार करते हुये भी उन्हें विचित्राभिधा के ही अन्तर्गत रखना पसन्द करते हैं । उनकी दृष्टि में उनकी विचित्र अभिधा लक्षणा से मैत्री तो रखती है, परन्तु वह उस पर सर्वात्मा आश्रित नहीं है। लक्षणा के लिये वह उपचार शब्द का प्रयोग करते हैं - 'उपचरणमुपचारः' ।

1- यस्मादर्थप्रतीतिकारित्वसामान्यादुपचारानपि वाचकावेव ।
एवे द्योत्यव्यङ्ग्ययोरर्थयोः प्रत्येयत्वसामान्यादुपचारात् वाच्यत्वमेव ।।

- व0 जी0, पृ0 37

उपचरण क्या है ? साथ-साथ गमन । इस गमन प्रक्रिया में जिसके साथ गमन किया जाता है वह प्रधान और जो गमन करता है वह गौण कहा जाता है । ठीक इसी प्रकार शब्द का साक्षात् सङ्केतित अर्थ ही प्रधान अथवा मुख्यार्थ होता है, परन्तु उस मुख्यार्थ पर आश्रित रहने वाला अथवा साथ-साथ चलने वाला गौण अर्थ कहा जाता है । उसी का नाम है - उपचार । उदाहरण के लिये 'गङ्गायां घोषः' मे मुख्यार्थ तो है गङ्गा की धारा में गाँव का होना, परन्तु उसका उपचारार्थ है - गङ्गा के तट पर गाँव का होना । इस उदाहरण में स्पष्टतः दूसरा अर्थ 'गंगातट' प्रथम अथवा मुख्यार्थ (गंगा की धारा) पर आधारित है।[1] यह मत साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ का है।

प्रसिद्ध अभिधान अथवा प्रसिद्ध प्रस्थान का तात्पर्य लोक और शास्त्र में प्रचलित शब्दार्थ का प्रयोग । इस तथ्य को आचार्य कुन्तक अनेक बार स्पष्ट करते हैं।[2]

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य कुन्तक जिस वक्रोक्ति को विचित्र अभिधारूपा मानते हैं, वह लोकभाषा और शास्त्रभाषा दोनों का अतिक्रमण करने वाली है । वस्तुतः कुन्तक की दृष्टि में सहृदयाह्लादकारित्व ही कविता की कसौटी है ।

लोकभाषा के शब्द और अर्थ अत्यन्त साधारण अश्लीलता से भरे होते हैं । इसी प्रकार शास्त्र-भाषा के भी शब्द और अर्थ अपनी जटिलता और नीरस उपदेशात्मकता के कारण कष्टकर

1- उपचारो हि नामात्यन्तं विशकलितयोः शब्दयोः
सादृश्यातिशयमहिम्ना भेदप्रतीतिस्थगनमात्रम्।
- साहित्यदर्पण

2- 'वक्रो योऽसौ शास्त्रादिप्रसिद्धव्यवहारव्यतिरेकिणः'
वा
'वक्राः प्रसिद्धव्यवहारव्यतिरेकिणः'
वा
'अतिक्रान्तप्रसिद्धव्यवहारसरणिः'
- व0 जी0

प्रतीत होते हैं। फलतः इन दोनों ही भाषाओं के शब्द और अर्थ सहृदयों का आह्लादन करने की क्षमता नहीं रखते । इसीलिये आचार्य कुन्तक काव्य की भाषा को इन गुणों से सर्वथा विलक्षण और अपूर्व स्वीकार करते हैं । चूंकि यह विलक्षणता या अपूर्वता एकमात्र वक्रोक्ति के ही माध्यम से आती है इसीलिये कुन्तक की दृष्टि में वह प्रसिद्ध प्रस्थान की व्यतिरेकिणी है । कुन्तक के पूर्ववर्ती तथा परवर्ती आचार्यों ने भी यद्यपि काव्यभाषा को शास्त्र भाषा से पृथक माना है, परन्तु इस सन्दर्भ में सर्वोत्तम व्याख्यान ध्वनिकार आचार्य आनन्दवर्द्धन का है, जिन्होंने वक्रोक्ति का नाम न लेकर कवि-प्रतिभा की बात की है । और कहा है कि कवि की प्रतिभा से ही वाणी में अनन्तता आ जाती है । प्रतिभा और रस के परिग्रह से साधारण शब्दार्थ में भी वैसे ही वैलक्षण्य आ जाता है जैसे - बसन्त के आगमन से वन के वृक्षों में हरीतिमा आ जाती है । इतना ही नहीं प्रतीयमानार्थ का ज्ञान व्याकरण और कोश से नहीं सम्भव है । उसका बोध तो केवल काव्यार्थ के मर्म को समझने वाले सहृदय ही कर पाते हैं। [1]

1- दृष्टिपूर्वापिर्यथा सर्वेरसपरिग्रहात् सर्वे नवा इव भान्ति मधुमास इवाद्रुमा :
शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैवनिवेद्यते वेद्यते सतु काव्यार्थ तत्वज्ञैरेव केवलम् ।।

वक्रोक्ति भेद

कुन्तक ने वक्रोक्ति को शब्दार्थ रूप अलङ्कार्य का एकमात्र अलङ्कार स्वीकार करके, वस्तुतः वक्रोक्ति को कविकर्म कौशल पर आश्रित काव्य सौन्दर्य का पर्याय माना है । काव्य सौन्दर्य काव्य के किसी एक अङ्ग के द्वारा नहीं सम्भव नहीं होता है । समस्त अङ्गों के सौन्दर्य की समष्टि ही काव्य है । इसी कारण कुन्तक ने सूक्ष्मतम अङ्ग 'वर्ण-विन्यास' से लेकर काव्य के स्थूलतम अङ्ग प्रबन्ध कल्पना तक के विस्तृत क्षेत्र को 'वक्रोक्ति' में अन्तर्भूत कर लिया है। वक्रता-विशिष्ट-कविव्यापार की व्याख्या करते हुये कुन्तक ने वक्रता अथवा वक्रोक्ति के मूलतः छः भेद किये हैं - वर्णविन्यासवक्रता, पद-पूर्वार्ध वक्रता, पदपरार्ध वक्रता अथवा प्रत्यय वक्रता, वाक्य-वक्रता, प्रकरण वक्रता और प्रबन्ध वक्रता।[1] इन छः भेदों के भी वैचित्र्य से सुशोभित अनेक अवान्तर भेद हो सकते हैं।[2]

वर्ण विन्यास-वक्रता

वर्ण भाषा का स्वरूपाधायक ही नहीं, भावों के समर्थ वाहक भी हैं । इसी कारण, महाकवि की यह विशेषता मानी जाती है कि वह वर्ण-विन्यास की समस्त सम्भावनाओं को भावोत्कर्ष के लिये नियोजित कर दे । वर्ण-विन्यास-प्रवण कविकाव्य में सहज ही सङ्गीतात्मकता उत्पन्न कर देता है । कुन्तक के अनुसार सहृदयाह्लादकारी तथा साधारण से भिन्न वर्णों की संयोजना

1- व० जी० 1/19-21

2- व० जी० 1/18

वर्ण-विन्यास-वक्रता कहलाती है।[1] कुन्तक की वर्ण-विन्यास का मुख्य आधार है -व्यञ्जनों की आवृत्ति।[2] यह आवृत्ति दो प्रकार की हो सकती है - जिसमें वर्णों की आवृत्ति का स्थान नियत न हो तथा जिसमें वर्णों की आवृत्ति का स्थान नियत हो । इसी आधार पर कुन्तक ने वर्ण-विन्यास वक्रता के दो भेद किये हैं[3] प्रथम को उन्होंने अनुप्रास[4] और द्वितीय को यमक[4] का पर्याय बताया है ।

अनियतस्थानावृत्तिरूप वर्ण विन्यास वक्रता

यह तीन प्रकार की होती है -

1- वर्णनां विन्यासो वर्णविन्यासः। अक्षराणां विशिष्टन्यसनं तस्य त्वं वक्रभावः प्रसिद्धप्रस्थानातिरेकिणा वैचित्र्येणोपनिबन्ध.। सन्निवेशनिशेषविहितस्तद्विदाह्लादकारी शब्दशोभातिशयः।

- वही, पृ0 65

2- वर्णशब्दोऽत्र व्यञ्जनपर्यायः ---- ।

- व0 जी0 पृ0 170

3- येयं वर्णविन्यासवक्रता नाम वाचकालङ्कृतिः स्थाननियमाभावात् सकलवाक्यस्य विषयत्वेन समाम्नाता सैव प्रकारान्तरविशिष्टानियतस्थानतयोपनिबध्यमानाकिमापि वैचित्र्यान्तरम बध्नातीत्याह,

- व0 जी0, पृ0 188-89

4- एतदेव वर्णन्यिासवक्रत्वं चिरन्तनेष्वनुप्रास इति प्रसिद्धम्

- व0 जी0, पृ0 66

5- यमकं नाम कोऽप्यस्याः प्रकारः परिदृश्यते ।

- वही, 2/7

प्रथम प्रकार

एक, दो अथवा अनेक वर्णो की स्वल्पान्तर से आवृत्ति। इसके भी तीन भेद होते हैं [1]

(क) एक वर्ण की अनेकधा आवृत्ति ।

(ख) दो वर्णों की अनेकधा आवृत्ति ।

(ग) अनेक वर्णो की अनेकधा आवृत्ति ।

द्वितीय प्रकार

इसके भी तीन भेद हैं - [2]

(क) अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण से युक्त स्पर्श-वर्ण की आवृत्ति ।

(ख) द्विरुक्त त, ल और न (त्त, ल्ल, और न्न) आदि की आवृत्ति ।

(ग) वर्गान्त युक्त स्पर्श वर्णों तथा दिरुक्त तकार, लकार नकार आदि से भिन्न शेष व्यञ्जन (य र ल व श ष स ह) की रेफ आदि से संयुक्त रूप से आवृत्ति ।

कुनतक की इन दोनों वक्रताओं की अनिवार्यता है - अनतिदूरआवृत्ति। [3] वस्तुतः वर्णों की आवृत्ति समीपस्थ रहने पर ही चमत्कारिणी होती है । कुन्तक के पूर्व दण्डी [4] और रूद्रट[5] ने भी अदूर आवृत्ति को ही अनुप्रास में स्वीकार किया है ।

1- एको द्वौ वहवो वर्णा बध्यमानाः पुनः पुनः।
स्वतपान्तरास्त्रिधा सोक्ता वर्णविन्यासवक्रता ।।
- वही, 2/1

2- वर्गान्तयोगिनः स्पर्शा द्विरुक्तास्त-द्व-नादयः।
शिष्टाश्च रादिसंयुक्ता प्रस्तुतौचित्यशोभिनः ।।
- व0 जी0 2/2

3- वही 2/1
स्वल्पन्तराः परिमितव्यवहिता इति सर्वेषामाभिसम्बन्धः ।
- वही, पृ0 175

4- पूर्वानुभवसंस्कारबोधिनी यद्यदूरता ।
- काव्यादर्श 1/55

5- ----- आवर्त्यते निरन्तरमथवा यदसावनुप्रासः -काव्यालङ्कार (रू0) 2/18

तृतीय प्रकार

प्रथम तथा द्वितीय प्रकारों में स्वल्पान्तर से वर्णों की आवृत्ति का विधान किया गया है, किन्तु कहीं-2 पर व्यवधान न होने पर भी स्वरों की विषमता होने पर समान वर्णों के ग्रथित होने से समान वर्णों के ग्रथित होने से रचना में मनोहरता आ जाती है । यही कुन्तक की तृतीय प्रकार की वर्ण-विन्यास वक्रता है।[1] कुन्तक ने व्यवधान रहने पर भी एक दो अथवा बहुत वर्णों की उसी क्रम से आवृति को इसी तृतीय वर्ण विन्यास वक्रता के अन्तर्गत माना है।[2] अतएव कहा जा सकता है व्यवधानरहित अथवा व्यवधानसहित एक, दो अथवा बहुत वर्णो की उसी वृति से आवृति कुन्तक की तृतीय प्रकार वर्ण-विन्यास-वक्रता है। सव्यवधाना और अव्यवधाना इन दोनों भेदों से युक्त इस वर्णविन्यासवक्रता से सुशोभित वाक्य-रचना उसी प्रकार सहृदयाह्लादकारिणी होती है, जिस प्रकार मोतियों के हार के मध्य अनुस्यूत मणिनिर्मित पदक रमणीय होते हैं।[3]

प्रथम तथा द्वितीय प्रकार से तृतीय प्रकार की केवल एक ही भिन्नता है कि तृतीय प्रकार में वर्णों की आवृति उसी क्रम में होती है । जबकि प्रथम और द्वितीय में वर्णों की आवृति उसी क्रम से नहीं होती है ।

1- क्वचिद्व्यवधानेऽपि मनोहारिनिबन्धना ।
सा स्वराणामसारूप्यात् परां पुष्णाति वक्रताम् ।।
- व0 जी0, 2/3

2- अपि शब्दात् क्वचित् व्यवधानेऽपि। - वही, पृ0 181

3- व0 जी0, पृ0 183

अनियतस्थानावृतिरूप वर्णविन्यासवक्रता से स्पष्ट रूप से उपर्युक्त तीन भेद ही कुन्तक ने स्वीकार किये हैं । यह माधुर्यादि गुणों से विशिष्ट सुकुमारादि मार्गोंकी अनुवर्तिनी है।[1] सुकुमारादि मार्गों में अनेक गुणों की विभिन्न स्थितियों का अनुकरण करने के कारण वर्णविन्यास वक्रता अपरिमित भेदों वाली होती है।[2]

वर्णविन्यासवक्रता तथा शब्दालङ्कारों की तुलनात्मक समीक्षा

अनियतस्थानावृतिरूप वर्णविन्यासवक्रता को कुन्तक ने अनुप्रास का पर्याय है।[3] क्योंकि प्रायः सभी आचार्यों ने स्वरों की असमानता होने पर भी व्यञ्जन की आवृति को अनुप्रास अलङ्कार कहा है।[4] कुन्तक के पूर्व अनुप्रास का विवेचन दो रूपों में पाया जाता है - भामह, वामन और दण्डी के द्वारा स्वतन्त्र रूप में तथा उद्भट, रूद्रट, भोज तथा अग्निपुराणकार के द्वारा वृतियों के सन्दर्भ में । उद्भट ने ग्राम्या, पुरूषा और उपनागरिका वृतियों में सरूपव्यञ्जन-विन्यास को अनुप्रास कहा है।[5] रूद्रट[6] तथा अग्निपुराणकार[7] के अनुसार अनुप्रास की 5 वृतियाँ हैं - मधुरा, प्रौढा, परूषा,

---

1- वर्णच्छायानुसारेण गुणमार्गानुवर्तिनी । - व0जी0 2/5

2- वही, पृ0 187-88

3- वही0 पृ0 66

4- काव्यालङ्कार (भा0) 2/5 काव्यालङ्कारसारसंग्रह 1/7 काव्यादर्श 1/55
काव्यालङ्कारसूत्र 4/1/8 काव्यालङ्कार (रू0) 1/18 सरस्वतीकण्ठाभरण 2/70
अग्निपुराण 343/1

5- काव्यालङ्कारसारसंग्रह, 1/7

6- मधुरा प्रौढा परूषा ललिता भद्रेति वृत्तयः पञ्च।
वर्णनां नानात्वादस्येति यथार्थनामफलाः ।। - काव्यालङ्कार (रू0) 2/19

7- पञ्चवृतयः। मधुरा ललिता प्रौढा भद्र परूषया सह। - अग्निपुराण 343/2

ललिता और भद्रा । अनुप्रास के ही प्रसङ्ग में भोज ने बारह वृतियाँ मानी है।[1] गम्भीरा, ओचस्विनी, प्रोढा, मधुरा, निष्ठुरा, श्लथा, कठोरा, कोमला, मिश्रा, परूषा, ललिता और अमिता । अनियस्थानावृतिरूप वर्णविन्यासवक्रता के प्रथम तथा द्वितीय भेदों के द्वारा कुन्तक के अनुप्रास के उक्त द्विविध विवेचन का अन्तर्भाव कर लिया है । प्रथम भेद भामह, दण्डी और वामन के मत का अनुकरण करता है और द्वितीय उद्भट, रूद्रट, भोज तथा अग्निपुराणकार के अनुप्रास विवेचन के सदृश हैं । कुन्तक ने स्वयं ही स्वीकार किया है कि 'प्राचीन आचार्यो ने वर्णविन्यासवक्रता को अपनी इच्छा से उपनागरिका आदि वृतियों की विचित्रता से संकलित करके प्रस्तुत किया है।'[2]

द्वितीय वर्णविन्यासवक्रता के द्वारा कुन्तक ने संस्कृत आचार्यों द्वारा प्रतिपादित वृत्ति का ही समाहार नहीं किया है, अपितु संघटना, मार्गऔर रीति के चिन्तन का भी समाहार करने का प्रयत्न किया है क्योंकि उद्भट की वृतियॉं, वामन की रीतियॉं, दण्डी और कुनतक की मार्ग तथा आनन्दवर्धन की संघटना प्राय. एक ही भाव को व्यक्त करती है।[3]

1- सरस्वतीकण्ठाभरण 2/84-86

2- वृतिवैचित्र्ययुक्तेति सैव प्रोक्ता चिरन्तनैः - व0 जी0, 2/5

3- केषाञ्चिदेता वैदर्भीप्रमुखो रीतियो मताः ।

- काव्यप्रकाश, 406

आनन्दवर्धन ने रीति को सङ्घटना इस नाम से अभिहित किया है । -ध्वन्यालोक, तारावती टीका, द्वि0 ख0 - पृ0 728

कुन्तक की तृतीय प्रकार की वर्णविन्यासवक्रता यमक अलङ्कार प्रतीत होती है । किन्तु, कुन्तक का मत है कि इसके लिये यमक का प्रयोग नहीं करना चाहिये, क्योंकि यमक पाद के आदि मध्य या अन्त में किसी नियत स्थान पर होता है।[1] कुन्तक की यमक सम्बन्धी यह धारणा अपने पूर्ववर्ती काव्याचार्यो के यमक विश्लेषण पर ही आधृत थी । कुन्तक के पूर्ववर्ती भामह, दण्डी, वामन और रूद्रट तथा उनके समकालिक भोज ने नियत स्थान पर ही वर्णसङ्‌घत की आवृति को यमक माना था।[2] किन्तु, कुन्तक की तृतीय वर्ण-विन्यासवक्रता में नियतस्थान की विवक्षा नहीं है । एक, दो अथवा द्वयधिक वर्णों की व्यवधानरहित या व्यवधान रहित उसी क्रम से आवृति छन्द में सर्वत्र हो सकती है, न कि केवल आदि, मध्य या अन्त में ही । इसी कारण कुन्तक ने इसे यमक का पर्याय न मानकर यमकाभास कहा है।[3]

कुन्तक की इस वर्णविन्यासवक्रता की यमक अलङ्कार से एक और भिन्नता है । जिसका उल्लेख कुन्तक ने नहीं किया है । कुन्तक के पूर्ववर्ती आचार्यों ने भिन्नार्थक वर्ण-समूह की

1- यमकव्यवहारोऽत्र न प्रवर्तते तस्य नियतस्थानतयाव्यवस्थानात् ।

- वही, पृ0 179

2- काव्यालङ्कार (भा0) 2/9 काव्यादर्श 3/1

काव्यालङ्कारसूत्र, 4/1/2 काव्यालङ्कार (रू0) 3/2

सरस्वतीकण्ठाभरण, 2/58-61

3- सोऽयमुभयप्रकारोऽपि वर्णविन्यासवक्रताविशिष्टवाक्यविन्यासो यमकाभासः सान्निवेशविशेषो ---।

- व0 जी0, पृ0 183

आवृत्ति को ही यमक कहा है[1]। निरर्थक वर्ण समूह की आवृत्ति को नहीं। किन्तु, कुन्तक की इस वर्णविन्यासवक्रता में इसका कोई प्रतिबन्ध नहीं है। आवृत्त वर्णसमूह सार्थक और निरर्थक दोनों ही हो सकते है। यदि हम कुन्तक के परवर्ती मम्मट[2] और विश्वनाथ[3] द्वारा प्रस्तुत यमक-परिभाषा से इस वर्णविन्यासवक्रता की तुलना करें, तो यह यमक के बहुत ही समीप प्रतीत होती है, क्योंकि मम्मट और विश्वनाथ ने सार्थक और निरर्थक दोनो प्रकार के वर्णसमूहों की आवृत्ति में यमक माना है।

इस प्रकार, कुन्तक की अनियतस्थानावृत्तिरूप वर्णविन्यासवक्रता के विस्तृत क्षेत्र में जहाँ एक ओर कुन्तक के पूर्ववर्ती आलङ्कारिकों द्वारा प्रतिपादित अनुप्रास के समस्त भेदों का अन्तर्भाव हो जाता है। वहीं परवर्ती आलङ्कारिकों द्वारा प्रतिपादित अनुप्रास के भेद (छेकानुप्रास, वृत्यानुप्रास, श्रुत्यनुप्रास, लाटानुप्रास आदि) इसके भेदों से भिन्न नहीं है।

अनियतस्थानावृत्तिरूप वर्णविन्यासवक्रता का नियमन

मर्यादित रूप से प्रयुक्त अनियतस्थानावृत्तिरूप वर्णविन्यासवक्रता ही अतीव सहृदय-

---

1- काव्यालङ्कार (भा0) 2/17
काव्यालङ्कारसूत्र 4/1/1 काव्यालङ्कार (रू0) 3/1

2- अर्थ सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः ।
यमकम् ।
-काव्यप्रकाश, 9/83

3- सत्यर्थे पृथगर्थायाः स्वरव्यञ्जनसंहतेः
क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते ।।
- साहित्यदर्पण 10/8

होती है। इसी कारण कुन्तक ने वर्णविन्यासवक्रता की सीमाओं उल्लेख किया है-

(क) कुन्तक ने काव्यवस्तु के औचित्य में ही व्यन्जन के सौन्दर्य की सार्थकता स्वीकार की है[1]। जहाँ वर्णविन्यास वस्तु के औचित्य के अनुरूप नहीं होता है, अपितु अलङ्कार पद्रर्शन की दृष्टि से किया जाता है। वहाँ वह प्रस्तुत के औचित्य को मलिन करने वाला होता है[2]।

(ख) वर्णविन्यासवक्रता अत्यन्त आग्रहपूर्वक विरचित नहीं होनी चाहिये[3], अपितु वर्णो की आवृत्ति स्वभावत. होनी चाहिये। प्रयत्नपूर्वक रचना करने पर प्रकरण के औचित्य की क्षति होने से शब्द और अर्थ का परस्पर-स्पर्धित्व रूप 'साहित्य' का अभाव हो जाता है[4]। वस्तुतः आन्नदवर्धन की अलङ्कार विषयक 'अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य'[5] की कल्पना कुन्तक को भी मान्य है।

(ग) वणविन्यासवक्रता में अपेशल वर्णो की अत्यधिक आवृत्ति नहीं होनी चाहिये[6]। श्रुति-कटु वर्णों की अत्यधिक आवृत्ति काव्यानन्दानुभूति में बाधक होती है।

1- ------------------ प्रस्तुतौचित्यशोभिनः ।।

-व0 जी0, 2/2

2- न पुनर्वर्णसावर्ण्यव्यसनितामात्रेणोपनिवद्धाः प्रस्तुतौचित्यम्लानकारिणः ।

-वही, पृ0 174

3- नातिनिर्बन्धविहिता नाप्यपेशलभूषिता ।
पूर्वावृत्तपरित्यागनूतनावर्तनोज्जवला ।।

-वही, 2/4

4- व्यसनितया प्रयत्नविरचने हि प्रस्तुतौचित्यपरिहाणेर्वाच्यवाचकयोः परस्परस्पर्धित्वलक्षण-साहित्य-विरहः पर्यवस्यति ।

- वही पृ0 184

5- रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत् ।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलङ्कारो ध्वनौ मतः ।।

- व0, 2/16

(घ) वर्णविन्यासवक्रता में पूर्व आवृत्त वर्णों का परित्याग करके नवीन वर्णो की अपवृत्ति करनी चाहिये। इससे एक ही वर्ण के प्रति कवि की व्यसनिता नहीं प्रतीत होती है तथा नये वर्णों की आवृत्ति से अपूर्व चमत्कार की सृष्टि होती है।

(ङ.) वर्णविन्यासवक्रता गुणों और मार्गो की अनुवर्तिनी होनी चाहिये। सुकुमारादि मार्गो में गुणों की जो विभिन्न स्थितियाँ स्वीकार की गयी है, उन्हीं के अनुरूप वर्णविन्यासवक्रता प्रसृत होनी चाहिये।[1] अन्यथा, काव्य में अनौचित्य उत्पन्न हो जायेगा।

अस्तु, अनियतस्थानावृत्तिरूप वर्णविन्यासवक्रता काव्यवस्तु के अनुरूप, स्वाभाविक, पेशल वर्णों वाली, नवीन वर्णो की आवृत्ति वाली तथा गुणों और भार्गो की अनुवर्तिनी होनी चाहिये।

नियतस्थानावृत्तिरूप वर्णविन्यासवक्रता

इस वर्णविन्यासवक्रता में कुन्तक ने यमक अलकार को समाहित कर लिया है। उन्होंने कहा है कि इस वर्ण-विन्यास-वक्रता को भिन्न अर्थ वाले, समान वर्णों से युक्त, प्रसाद गुण से समन्वित श्रुतिरमणीय, औचित्यपूर्ण तथा (चरण) आदि, मध्य तथा अन्त इत्यादि नियत स्थानों पर सुशोभित होने वाला यमक नाम का अपूर्व भेद दृष्टिगोचर होता है[2]। कुन्तक ने यमक को वर्णविन्यास

1- व0 जी0 2/5

2- समानवर्णमन्यार्थं प्रसादि श्रुतिपेशलम् ।
औचित्ययुक्तमाद्यादिनियतस्थानशोभियत् ।।

यमकं नाम कोऽप्यस्याः प्रकारः परिदृश्यते ।
स तु शोभान्तराभावादिह नातिप्रतन्यते ।।

- वही, 2/6-7

वक्रता के रूप मे स्वीकार तो किया है, किन्तु, पूर्वाचार्यो के समान वे यमक के भेद-प्रभेदों के झाड़-झंकाड़ मे फसना नहीं चाहते थे। उन्होने स्पष्ट शब्दों मे कहा है कि वर्णविन्यासवक्रता से भिन्न किसी अन्य शोभा का अभाव होने के कारण यमक का अधिक विस्तार नही किया गया है।[1]
कुन्तक के इस कथन से स्पष्ट है कि नियतस्थानावृत्तिरूप वर्णविन्यासवक्रता अथवा यमक को प्रसादगुणयुक्त, श्रुतिपेशल और प्रस्तुत वस्तु के औचित्य से युक्त होना चाहिये। यही इस वर्णविन्यासवक्रता की सीमाये है।

इस प्रकार, अनुप्रास, यमक वृत्ति, रीति तथा सङ्घटना का समाहार वर्णविन्यासवक्रता में करके कुन्तक ने वर्ण-सौन्दर्य की समस्त सम्भावनाओं को वर्णविन्यासवक्रता में समाहित कर लिया गया है।

2- पदपूर्वाद्धवक्रता

वर्णविन्यासवक्रता के विवेचन के पश्चात् कुन्तक ने वर्णसमुदायात्मक पद को अपने विवेचन का विषय बनाया है।[2] 'पद' की 'सुप्तिङन्तम् पदम्'[3] परिभाषा के अनुसार पद के दो भाग होते हैं- प्रकृति और प्रत्यय। इसी आधार पर कुन्तक ने पद में दो प्रकार की वक्रताएँ स्वीकार की हैं। प्रकृति

1- सा तु शोभान्तराभावदिह नातिप्रतन्यते ।

- व0 जी0 2/7

2- व0 जी0, पृ0 191

3- अष्टाध्यायी 1/4/14

अर्थात पूर्वाद्ध का वैचित्र्य पदपूर्वार्द्धवक्रता और प्रत्यय अर्थात परार्द्ध का वैचित्र्य परार्द्धवक्रता के अन्तर्गत आता है। सुबन्त की प्रकृति प्रतिपादिक और तिङ्न्त की प्रकृति धातु कहलाती है। अतः प्रातिपादिक और धातु के कारण आने वाली रमणीयता को पदपूर्वार्द्धवक्रता कहते है। इसके अनेक भेद हैं।[1]

1- रूढिवैचित्र्यवक्रता

कोशगत तथा लोक-व्यवहार में प्रसिद्ध शब्द के वाच्य अर्थ की प्रतीति कराने वाली वृत्ति को रूढि कहते है।[2] यद्यपि सामान्यमात्र के बोधक रूढ शब्द विशेष के बोधक नहीं हो सकते है, तथापि असम्भाव्य धर्म के अध्यारोप अथवा विद्यमान धर्म के अतिशय के अध्यारोप रूप युक्ति से कवि के विवक्षित नियत-विशेष के बोधक होकर रूढ शब्द अपूर्व चमत्कार उत्पन्न करते हैं।[3] यही रूढिवैचित्र्यवक्रता है[4] कुन्तक ने व्यक्तिवाचक संज्ञाओं में भी विशाषबोधकत्व स्वीकार किया है। उन्होने रूढिवैचित्र्यवक्रता के समस्त उदाहरणों में व्यक्तिवाचक संज्ञा (राम, रावण, लघु आदि) को विशेष अर्थ का वाचक सिद्ध करते हुए कहा है कि 'संज्ञा शब्दों के नियत अर्थ में निश्चित होने पर भी उनका सामान्य-विशेष भाव हो सकता है क्योंकि (व्यक्तिवाचक इत्यादि) संज्ञा शब्दों के साधारण

1- पदस्य सुबन्तस्य तिङन्तस्य वा यत्पूर्वार्द्ध प्रातिपदिकलक्षणं धातुलक्षणं वा तस्य वक्रता वक्रभावों विन्यासवैचित्र्यम्। तत्र च बहवः प्रकारा सम्भवन्ति ।

-व0 जी0, पृ0 66

2- शब्दस्य नियतवृत्तिता नाम कश्चित् धर्मो रूढिरूच्यते ।

-व0 जी0, पृ0 192

3- यत् सामान्यमात्रसंस्पर्शिनां शब्दानामनुमानमनियतावशर्षालिङ्गन यद्यपि स्वभावादेव नकिञ्चदपि सम्भवति तथाप्यनया युक्त्या कविविवक्षितनियतविशेषनिष्ठतां नीयमानाः कामपि चमत्कारितां प्रातपद्यन्ते ।

-व0 जी0, 194

4- यत्र रूढेरसम्भावधर्माध्यारोपगर्भता ।
सद्धर्मातिशयारोपगर्भत्वं वा प्रतीयते ।।

रहने वाले वाच्य की भी सहस्त्रों अवस्थायें में 'स्वरश्रुतिन्याय' अथवा 'लग्नांशुकन्याय' से कवि विवक्षित नियत-दशा-विशेष की स्थिति हो सकती है।[1] उदाहरणार्थ - 'गुर्वर्थमर्थी श्रुतपारदृश्वा------[2] इत्यादि छन्द म 'रघु' पद अतिशय औदार्य की प्रतीति कराता है। जबकि 'ततः प्रस्याह----[3] इत्यादि छन्द मे 'रघु' पद अत्यन्त पराक्रम को प्रकट करता है। स्पष्ट है कि एक ही 'रघु' की अनेक अवस्थाओं मे स्थिति होने के कारण व्यक्तिवाचक संज्ञा 'रघु' के अनेक विशेषार्थ हो सकते हैं। इसी आधार पर कुन्तक ने रूढिवैचित्र्यवक्रता को अनेक भेदों वाला बताया है।[4]

अत. कहा जा सकता है कि जहाँ कवि लोकोत्तर-तिरस्कार अथवा उत्कर्ष के कथन करने की इच्छा से निश्चित अर्थ के वाचक शब्द का प्रयोग करने की इच्छा से निश्चित अर्थ के वाचक शब्द का प्रयोग विशेष अर्थ को प्रकट करने के लिये करता है, वहाँ रूढिवैचित्र्यवक्रता होती है। इसके द्वारा कवि निश्चित अर्थ के वाचक शब्द पर असम्भव धर्म का आरोप करता है, अथवा शब्द में विद्यमान किसी धर्म को अतिशय उत्कर्ष प्रदान कर देता है।

कुन्तक ने वक्रता की दृष्टि से रूढिवैचित्र्यवक्रता के मुख्यत. दो भेद किये हैं-प्रथम, जहाँ वक्ता ही अपने उत्कर्ष अथवा तिरस्कार को प्रतिपादित करते हुये कवि द्वारा उपनिबद्ध किया जाता

1- संज्ञाशब्दानां नियतार्थनिष्ठत्वात् सामान्यविशेषभावो ---लग्नांशुकन्यायेन चेति ।

-व0 जी0,पृ0 202

2- वही, उदाहरण सं0 2/31।

3- वही, उदाहरण सं0 2/28

4- एषा च रूढिवैचित्र्यवक्रताप्रतीयमानधर्मबाहुल्याद् बहुप्रकाराभिद्यते ।

-वही, पृ0 20।

है, तथा द्वितीय जहाँ किसी दूसरे वक्ता को कवि किसी के उत्कर्ष अथवा तिरस्कार का प्रतिपादन करने के लिए उपनिबद्ध करता है।[1] कुन्तक द्वारा प्रदिपादित इन दो भेदों के पुन: दो-दो भेद किये जा सकते है-

(क) वक्ता द्वारा स्वय पर

1- असम्भाव्यधर्माध्यारोपगर्भता[2]

2- सद्धर्मातिशयाध्यारोपगर्भता[3]

(ख) वक्ता द्वारा अन्य पर

1- असम्भाव्यधर्माध्यारोपगर्भता[4]

2- सद्धर्मातिशयाध्यारोपगर्भता[5]

2- पर्याय-वक्ता

प्रत्येक भाषा मे एक अर्थ के वाचक अनेक शब्द होते है, जिन्हे पर्याय कहते है। 'जहाँ पर कवि अनेक पर्यायों द्वारा पदार्थ के प्रतिपादित किये जा सकने योग्य होने पर भी वर्ण्यमान पदार्थ के अत्यधिक सौन्दर्य को प्रस्तुत करने के लिये तथा प्रकरण के अनुरूप किसी विशेष पर्याय का ही

1- वही, पृ0 196

2- उदाहरणार्थ द्रष्टव्य, व0 जी0 उदाहरण सं0 2/27

3- उदाहरणार्थ द्रष्टव्य, व0 जी0, उदाहरण सं0 2/28

4- उदाहरणार्थ द्रष्टव्य, व0 जी0, उदाहरण सं0 2/29

5- उदाहरणार्थ द्रष्टव्य, व0 जी0, उदाहरण सं0 2/30

प्रयोग करता है, वहाँ पर्याय-वक्रता होती है।[1] यथा - वामं कज्जलवत् --------[2] इत्यादि में 'शिव' के वाचक अनेक पदों के रहते हुये भी विशेष रूप से प्रयुक्त 'स्मरारियो'- यह पर्याय शब्द अपूर्व चमत्कार को प्रकाशित कर रहा है। क्योंकि, कामदेव के शत्रु शिव के शरीर का स्त्री के शरीर के साथ संयोग किसी भी प्रकार से सम्भव नही हो सकता है और इसीलिये गणों का 'सद्य' विस्मययुक्त हो जाना भी युक्तिसगत है।[3]

कुन्तक ने छ प्रकार के पर्याय बताकर इन्हीं के आधार पर पर्यायवक्रता के छः भेद किये है।[4]

1- 'पर्यायवक्रत्व' नाम, प्रकारान्तरं पदपूर्वार्द्धवक्रताया यत्रानेकशब्दाभिधेयत्वे वस्तुन. किमपि प्रस्तुतानुगुणत्वेन प्रयुज्यते ।'

-व0 जी0, वृ0 69

2- व0 जी0, उदाहरण सं0 1/44

3- व0 जी0, पृ0 69

4- अभिधेयान्तरतमस्तस्यातिशयपोषक: ।
रम्यछायान्तरस्पर्शात्तदलङ्कर्तुमीश्वर: ।।

स्वय विशेषणेनापि स्वच्छायोत्कर्षपेशल: ।
असम्भाव्यार्थपात्रत्वगर्भं पश्चाभिधीयते ।।

अलङ्कारोपसस्कारमनोहारिनिबन्धन: ।
पर्यायस्तेन वैचित्र्यं परा पर्यायवक्रता ।।

-व0 जी0, 2/10-12

(क) जब पर्याय वाच्य अर्थ का अन्तराम हो अर्थात विवक्षित वस्तु को प्रस्तुत करने में जैसा वह पर्याय समर्थ हो, वैसा अन्य कोई पर्याय न हो।[1]

(ख) जब पर्याय वर्ण्यमान पदार्थ के उत्कर्ष को भलीभाँति पुष्ट करके सहृदयों को आह्लादित करने में समर्थ होता है।[2]

(ग) जब पर्याय स्वयं अथवा अपने विशेषणभूत दूसरे पद के द्वारा श्लिष्टत्वादि की मनोहर छाया से वर्ण्यमान वस्तु के सौन्दर्य को परिपुष्ट करने में समर्थ हो ।[3]

(घ) जब पर्याय अपनी अर्थ सम्बन्धी सुकुमारता से वर्ण्यमान वस्तु के अनुकूल होने के कारण सहृदयों को आनन्दित करने में समर्थ हों।[4]

(ङ.) जिस पर्याय में प्रस्तुत पदार्थ के किसी असम्भाव्य अभिप्राय की पात्रता निहित होती है।[5]

1- वही, पृ0 204, उदाहरणार्थ दृष्टव्य, उदाहरण स0 2/32

2- वही, पृ0 207, उदाहरणार्थ दृष्टव्य, उदाहरण स0 2/34

3- वही, पृ0 209, उदाहरणार्थ दृष्टव्य, उदाहरण स0 2/35

4- वही, पृ0 214, उदाहरणार्थ दृष्टव्य, उदाहरण सं0 2/39

5- व0 जी0, पृ0 216, उदाहरणार्थ दृष्टव्य, उदाहरण सं0 2/40

(च) जब पर्याय रूपकादि अलङ्कार के द्वारा दूसरे सौन्दर्य को धारण करके सहृदयों को आनन्दित करता है, अथवा उत्पेक्षा आदि के दूसरे सौन्दर्य को प्रस्तुत करता हुआ सहृदयाह्लादकारी होता है।[1] अर्थात अलङ्कार के कारण पर्याय रमणीय होता अथवा पर्याय के कारण अलङ्कार रमणीय होता है।[2]

3- उपचार - वक्रता

उपचार की परिभाषा करते हुये कुन्तक ने कहा है कि 'उपचरण को उपचार करते है।[3] अर्थात गौण व्यवहार 'उपचार' है। क्रियावैचित्र्यवक्रता के प्रसङ्ग मे कुन्तक ने उपचार का अधिक स्पष्ट रूप से करते हुए कहा है कि सादृश्यादि सम्बन्धों का आश्रय लेकर किसी दूसरे पदार्थ के धर्म का अध्यारोप 'उपचार' है।[4] एतादृश उपचार की जिसमें प्रधानता होती है, उसे उपचार-वक्रता कहते है।[5] कुन्तक के अनुसार उपचार-वक्रता दो स्थलों पर होता है-

---

1- व0 जी0, पृ0 220, उदाहरणार्थ दृष्टव्य, उदाहरण सं0 2/43

2- This yields us two senses - the one relates to the beauty achieved by the skilled employment of figures of speech like Metaphor : the other refers to the beauty involved in adding artistic touches to figures of speech like Metaphor.

- Vokroktivirta (edited - Dr.Krishnmoorthy P.380).

3- उपचरणमुपचार. ----- । - व0जी0, पृ0 223

4- वही, पृ0 266

5- उपचारप्रधानासौ वक्रता काचिदुच्यते । - वही /2/14

(क) जहाँ प्रस्तुत और अप्रस्तुत के स्वभावों में अत्यन्त वैषम्य (अर्थात् चेतनता - अचेतना, द्रव्यत्व अथवा घनत्व इत्यादि) होने पर भी दोनों के लेशमात्र साम्य का आधार लेकर अप्रस्तुत के सामान्य धर्म का प्रस्तुत (वर्ण्यमान) पर आरोप करके प्रस्तुत के अलौकिक स्वभाव का कथन किया जाता है।[1] वहाँ उपचारवक्रता होती है ।

कुन्तक के अनुसार इस उपचार-वक्रता के सहस्त्रों प्रकार सम्भव हो सकते हैं।[2] यथा-अमूर्त के धर्म का मूर्त पर आरोप, मूर्त के धर्म का अमूर्त पर आरोप, चेतन के धर्म का अचेतन पर आरोप, अचेतन के धर्म का चेतन पर आरोपादि ।

(ख) द्वितीय प्रकार की उपचारवक्रता वह है, जिसके मूल मे विद्यमान रहने पर रूपकादि अलङ्कार सरस उल्लेख वाले हो जाते हैं।[3] रूपकादि अलङ्कारों में सरसता के संचार का हेतु होने के कारण उपचार-वक्रता रूपकादि अलङ्कारों की प्राणभूता है।[4]

उपचारवक्रता के प्रथम प्रकार मे स्वभाव के अत्यधिक भेद होने पर भी लेशमात्र सादृश्य के आधार पर अतिशयत्व के प्रतिपादन के लिये अप्रस्तुत के धर्म का प्रस्तत पर आरोप किया जाता है

1- यत्र दूरान्तरे न्यस्मात् सामान्यमुपचर्यते ।
लेशेनापि भवत् कञ्चिद् वक्तुमुद्रिक्तवृतिवाम् ।।
- व० जी०, 2/13

2- सोऽयमुपचारवक्रताप्रकारः सत्कविप्रवाहे सहस्त्रशः सम्भवतीति सहृदयैः स्वयमेवोत्प्रेक्षणीयः ।
- वही, पृ० 229

3- यन्मूला सरसोल्लेखा रूपकादिरलङ्कृतिः ।
- वही, 2/14

4- तेन रूपकादेरलङ्कारणकलायस्य सकलस्यैवोपचारवक्रता जीवितमित्यर्थ ।
- वही, 230

जबकि द्वितीय प्रकार में थोड़ी भिन्नता वाले (अप्रस्तुत) पदार्थ के सादृश्य से उत्पन्न अत्यन्त समीपता के योग्य से अभेदोपचार से केवल उस पदार्थ के धर्ममात्र का नहीं अपितु पदार्थ का ही आरोप किया जाता है।[1] अर्थात प्रथम मे पदार्थ के धर्म का ही आरोप होता है जबकि द्वितीय में धर्मयुक्त पदार्थ का आरोप होता है । यही दोनों प्रकारों का भेद है । यथा - 'सत्सेव --- सुरारिः।[2] में 'यमराज' के कर्णाभूषण' आदि के साथ खड्ग के सादृश्य के कारण अभेदोपचार से खड्गों में उसी (कलश्रवणोत्कल) का आरोप किया गया है । केवल धर्म (भयङ्करता) का आरोप नहीं किया गया है । इस उपचार (अभेदोपचार) के कारण ही यहाँ रूपक अलङ्कार आह्लादकारी बन पड़ा है ।

4- विशेषण-वक्रता

कुन्तक के अनुसार जहाँ विशेषण के माहात्म्य या प्रभाव से क्रिया अथवा कारक का सौन्दर्य समुतलसित होता है, वहाँ विशेषण-वक्रता होती है।[3] क्रिया अथवा कारक रूप पदार्थ के सौन्दर्य से अभिप्राय पदार्थ के स्वाभाविक सौन्दर्य की प्रकाशकता तथा अलङ्कार के सौन्दर्यातिशय की परिपुष्टि से है।[4]

1- व0 जी0, पृ0 23।

2- व0 जी0, उदा0 सं0 2/49

3- विशेषणस्य माहात्म्यात् क्रियायाः कारकस्य वा।
यत्रोल्लसति लावण्यं सा विशेषवक्रता ।।

- वही, 2/15

4- किं तत्सातिशयत्वात् ? भावस्वभावसौकुमार्यसमुतलासकत्वमलङ्कारच्छायतिशयपोषकत्वम्।

- वही, पृ0 234

अतः विशेषण-वक्रता के मुख्यत. दो भेद किये जा सकते है -

(क) विशेष द्वारा कारक अथवा क्रियारूप पदार्थ के स्वाभाविक 'करान्तरालीनकपोलभितिः' आदि सभी विशेषण 'तन्वी' रूप कारक के स्वाभाविक सौन्दर्य को प्रकाशित कर रहे हैं ।

(ख) विशेषण द्वारा अलङ्कार के सौन्दर्यातिशय की पुष्टि उदाहरणार्थ - 'देवि त्वन्मुखपङ्कजेन ---- विच्छायताम्।[2] मे मुखकमल के 'शशिन· शोभातिरस्कारिणा' इस विशेषण से प्रतीयमान उत्प्रेक्षा अलङ्कार अतिशय शोभा को धारण कर रहा है ।

विशेषण-वक्रता का आवश्यक प्रतिबन्ध है - प्रस्तुत के औचित्य के अनुसार होना । वर्ण्यमान विषय के औचित्य के अनुसार वर्तमान विशेषण-वक्रता समस्त उत्तम काव्यों का जीवन रूप प्रतीत होती है क्योंकि इसी के कारण रस अपनी परिपुष्टि की चरम स्थिति को पँहुचाया जाता है।[3] इसी कारण, कुन्तक का कथन है कि 'जिसके द्वारा अपने माहात्म्य से रस, वस्तुओं के स्वभाव और अलङ्कार लोकोत्तर सौन्दर्ययुक्त बनाये जा सकते हों, उसी को विशेषणरूप में प्रयुक्त करना चाहिये।[4]

1- व० जी०, उदा० सं० 2/52
क्रिया के स्वाभाविक सौन्दर्य की प्रकाशकता के लिये द्रष्टव्य उदा० सं० 2/54

2- व० जी०, उदा० स० 2/44

3- एतदेव विशेषण वक्रत्वं नाम प्रस्तुतौचित्यानुसारि सकलसत्काव्यजीवितत्वेन लक्ष्यते ।
यस्मादनेनैव रसः परां परिपोषपदवीमवतार्यते ।
- वही०, पृ० 236

4- स्वमहिम्ना विधीयन्ते येन लोकोतरश्रियः ।
रसस्वभावालङ्कारास्तद्विधेयं विशेषणम् ।।
- वही, अन्तरश्लोक 2/57

5- संवृत्ति वक्रता

जब कवि वस्तु का स्पष्ट वर्णन नहीं करना चाहता है, अथवा वस्तु के अलौकिक स्वरूप का वर्णन शब्दों द्वारा करने में असमर्थ होता है, तब साङ्केतिक सर्वनाम आदि के प्रयोग से काव्य में अधिक चारूता आ जाती है, यह कुन्तक की संवृत्ति-वक्रता है । संवृति-वक्रता की परिभाषा करते हुये कुन्तक ने कहा है - 'जहाँ किसी वैचित्र्य के कथन की इच्छा से किन्हीं सर्वनाम आदि के द्वारा वस्तु का निगूहन किया जाता है, वह संवृति-वक्रता होती है।' [1] यथा - निद्रानिमीलितदृशो ---- ध्वनन्ति' [2] 'किमपि' इस सर्वनाम पद से श्रवण से उत्पन्न आनन्द की अनुभवैकगोचरता रूप अवर्णनीयता का प्रतिपादन किया गया है ।

कुन्तक ने सवृति-वक्रता के छः भेद किये है -

(क) जब अत्यन्त सुन्दर वस्तु का शब्दों द्वारा वर्णन सम्भव होने पर भी साक्षात् वर्णन न करके सर्वनाम द्वारा इस कारण संवरण कर दिया जाता है कि कहीं साक्षात् वर्णन के द्वारा वस्तु का सौन्दर्य परिमित न हो जाये, तथा वस्तु के अतिशय के बोधक किसी अन्य वाक्य से उसकी प्रतीति करायी जाती है। [3]

1- यत्र संव्रियते वस्तु वैचित्र्यस्य विवक्षया ।
सर्वनामादिभिः कश्चिद् सोक्ता संवृतिवक्रता ।।
- व0 जी0, 2/16

2- वही, उदा0 सं0 1/51

3- वही, पृ0 237-38, उदाहरणार्थ द्रष्टव्य, 2/58

(ख) जब अपने स्वभाव सौन्दर्य की चरम-सीमा को पँहुची हुयी वस्तु को वाणी का अविषय सिद्ध करने के लियं उसके कार्य को कहने वाले और उसके अतिशय के प्रतिपादक किसी दूसरे वाक्य के द्वारा प्रकाशित किया जाता है।[1] प्रथम भेद उसका केवल यही अन्तर है कि प्रथम में, शब्दों द्वारा वस्तु का वर्णन सम्भव होने पर भी सर्वनामादि से उसका संवरण किया जाता है, जबकि द्वितीय में वस्तु का वर्णन असम्भव होने पर सर्वनाम आदि से संवरण किया जाता है ।

(ग) जब अत्यन्त सुकुमार वस्तु, उसके कार्य के अतिशय के कथन के बिना केवल आच्छादन मात्र से रमणीय होकर सौन्दर्य की पराकाष्ठा को पहुँच जाती है।[2]

प्रथम तथा द्वितीय भेदों में संवरण के साथ वस्तु के अलौकिक स्वरूप के प्रतिपादक वाक्य का भी कथन किया जाता है, किन्तु तृतीय भेद में संवरण मात्र किया जाता है, अतिशय के प्रतिपादक अन्य वाक्य का प्रयोग नहीं किया जाता है ।

(घ) जब किसी स्वानुभवसंवेद्य वस्तु को वाणी का अविषय सिद्ध करने के लिये सर्वनामादि के द्वारा संवरण किया जाता है।[3]

(ङ) जब परानुभवसंवेद्य वस्तु को भी वाणी का अविषय सिद्ध करने के लिये सर्वनामादि से संवरण किया जाता है।[4]

1- वही, पृ0 239, उदाहरणार्थ दृष्टव्य, उदा0सं0 2/60

2- व0 जी0, पृ0 240, उदा0 द्रष्टव्य, उदा0 सं0 2/61

3- व0 जी0, पृ0 240-41, उदा0 द्रष्टव्य, उदा0 सं0 2/62

4- व0 जी0, पृ0 241, उदा0 सं0 2/63

(च) जब स्वभावत: अथवा कवि की विवक्षा से किसी दोष युक्त वस्तु का सर्वनामादि के द्वारा संवरण उसकी महापातक के समान अकथनीयता को प्रतिपादित करने के लिये किया जाता है।[1] इस प्रकार यह दो प्रकार की हो सकती है - स्वभावतः दोषयुक्त वस्तु की संवृति[2] और कवि-विवक्षा से दोषयुक्त वस्तु की संवृति।[3]

6- पदमध्यान्तर्भूत प्रत्ययवक्रता

पदमध्यान्तर्भूत प्रत्ययवक्रता पद के मध्य में प्रयुक्त प्रत्ययों के वैचित्र्य पर आश्रित है। पद के मध्य में आने वाले प्रत्यय भी दो प्रकार के हो सकते हैं । प्रथम, स्वतन्त्र रूप से प्रयुक्त प्रत्यय तथा द्वितीय, मुमादि आगमों से युक्त प्रत्यय । इसी आधार पर कुन्तक ने पदमध्यान्तर्भूत प्रत्ययवक्रता के दो भेद किये हैं -

(क) जहाँ पद के मध्य में आने वाले कृदादि प्रत्यय अपने उत्कर्ष के द्वारा वर्ण्यमान पदार्थ के औचित्य की रमणीयता को अभिव्यक्त करते हैं।[4] यथा 'स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो -- भव'[5] में 'वेल्लदूलाका' पद के मध्य मे प्रयुक्त वर्तमानकालामिधायी शतप्रत्यय अतीत और अनागत सौन्दर्य से रहित तात्कालिक स्वभावतः सुन्दर प्रस्तुत के औचित्य की शोभा को प्रकाशित करता है ।

1- वही, पृ0 241-42

2- वही 2/64

3- वही, 2/66

4- प्रस्तुतौचित्यविच्छित्तिं स्वमहिम्ना विकासयन् ।
प्रत्ययः पदमध्येऽन्यामुल्लासयति वक्रताम् ।।
- व0जी0, 2/17

5- वही, उदाहरण संख्या 2/27

(ख) जहाँ मुमादि आगमों के विलास से रमणीय कोई प्रत्यय बन्ध सौन्दर्य को परिपुष्ट करने वाले शब्द-सौन्दर्य को उत्पन्न करता है [1] यथा - 'जाने सख्यास्तव----यत्' [2] छन्द में मुमागम से युक्त 'सुभगम्मन्य·' पद शब्द के सौन्दर्य को बढा रहा है ।

7- वृत्तिवैचित्र्यवक्रता

काव्यशास्त्र में 'वृत्ति' शब्द का प्रयोग उपनागरिका परूषा आदि वर्ण-योजनाओं के लिये हुआ है, किन्तु वैयाकरणों ने समासादि प्रक्रियाओं के लिये 'वृत्ति' शब्द का प्रयोग किया है। [3] वृत्तिवैचित्र्यवक्रता का सम्बन्ध वैयाकरणों की 'वृत्ति' से है । जहाँ पर अव्ययीभाव आदि समास, तद्धित तथा सुब्धातु वृत्तियों की अपनी सजातियों की अपेक्षा विशिष्ट रमणीयता समुल्लसित होती है, वहाँ वृत्तिवैचित्र्यवक्रता होती है। [4] अर्थात् समासादि वृति के प्रयोग के कारण जब काव्य में अद्भुत चमत्कार आ जाता है, तब वृत्तिवैचित्र्य वक्रता होती है । समासवृति में कुन्तक ने अव्यवयीभाव समास को प्रधान स्थान दिया है। [5] यथा - 'अभिव्यक्तिं तावद् ---- नवरसः' में प्रयुक्त 'अधिमधु' समयाभिधायी होने पर भी विषय सप्तमी (अर्थात् मधुरता से सम्बन्धित) की प्रतीति को उत्पन्न करने के

1- आगमादिपरिस्पन्दसुन्दरः शब्दवक्रताम् ।
परः कामपि पुष्णाति बन्धछायाविधायिनीम् ।।
-व0 जी0 2/18

2- वही, उदाहरण सं0 2/69

3- कृत-तद्धित-समासैकशेष-सनाद्यन्तधातुरूपाः पञ्चवृतयः ।
- लघुसिद्धान्तकौमुदी, पृ0 820

4- अव्ययीभावमुख्यानां वृतीनां रमणीयता ।
यत्रोल्लसति सा ज्ञेया वृतिवैचित्र्यवक्रता ।।
- व0जी0 2/19 तथा पृ0 248

5- कासाम्, 'अव्ययीभावमुख्यानाम्' अव्ययीभावः समासः मुख्यः प्रधानभूतो यासां तास्तथोक्तास्तासां ----।
- वही, पृ0 248

कारण 'नवरस' पद से श्लेषाधारित द्वितीय अर्थ (श्रृंगारादि रस) को प्रकाशित करता है। 'अधिमधु' के स्थान पर 'मुधो' शब्द के प्रयोग से वस्तु की प्रतीति तो होती है, किन्तु 'नवरस' पद के श्लेषाधारित द्वितीय अर्थ की प्रतीति न होने के कारण 'मधो' प्रयोग सहृदयाह्लादकारी नहीं है।[1]

इसके अतिरिक्त कुन्तक ने तद्धित और सनाद्यन्तधातु के वैचित्र्य के भी उदाहरण दिये है।[2]

8- **भाववक्रता**

धातत्वर्थ अर्थात धातुवाच्य व्यापार को भाव कहते हैं धातुवाच्य व्यापार दो प्रकार का होता है- साध्यावस्थापन्न और सिद्धावस्थापन्न। तिड्गन्त अवस्था में भाव साध्यावस्था में होता है और 'घञ्' आदि कृत प्रत्ययों के द्वारा सिद्धावस्थापन्न भाव की प्रतीति होती है। कुन्तक के अनुसार जहाँ कवि वर्ण्यमान वस्तु के सौन्दर्योत्कर्ष के लिये भाव की साध्यावस्था की अपेक्षा करके उसकी सिद्धावस्था का प्रतिपादन करता है। वहाँ भाववैचित्र्यवक्रता होती है।[3] यथा-'श्वासायास-------स्मरः'[4] में कवि के द्वारा 'उत्प्रताप.' मे 'तप्' के धातुवाच्य व्यापा की साध्यावस्था का परित्याग करके तथा 'तप्' धातु से घञ् प्रत्यय का प्रयोग करके कामदेव का प्रताप और अधिक हो रहा है'-इस क्रियारूप भाव का सिद्ध रूप से कथन अत्यन्त चमत्कारी है।

1- व0 जी0, उदाहरण सं0 2/72

2- वही, उदाहरण सं0 2/73 तथा 2/74

3- साध्यतामप्यनादृत्य सिद्धत्वेनभिधीयते ।
यत्र भावो भावत्येषा भाववैचित्र्यवक्रता ।।

- व0 जी0, 2/20

4- वही, उदाहरण सं0 2/75

9- लिङ्गवक्रता

जहाँ पुल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग के विशिष्ट प्रयोग के कारण रमणीयता आती है, वहाँ लिङ्गवक्रता होती है। कुन्तक के अनुसार लिङ्गों का विशिष्ट प्रयोग तीन प्रकार से सम्भव है-

(क) जब भिन्न लिङ्ग वाले शब्दों का समानाधिकरण्य रूप से प्रयोग होता है।[1] यथा-'यस्यारोपणकर्मणापि--------दृशां विंशतिः' में स्त्रीलिङ्ग 'दशां विंशतिः' और नपुसकलिङ्ग 'पुल्लपङ्कजवनं' का समानाधिकरण रूप से प्रयोग होने के कारण लिङ्गवैचित्र्यवक्रता है।

(ख) जब किसी 'स्त्री नाभ ही सुन्दर है' ऐसा मानकर श्रृंगारिद रसों की परिपुष्टि हेतु अन्य लिङ्गों के सम्भव होने पर भी केवल स्त्रीलिङ्ग का प्रयोग किया जाता है।[2] कुन्तक के इस विचार का समर्थन अभिनवगुप्त ने किया है।[3]

(ग) जब तीनों लिङ्गों के शब्दों का कथन सम्भव होने पर भी वर्ण्यमान पदार्थ के औचित्य के अनुरूप किसी विशिष्ट लिङ्गोवाची शब्द का प्रयोग किया जाता है।[4]

1- भिन्नयोर्लिङ्गयोर्यस्यां सामानिाधिकरण्यतः ।
कापि शोभाभ्युदेत्येषा लिङ्गवैचित्र्यवक्रता ।।

--वही, 2/21

2- सति लिङ्गान्तरे यत्र स्त्रीलिङञ्च प्रयुज्यते ।
शोभानिष्पत्तये यस्मान्नामैव स्त्रीति पेशलम् ।।

--व0 जी0, 2/22

3- 'तटी तारं ताम्यति' इत्यत्र तटशब्दस्य पुस्त्वनपुसकेत्वे अनादृत्य स्त्रीत्वमेवाश्रित सहृदयैः 'स्त्रीतिनामापि मधुरमिति' कृत्वा ।।

10 क्रियावैचित्र्यवक्रता

पदपूर्वार्द्धवक्रता के पूर्वोक्त भेदों के द्वारा कुन्तक ने पदपूर्वार्द्धगत प्रातिपादिक की वक्रताओं का विवेचन किया है। क्रियावैचित्र्यवक्रता के अन्तर्गत कुन्तक ने धातु की वक्रता का विचार किया है।सुबन्त और तिङ्गन्त पदों के धातुरूप पूर्वभाग की वक्रता को क्रियावैचित्र्यवक्रता कहते है। [1] यथा-रतिकलिहत-------जयति।' [2] का तात्पर्य है कि 'शिव के तीनों नेत्रों के बन्द करने का प्रयोजन समान होने पर भी तथा तीनों नेत्रों में लोचनत्व समान होने पर भी देवी पार्वती के परिचुम्बन से जिसकों बन्द किया गया है, वह शिव का तृतीय नेत्र 'जयति अर्थात सर्वोत्कर्ष हो' यहाँ पर 'जयति ' इस क्रियापद के द्वारा सहृदयसंवेद्य कुछ अपूर्व वैचित्र्य परिस्फुरित हो रहा है।

कुन्तक के अनुसार क्रियावैचित्र्यवक्रता के पाँच भेद है [3]

(क) जब क्रिया कर्ता की अत्यधिक अन्तरङ्ग होती है अर्थात कवि कर्ता की क्रियाविशेष को प्रस्तुत करके जिस सौन्दर्य की सृष्टि करता है, उसे कोई अन्य क्रिया नहीं कर सकती [4]

(ख) क्रियावैचित्र्य का दूसरा भेद कर्त्रन्तर की विचित्रता पर आधारित है। सजातीय अन्य कर्ता की

1- वही, पृ0 260

2- वही, उदाहरण सं0 1/58

3- कर्तुरत्यन्तरङ्गत्वं कर्त्रन्तरविचित्रता ।
स्वविशेषणवैचित्र्यमुपचारमनोज्ञता ।।
कर्मादिसंवृत्ति. पञ्चप्रस्तुतौचित्यचारवः ।
क्रियावैचित्र्यवक्रत्वप्रकारास्त इमें स्मृताः ।।

- व0 जी0, 2/24-25

5- व0 जी0, पृ0 26।

यह विचित्रता विचित्र स्वरूप वाली क्रिया के द्वारा सम्पादित होती है। [1]

(ग) जहाँ अपने विशेषण (अर्थात क्रियाविशेषण) के द्वारा क्रिया की वक्रता होती है। [2] यह क्रियाविशेषणवक्रता क्रिया तथा कारक दोनों के सौन्दर्य को बढाने वाला होता है। क्योंकि विचित्रक्रिया का ही करना कारक का सौन्दर्य है। [3]

(घ) जब उपचार के कारण क्रिया में मनोज्ञता आ जाती है। [4]

(ङ) जब क्रिया के गर्भ आदि कारकों की संवृत्ति के द्वारा वैचित्र्य की सृष्टि हो जाती है। [5]

पदवूर्वार्द्धवक्रता की परिभाषा करते हुये कुन्तक ने इसे प्रातिपादिक और धातु की वक्रता कहा है। [6] सस्कृत-व्याकरण के अनुसार सार्थक की शब्द-स्वरूप, कृत-प्रत्ययान्त, तद्धितयुक्त और समास

1- व0 जी0, पृ0 263

2- वही, पृ0 264

3- एतच्च क्रियाविशेषणं द्वयोरपि क्रियाकारयोर्वक्रत्व मुल्लासयति ।
यस्माद्विचित्रक्रियाकारित्वमेव कारकवैचित्र्यम् ।।

4- वही, पृ0 266, उदाहरण संख्या 2/91

5- व0 जी0 पृ0 268, उदाहरण संख्या 2/92

6- पदस्य सुबन्तस्य तिङ्गन्तस्य वा यत्पूर्वार्द्धं प्रातिपदिकं लक्षणं धातुलक्षणं वा तस्य वक्रता वक्रभावों विन्यासवैचित्र्यम् ।।

की प्रातिपदिक संज्ञा होती है।[1] कुन्तक ने रूढि-वक्रता, पर्याय-वक्रता, उपचार-वक्रता, विशेषण वक्रता, संवृत्ति-वक्रता और लिङ्ग-वक्रता के द्वारा सार्थक शब्द-स्वरूप की वृत्तिवैचित्र्यवक्रता, पदमध्यान्तर्भूत-वक्रता और भाववक्रता के द्वारा कृत-प्रत्ययान्त और तद्धित युक्त की तथा वृत्तिवैचित्र्य वक्रता से समास की रमणीयता का प्रतिपादन किया है। पदपूर्वार्द्धवक्रता का अन्तिम भेद क्रियावैचित्र्यवक्रता धातु की रमणीयता को विस्पष्ट करता है। अस्तु, स्पष्ट है कि कुन्तक ने प्रातिपादक और धातु के वैचित्र्य की समस्त सम्भावनाओं को पदपूर्वार्द्धवक्रता में ग्रहण कर लिया है।

3- पदपरार्द्धवक्रता

पद के पूर्वार्द्ध-प्रातिपादिक और धातु के प्रयोग-वैचित्र्य के समान पद के परार्द्ध सुप् तथा तिङ् प्रत्ययों का विचित्र सहृदयाह्लादकारी प्रयोग काव्य की विशेषता है और कुन्तक के अनुसार यही पदपरार्द्धवक्रता है।[2]

1- कालवैचित्र्यवक्रता

जहाँ वर्ण्यमान पदार्थ के औचित्य के अनुरूप वैयाकरणों मे प्रसिद्ध लट् आदि अलङ्कारों में होने

1- अर्थवद् अधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्।

- वही, पृ0 1/2/45

अष्टाध्यायी कृत्तद्धितसमासाश्च ।

- वही, 1/2/46

2- 'वक्रतायाः परोऽप्यस्ति प्रकारः प्रत्ययाश्रय' इति --------कीदृशः, 'प्रत्ययाश्रयः।' प्रत्ययः सुप् तिङ् च यस्याश्रयः स्थानं च तथोक्तः ।

- व0 जी0, पृ0 32

वाले प्रत्ययों से वाच्यवर्तमानादि काल रमणीयता को प्राप्त करता है। - वहाँ कालवैचित्र्यवक्रता होती है।[1] यथा-'समविषमनिर्विशेषा.---------दुर्लघ्याः'। [2] में भविष्यकाल का बोधक 'स्य' प्रत्यय चमत्कार का आधार है, क्योंकि इससे अर्थ की व्यन्जना हो रही है कि 'वर्षा-समय की कल्पना से ही इतना भय है, तो उसके वर्तमान होने पर क्या होगा?

2- कारकवक्रता

जहाँ भङ्गीभणिति की किसी अपूर्व रमणीयता को परिपुष्ट करने के लिये कवि प्रधानकारक मे गौणता का आरोप करके गौण रूप में और गौण कारक में प्रधानता का आरोप करके प्रधान कारक के रूप में उपनिबद्ध करता है, वहाँ कारकवक्रता होती है। [3] यथा- 'याञ्चां-----धनुर्भवति' [4] में हाथ से धनुष उठाना चाहता हूँ' यह न कहकर गौण-कारक-करण(हाथ) पर मुख्य कारक कर्ता का अध्यारोप

1- औचित्यान्तरतम्येन समयो रमणीरयता ।
याति यत्र भवत्येषा कालवैचित्र्यवक्रता ।।

- व0 जी0, पृ0 2/26

2- वही, उदाहरण संख्या 2/95

3- यत्र कारकसामान्यं प्राधान्येन निबन्ध्यते।
तत्वाध्यारोपणान्मुख्यगुणभावाभिधानतः ।।

परिपोषयितुं कान्चिद् भङ्गीभणितिरम्यताम् ।
कारकाणां विपर्यासः सोक्ता कारकवक्रता ।।

- व0 जी0, 2/27-28

4- वही, उदाहरण संख्या 2/97

किया है। कुन्तक के अनुसार कारकों के इस विपर्यास के कारणभूत गौण अचेतन पदार्थ मुख्य चेतन में संभव होने वाली कर्त्तृता के आरोप से कर्तारूप में उपनिबद्ध होकर अतीव चमत्कारक हो जाते है। [1]

3- संख्यावक्रता

जहाँ कवि काव्यवैचित्र्य का प्रतिपादन करने की इच्छा से वचनों का परिवर्तन कर देता है, वहाँ संख्यावक्रता होती है। [2] यथा-'वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती [3] इस छन्दांश में राजा दुष्यन्त के लिये एकवचन (अहं) का प्रयोग होना चाहिए था, किन्तु दुष्यन्त की विरक्ति की प्रतीति कराने के लिये बहुवचन (वयं) का प्रयोग किया गया है।

दो भिन्न वचनों का समानाधिकरण रूप से प्रयोग होने पर भी सख्यावक्रता होती है। [4] यथा 'फुल्लेन्दीवरकाननानि नयने पाणि सरोजाकराः।' [5] इस पंक्ति में उपमेयभूत 'नयने' और 'पाणि' में प्रयुक्त द्विवचन तथा उपमानभूत 'फुल्लेन्दीवरकाननानि' और 'सरोजाकरा' पदों में प्रयुक्त बहुवचन का समानाधिकरण अत्यन्त चमत्काराजनक है।

1- व0 जी0, पृ0 275

2- कुर्वन्ति काव्यवैचित्र्यविवक्षापरतन्त्रिताः ।
यत्र संख्याविपर्यासं तां संख्यावक्रतां विदुः ।।

- वही, 2/29

3- वही, उदाहरण संख्या 2/102

4- भिन्नवचनयोर्वा यत्र सामानिकरण्यं विधीयते ।

- वही, पृ0 277

5- वही, उदहारण संख्या 2/103

इस प्रकार संख्यावैचित्र्ययवक्रता के दो भेद है-

(क) जब वचनों का परिवर्तन कर दिया जाता है।

(ख) जब भिन्न वचनों का समानाधिकरण होता है।

4- पुरूषवक्रता

जहाँ काव्य-सौन्दर्य को प्रस्तुत करने की इच्छा से उत्तम अथवा मध्यम पुरूष के स्थान पर प्रथम पुरूष का प्रयोग किया जाता है।[1] अथवा उत्तम या मध्यम पुरूष क वाचक 'अस्मद्' 'युष्मद्' आदि का प्रयोग न करके प्रातिदिक मात्र का प्रयोग किया जाता है [2] वहाँ पुरूषवक्रता होती है। अतः कुन्तक के अनुसार पुरूषवक्रता दो स्थलों पर हो सकती है।

(क) जब उत्तम या मध्यम पुरूष के स्थान पर प्र0 पुरूष का प्रयोग किया जाता है। यथा-'सोऽयं दम्भधृतव्रतः प्रियतमें कर्त्तुं किमप्युद्यतः' [3] छन्दांश में उत्तम पुरूष (सोऽहम्) का प्रयोग न करके प्रथम पुरूष (सोऽयम्) का प्रयोग राजा अपनी कृतघ्नता आदि को द्योतित करने के लिये करता है, जिससे अपूर्व चमत्कार की सृष्टि हो रही है।

(ख) जब उत्तम और मध्यम पुरूष के वाचक 'युष्मद्' 'अस्मद्' आदि का स्थान पर प्रातिपदिक

1- प्रत्ययतापरभावश्च विपर्यासेन योज्यते ।
यत्र विच्छित्तये सैषा या पुरूषवक्रता ।।

- व0 जी0, 2/30

2- तस्माच्च पुरूषैकयोगक्षमत्वादस्मदादेः प्रातिपदिकमात्रस्य च विपर्यासः पर्यवस्यति ।

- वही, पृ0 280

तथा-कवयः काव्यवैचित्र्यार्थं युष्मदि अस्मदि वा प्रयोक्तव्ये प्रातिपदिकमात्रं निबन्धन्ति ।

- पृ0 85

3- वही, 1/50

मात्र का प्रयोग किया जाता है।

यथा-'कौशाम्बीं-------स्वयम्' [1] में वक्ता मंत्री यौगन्धरायण ने अपनी उदासीनता को प्रकट करने के लिए 'युष्मद्' इस मध्यम पुरूष का प्रयोग न करके 'जानातु देवी स्वयम्' कहकर प्रातिपादिक मात्र का प्रयोग किया है ।

5- उपग्रहवक्रता

धातुओं के लक्षण के अनुसार निश्चित पद अर्थात आत्मनेपद और परस्मैपद के आश्रय प्रयोग को पूर्वाचार्यो ने 'उपग्रह' कहा है। [2] जहाँ कवि वर्ण्यमान पदार्थ के औचित्य के अनुरूप सौन्दर्य की सृष्टि के लिये अर्थात विशिष्ट अर्थ की व्यंजना के लिये आत्मनेपद और परस्मैद में किसी एक पद का ही विशिष्ट प्रयोग करता है, वहाँ उपग्रहवक्रता होती है। [3] यथा-'तस्यापरेष्वपि-------चेष्टितानि' [4] का व्यड्ग्यार्थ है कि 'भयभीत हरिणियों के नेत्रों की चपल चेष्टाओं को देखकर प्रियतमा के सुन्दर हावभावों से युक्त नेत्र-व्यापारों की याद आ जाने के कारण उसके वशीभूत चित्तवृत्ति वाले राज दशरथ की शारीरिक प्रयास के व्यापार से हीन मुट्ठी अपने ही आप खुल जाती थी अर्थात बाण नही चला पाते थे।' यह व्यड्ग्यार्थ उभयपदी

1- वही, 2/105

2- धातुनां लक्षणानुसारेण नियतपदाश्रयः प्रयोगः पूर्वाचार्याणां उपग्रह शब्दाभिधेयतया प्रसिद्धः ।

- व0 जी0, पृ0 282

3- पदयोरूभयोरकमौचित्याद्विनियुज्यते
शोभायै यत्र जल्पन्ति तामुपग्रहवक्रताम ।।

- वही, 2/3।

4- वही, 2/106

धातु 'भिद्' के आत्मनेपद के प्रयोग (विभिदे) के कारण ही सम्भव हो सका है । इस प्रकार यहाँ कर्म कर्ता में हुआ आत्मनेपद सहृदयाह्लादकारिणी वक्रता को उत्पन्न कर रहा है ।

6- प्रत्ययवक्रता

पदपूर्वार्द्धवक्रता तथा अब तक विवेचित पदपरार्द्धवक्रता के भेदों में जिन प्रत्ययों को रमणीयता का कारण बताया गया है, उनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी प्रत्यय होते हैं, जिनका विधान सुप् और लिङ् प्रत्ययों के पश्चात किया जाता है और तदन्त पद अव्यय होता है । इन प्रत्ययों के पश्चात सुप् और तिङ् प्रत्ययों के प्रयोग से विकार नहीं आता है।[1] एतादृश प्रत्ययों को ही कुन्तक ने प्रत्ययवक्रता का आधार बनाया है । कुन्तक के अनुसार 'जहाँ पर तिङ् गादि प्रत्ययों के बाद किया गया अन्य प्रत्यय किसी अपूर्व रमणीयता को प्रस्तुत करता है, वहाँ प्रत्ययवक्रता होती है।[2] कुन्तक ने वृति के तिङादि पद को स्पष्ट नहीं किया है । पदपरार्द्धवक्रता के अन्तर्गत 'प्रत्ययवक्रता' को ग्रहण करने से प्रतीत होता है कि तिङादि से कुन्तक का आशय तिङ् और सुप् प्रत्ययों से है। अतः कहा जा सकता है कि जब 'सुप् और तिङ् प्रत्ययों के पश्चात् अन्य प्रत्ययों के योग से काव्य में रमणीयता आती है, तब प्रत्ययवक्रता होती है।' यथा - 'लीनं वस्तुनि------भारावतारक्षमः'[3] के 'वन्देतरां' पद मे तिङन्त से अर्थात तिङ् प्रत्यय के पश्चात तरप् प्रत्यय का विधान अपूर्व प्रत्ययवक्रता को प्रस्तुत करता है, क्योंकि इससे पूर्व दो कवियों के नमस्कार से विशिष्ट नमस्कार का बोध होता है।

1- द्रष्टव्यः, अष्टाध्यायी - तिङश्च 5/3/56, तरप्तमपौ घः 1/1/22 तथा किम्-सत्-अव्ययघाद् आमु अद्रव्यप्रकर्षे 5/4/11

2- विहितः प्रत्ययादन्यः प्रत्ययः कमनीयताम् ।
यत्र कामपि पुष्पाणि सान्या प्रत्ययवक्रता ।।

- व0 जी0, 2/32

3- वही, उदा0 सं0 2/107

पदपरार्द्धवक्रता के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सुप् और लिड्. प्रत्ययों के वैचित्र्य की समस्त सम्भावनाओं का समाहार इसमें हो गया है । सुप् प्रत्यय विभक्ति और वचन के बोधक होते हैं। कारक-वक्रता और संख्यावक्रता क्रमशः कारक और वचन की रमणीयता पर ही आधृत हैं । इसी प्रकार, तिड़ादि प्रत्ययों से वाच्यकाल, पुरूष और वचन की रमणीयता को क्रमशः कालवक्रता, पुरूषवक्रता और संख्यावक्रता में स्पष्ट किया गया है । इसके अतिरिक्त तिड़ादि अट्ठारह प्रत्ययों में से प्रथम नौ परस्मैपदी और शेष नौ आत्मनेपदी प्रत्यय कहलाते हैं । अतएव, आत्मनेपदी और परस्मैपदी तिड़् प्रत्ययों के सौन्दर्य पर विचार करने हेतु कुन्तक ने 'उपग्रहवक्रता' की कल्पना की है । इस प्रकार, कुन्तक ने यथा-सम्भव सुप् और तिड़् प्रत्ययों के वैचित्र्य को स्पष्ट किया है ।

पदपरार्द्धवक्रता का अन्तिम भेद प्रत्ययवक्रता भी अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा कुन्तक की सूक्ष्मग्राहिणी बुद्धि का परिचायक है । प्रत्यय के बाद प्रत्यय के प्रयोग की दो स्थितियाँ हो सकती है। प्रथम, अन्य प्रत्ययों के पश्चात् सुप् और तिड़् प्रत्ययों का प्रयोग पदपरार्द्धवक्रता के प्रथम पाँच भेद प्रथम स्थिति में और अन्तिम भेद (प्रत्ययवक्रता) द्वितीय स्थिति में रमणीयता की सम्भावनाओं को स्पष्ट करता है ।

कुन्तक की पदपरार्द्धवक्रता के विवचेन में एक न्यूनता भी प्रतीत होती है । कुन्तक ने 'सम्बन्ध' की वक्रता पर विचार नहीं किया है । कारक-वक्रता में इसका अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता है क्योंकि 'सम्बन्ध' कारक नहीं है । सम्बन्ध भी सहृदयाह्लादकारित्व का कारण हो सकता है। आचार्य आनन्दवर्धन ने इसकी व्यञ्जकता पर विचार किया है।[1] इसके अतिरिक्त काव्य

1- सुप्तिड्वचनसम्बन्धैस्तथा कारकशक्तिभिः।
कृत्तद्धितसमासैश्च द्योत्यो लक्ष्यक्रमः क्वचिद् ।।
- ध्वन्यालोक 3/16

में पदगत वैचित्र्य सन्धि के कारण भी सम्भव है । यथा - 'क्रियेत ------ बहुस्यात्' [1] में 'स्वौजसा' पद में जो श्लेषानुप्राणित वैचित्र्य है, वह 'सन्धि' के कारण ही सम्भव हो सका है ।

परपरार्द्धवक्रता के लक्षण में कुन्तक ने सुप् और तिङ् के वैचित्र्य को ही पदपरार्द्धवक्रता कहा है किन्तु 'प्रत्ययवक्रता' में उन्होंने सुप् और तिङ् के पश्चात् लगने वाले प्रत्ययों के वैचित्र्य को आधार बनाया है । न कि सुप् और तिङ् के वैचित्र्य को । अतएव, कुन्तक द्वारा प्रस्तुत पदपरार्द्धवक्रता के लक्षण मे भी न्यूनता प्रतीत होती है । पदपरार्द्धवक्रता के सभी भेदों के आधार पर कहा जा सकता है कि 'जब सुप्, तिङ् तथा सुप् और तिङ् के पश्चात् लगने वाले प्रत्ययों के कारण काव्य रमणीय होता है, तब पदपरार्द्धवक्रता होती है।'

पदवक्रता

संस्कृत व्याकरण के अनुसार पद संज्ञा को प्राप्त शब्द चार प्रकार के होते हैं - नाम, आख्यात्, उपसर्ग और निपात । कुन्तक ने इन चतुर्विष्य पदों की वक्रता पर विचार किया है। 'पद' संज्ञा को प्राप्त नाम और आख्यात प्रकृति - प्रत्यय विभाग वाले होते हैं । अतएव उनके वैचित्र्य का विश्लेषण कुन्तक ने पदपूर्वार्द्ध और पदपरार्द्धवक्रता के अन्तर्गत किया है । शेष उपसर्ग और नियात पदों के प्रकृति-प्रत्यय विभाग से रहित होने के कारण इन्हीं वक्रता का विवचेन पदपूर्वार्द्ध अथवा पदपरार्द्धवक्रता के अन्तर्गत होना उचित नहीं था । इसी कारण, कुन्तक ने उपसर्ग और निपात पर

1- क्रियेत चेत्साधुविभक्तिचिन्ता
व्यक्तिस्तदा सा प्रथमाभिधेया ।
या स्वौजसा साधयितुं
विलासैस्तावत्क्षमा नामपदं बहुस्याद् ।।
- नैषधीयचरितम् 3/23

आधृत वक्रता का विवेचन पृथक रूप से किया है।[1] तथा इसे पदवक्रता की संज्ञा प्रदान की है । कुन्तक के अनुसार 'जहाँ उपसर्ग तथा निपात सम्पूर्ण वाक्य के एकमात्र प्राणरूप में शृंगारादि रसों को प्रकाशित करते है वहाँ उपसर्ग तथा निपातजनित पद वक्रता होती है।[2] यथा - 'मुहुरंगुलित-संवृताधरोष्ठं ------ चुम्बितं तु' में तु निपात के द्वारा राजा को अपूर्व लिप्सा और तज्जन्य पश्चाताप की व्यञ्जना की गयी है । इसी प्रकार, 'अयमेकपदे ----- निरातपत्वरम्यैः'[4] में 'सुदुःसहः' में प्रयुक्त 'सु' और 'दुस्' उपसर्ग विरह की असह्यता को व्यक्त करते हैं ।

वक्रोक्ति - भेदों में कुन्तक ने पदवक्रता का उल्लेख नहीं किया है, किन्तु वक्रोक्ति - भेदों का विस्तृत विवेचन करते समय उन्होंने पदवक्रता और पदपूर्वार्द्धवक्रता तथा पदपरार्द्धवक्रता - ये तीनों वक्रोक्ति के भेद हैं । किन्तु, यदि 'पदवक्रता' को वक्रोक्ति के भेदरूप में और 'पदपूर्वार्द्धवक्रता' और 'पदपरार्धवक्रता' को वक्रोक्ति के प्रभेद रूप में ग्रहण किया जाता तो अधिक वैज्ञानिक होता इस स्थिति में वक्रोक्ति का द्वितीय भेद 'पदवक्रता' होता और उसके प्रभेद अधोलिखित रूप मे होते -

---

1- व0 जी0, पृ0 285

2- रसादिद्योतनं यस्यामुपसर्गनिपातयोः ।
वाक्यैकजीवितत्वेन सापरा पदवक्रता ।।
- वही, 2/33

3- व0 जी0, उदा0 सं0 2/110

4- व0 जी0, उदा0 सं0 2/109
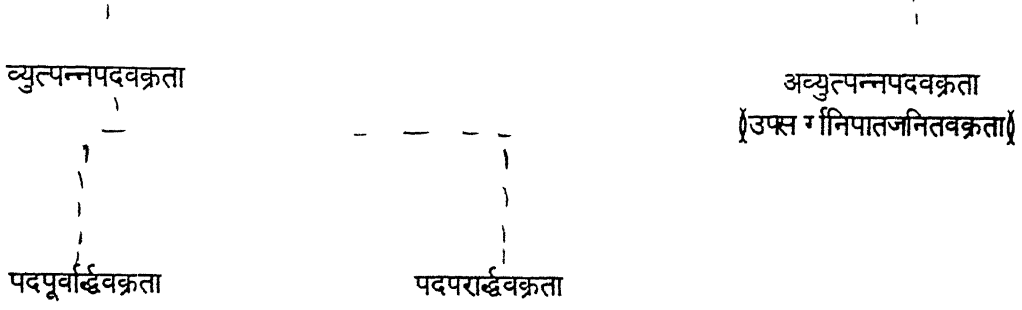
अस्तु, कुन्तक के काव्य के पदगत वैचित्र्य की यथासम्भव समस्त सम्भावनाओं की विवेचना पदपूर्वार्द्धवक्रता, पदपरार्द्धवक्रता और पदवक्रता के अन्तर्गत की है । कुन्तक का यह विवेचन ध्वन्यालोककार आचार्य आनन्दवर्धन से अत्यधिक प्रभावित है। [1]

4- वाक्यवक्रता

वर्णगत तथा पदगत वक्रता पर विचार करने के पश्चात् कुन्तक ने वाक्यवक्रता का विवेचन किया है । वाक्यवक्रता को स्पष्ट करते हुये कुन्तक ने कहा है कि 'जिस प्रकार किसी रमणीय चित्र में उसके फलक, रेखाविन्यास रङ्ग और कान्ति से भिन्न चित्र के समस्त प्रस्तुत पदार्थों में सुकुमारादि मार्गों में स्थित शब्द, अर्थ, गुण और अलङ्कारादि की वक्रता (सौन्दर्य) से भिन्न, कवि की कुशलता रूप सहृदयसंवेद्य तथा समस्त प्रस्तुत पदार्थों की प्राणभूत वाक्य-वक्रता

1- प्रस्तुत शोधग्रन्थ, 'वक्रोक्ति तथा ध्वनि-सिद्धान्त)

होती है।[1] अतः वाक्यवक्रता की अधोलिखित विशेषताएँ निर्धारित की जा सकती हैं -

(1) काव्य में शब्द, अर्थ, गुण और अलङ्कार के सौन्दर्य को वाक्यवक्रता नहीं कहा जा सकता है । इनके सौन्दर्य से अतिरिक्त, अनिर्वचनीय सौन्दर्य ही वाक्यवक्रता है ।

(2) वाक्यवक्रता कविकौशल रूप है।[2] कुन्तक ने सर्वत्र सहृदयाह्लादकारी कवि-कौशल का महत्व स्वीकार किया है।[3] किन्तु वाक्य-वक्रता के लिये कुन्तक को कवि-कौशल इतना अधिक अभीष्ट है कि वाक्यवक्रता को उन्होंने कविकौशल रूप ही माना है । वस्तुतः कुन्तक के विवेचन में वाक्यवक्रता और कविकौशल एक दूसरे के पर्याय बन गये हैं।[4]

सम्भवतः, कुन्तक ने वाक्यवक्रता में कवि-कौशल को अत्यधिक महत्व इस कारण दिया है, क्योंकि कवि नवीन कल्पना के द्वारा काव्य से सहृदयाह्लादक चमत्कार उत्पन्न करने में समर्थ होता है । वर्णविन्यासवक्रता, पदवक्रता, पदपूर्वार्द्धवक्रता और पदपरार्द्धवक्रता में भी कवि-कौशल अपेक्षित

1- मार्गस्थवक्रशब्दार्थगुणालङ्कारसम्पदः ।
अन्यद्वाक्यस्य वक्रत्वं तथाभिहितिजीवितम् ।।
मनोज्ञफलकोल्लेखवर्णच्छायाश्रियः पृथक् ।
चित्रस्येव मनोहारि कर्तुः किमपि कौशलम् ।।
- व0 जी0 3/3-4

2- ---- कविकौशललक्षणं किमपि सहृदयसंवेद्यं सकलप्रस्तुतपदार्थस्फुरितभूतं वक्रत्वमुज्जृम्भते।
- वही, पृ0 316

3- प्रस्तुत शोधग्रन्थ, पृ0 100

4- ----- येन वाक्यवक्रतात्मनः कविकौशलस्य कचिदेव काष्ठाधिरूढिरूपपद्यते ।
- वही, पृ0 320

है, किन्तु इनमे कवि-कौशल मुख्यतः शिक्षा और अभ्यासजन्य होता है, जबकि वाक्यवक्रता में कवि-कौशल प्रतिभाजन्य होता है । शिक्षा तथा अभ्यास के द्वारा नवीन तथा मनोहर कल्पना करने की शक्ति कवि प्राप्त नहीं कर सकता है । यह शक्ति कवि को संस्कार रूप में प्राप्त होती है।[1] अस्तु, वाक्यवक्रता के सन्दर्भ में कवि-कौशल का आशय है - नवीन तथा मनोहर कल्पना शक्ति ।

(3) वाक्यवक्रता सहृदयाह्लादकारिणी होती है । सहृदयाह्लादकारित्व वक्रता की सामान्य विशेषता है, अतएव वाक्यवक्रता का सहृदयसंवेद्य होना आवश्यक है ।

(4) वाक्यवक्रता काव्य के शब्दादि समस्त प्रस्तुत पदार्थो की प्राणभूत होती है । अर्थात कवि-कौशल रूप वाक्यवक्रता के अभाव में काव्य के शब्दादिसजीव (सहृदयाह्लादकारी) नहीं हो सकते हैं ।

वाक्यवक्रता की उपर्युक्त विशेषताओं के आधार पर कहा जा सकता है कि 'कवि प्रतिभाजन्य नवीन तथा मनोहर कल्पना के कारण काव्य मे जो सहृदयाह्लादकारिणी चारूता आ जाती है, वही वाक्यवक्रता है।' यह वाक्यवक्रता समस्त साहित्य की प्राणभूत है।[2]

वाक्य-वक्रता के भेदों का कुन्तक ने स्पष्ट निर्देश नहीं किया है । प्रथमोन्मेष में वाक्यवक्रता के सहस्त्रों भेद स्वीकार करते हुये उन्होंने समस्त अलड्कार वर्ग का अन्तर्भाव वाक्यवक्रता

1- शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेषः यां बिना काव्यं न प्रसरेत् प्रसृतं वा उपहसनीयं स्यात्।

- काव्यप्रकाश, पृ0 16

2- व0जी0, पृ0 483

मे किया है।[1] कवि-कौशल पर आश्रित होने के कारण ही अलड्कारों का अन्तर्भाव कुन्तक ने वाक्यवक्रता में किया है।[2] अलड्कारों के सहृदयाह्लादकारी प्रयोग के अतिरिक्त पदार्थों की सुकुमारता का प्रतिपादन तथा शृङ्गारादि रसों की निष्पति भी कवि-कौशल पर आश्रित है।[3] अतएव, वाक्यवक्रता के मुख्यत तीन भेद किये जा सकते हैं - स्वभाववक्रता रसवक्रता और अलड्कारवक्रता ।

1- स्वभाववक्रता

जहाँ वस्तु के स्वभाव-मात्र के नवीन कल्पना पर आश्रित वर्णन से काव्य अत्यधिक मनोहर बन जाता है । - वहाँ स्वाभाववक्रता होती है । यथा - 'तेषां ----- पल्लवाः'[4] में यद्यपि लताकुञ्जों की स्वाभाविक श्यामलता तथा प्रौढता का वर्णन किया गया है, तथापि 'मदन-शयया के निर्माण के लिये कोमल पर्तो के तोड़े जाने की आवश्यकता न रहने के कारण' - इस नवीन कल्पना के कारण मनोहर पदार्थ में छिपा हुआ, बिरल सहृदयों के अनुभवैकगम्य सूक्ष्म और सुन्दर कुछ ऐसा स्वरूप उन्मीलित हुआ है जिससे वाक्यवक्रता रूप कवि-कौशल किसी अपूर्व पर को प्राप्त हो गया है ।

1- वाक्यवक्रभावोऽन्यो भिद्यते यः सहस्त्रधा ।
यत्रालड्कारवर्गोऽसा सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यति ।।
- व0 जी0 1/20

2- तदेवं पृथग्भावेनापिभवतोऽस्य कविकौशलायत्तवृत्तित्वलक्षणवाक्यवक्रतान्तर्भाव एवं युक्तियुक्तामवगाहते ।
- वही, पृ0 319

3- यद्यपि रसस्वभावालड्कारा‌णां सर्वेषां कविकौशलमेव जीवितम् ।
- वही, पृ0 318

रसस्वभावालड्कारा आसंसारमपि स्थिताः।
अनेन भवतां यान्ति तद्विदाह्लाददायिनीम् ।।
- वही, अन्तरश्लोक 3/24

4- वही, 3/21

2- रसवक्रता

जब कविकौशलाश्रित उक्ति के कारण स्थायीभाव अत्यन्त परिपुष्ट होकर अस्वाद्यमानता अथवा रसरूपता को प्राप्त हो जाये, तब रसवक्रता होती है । यथा - 'लोकोत्तर यादृशामाह ---- बाहवः'[1] मे आलम्बन राम के पराक्रमातिशय की प्रशसा के प्रति विश्वस्त होकर विजय की इच्छा करने वाले रावण की 'देवताओं की सेना के साथ युद्ध को भूली हुयी मेरी ये भुजाएँ थोडी देर के लिये पराक्रमा की गर्मी से उत्पन्न खुजलाहट को मिटाने के लिये व्यग्र हो रही हैं' - कविकौशलाश्रित इस उक्ति से उत्साह नामक स्थायीभाव अत्यन्त परिपुष्ट होकर रसरूपता (वीररसरूपता) को प्राप्त हो गया है तथा वाक्य-वक्रता रूप अपूर्व कवि-कौशल को सूचित करता है ।

3- अलङ्कारवक्रता

जब नवीन कल्पना पर आश्रित अलङ्कारो के प्रयोग के कारण काव्य सहृदयाह्लादकारी बन जाता है, तब अलङ्कारवक्रता होती है । कवि-कौशल के अभाव में केवल स्वरूप से ही स्फुरित होने वाले यथार्थता से निरूपित किये जाने वाले उपमादि अलङ्कार सहृदयाह्लादकारी न होने के कारण नाममात्र भी वैचित्र्य नहीं रखते हैं, क्योंकि प्रचुर पदार्थों के समान सामान्य रूप से ही वे भी प्रतीत होते हैं।[2] इसके विपरीत कवि को प्रतिभा के योग से नवीन कल्पना से मनोहर तथा अलौकिक रचना के वैचित्र्य से विशिष्ट सौन्दर्यातिशय वाला अलङ्कार किसी लोकोतर सहृदयाह्लादकारिता को

1- व0 जी0, 3/22

2- वही, पृ0 318

व्यक्त करता है।[1] यथा - 'किं तारूण्यतरोरियं ----- शृङ्गारिण । [2] में नायिका के ऊपर वल्लरौ लहरिका, उपदेशयष्टि आदि का आरोग्य होने से रूपक अलङ्कार है और इस रूपक के सौन्दर्यातिशय के लिये ही सन्देह अलङ्क़ार का प्रयोग किया गया है । यह सन्देहोक्ति सहृदयों केलिये अत्यन्त चमत्कारजनक प्रतीत हो रही है । अतएव यहाँ अलङ्कारवक्रता है ।

कुन्तक की वक्रोक्ति की कसौटी है - सहृदयाह्लादकारित्व । सहृदयाह्लादकारित्व से रहित रस, स्वभाव और अलङ्कार का अन्तर्भाव वाक्यवक्रता में कदापि सभव नहीं है । नवीन तथा मनोहर कल्पना के कारण रस, स्वभाव और अलङ्कार की वही स्थिति वाक्यवक्रता कहलाती है, जो सहृदयाह्लादकारिणी है ।

वस्तुवक्रता अथवा पदार्थवक्रता

वाक्यवक्रता का विवेचन करने से पूर्व कुन्तक ने वस्तुवक्रता नाम की एक अन्य वक्रता का उल्लेख किया है तथा इसे ही पदार्थवक्रता भी कहा है।[3] कुन्तक का मत है कि वाक्यार्थ बोध के लिये पदार्थ वर्णनीय वस्तु का बोध होना आवश्यक है।[4] कुन्तक ने वस्तुवक्रता की परिभाषा नहीं दी है । उसके भेदों की ही परिभाषा दी है ।

1- वही, पृ0 319

2- व0 जी0, उदा0 सं0 1/92

3- वस्तुनो वर्णनीयतया प्रस्तावितस्य पदार्थस्य यदेवविधत्वेन वर्णन सा तस्य वक्रता वक्रत्वविच्छित्तिः ।
- वही, पृ0 293
तदेवमभिधानस्य पूर्व अभिधेयस्य चेह वक्रतामभिधायेदानीं वाक्यस्य वक्रत्वमाभिधातुमुपक्रमते-।
- वही, पृ0 314

4- इदानीं वाक्यवक्रतावैचित्र्यासूत्रियिंतु वाच्यस्य वर्णनीयतया प्रस्तावाधिकृतस्य वस्तुनो वक्रतास्वरूपं निरूपयति । पदार्थावबोधपूर्वकत्वाद् वाक्यार्थवसिते : ।
- वही 293

वास्तुवक्रता दो प्रकार की है - सहज और आहार्य।[1]

(1) सहज वस्तु वक्रता

जहाँ विवक्षित अर्थ का प्रतिपादन करने में पूर्णतया समर्थ तथा अनेकों प्रकार की वक्रताओं से विशिष्ट शब्द के द्वारा ही अत्यन्त रमणीय तथा स्वाभाविक धर्म से युक्त वस्तु का वर्णन किया जाता है, वहाँ वास्तुवक्रता होती है।[2] इसमें वस्तु के स्वाभाविक स्वरूप को उन्मीलित करते समय कविजन बहुत से उपमादि अलङ्कारों का प्रयोग नहीं करते है, क्योंकि इससे वस्तु की सहज सुकुमारता के मलिन हो जाने का भय रहता है।[3] जहाँ कहीं भी अलङ्कारों का उपयोग करते हैं, वहाँ केवल उस वस्तु की स्वाभाविक सुकुमारता को और अधिक समुन्मीलित करने के लिये ही, न कि किसी अलङ्कारवैचित्र्य को प्रस्तुत करने के लिये।[4]

(2) आहार्य वस्तु वक्रता

कवि की सहज (प्रतिभाजन्य) और आहार्य (शिक्षा तथा अभ्यासादि) कौशल से शोभित होने वाली अभिनव कविकल्पनाप्रसूत होने से लोकप्रसिद्ध पदार्थो का अतिक्रमण कर जाने वाली रचना आहार्य वस्तुवक्रता को प्रस्तुत करती है । कुन्तक के अनुसार कविजन किसी सत्ताहीन पदार्थ की सृष्टि नहीं करते, अपितु अपनी सहज और आहार्य कुशलता से केवल सतारूप से स्फुरित होने वाले पदार्थों के किसी ऐसे उत्कर्ष को प्रस्तुत कर देते है जिससे वह सहृदयावर्जक

1- सैषा सहजाहार्यभेदभिन्ना वर्णनीयस्य वस्तुनो द्विप्रकाशा वक्रता । --- वही, 303

2- उदारस्वपरिस्पन्दसुन्दरत्वेन वर्णनम् ।
वस्तुनो वक्रशब्दैकगोचरत्वेन वक्रता ।।
- व0 जी0, 3/1

3- वही, पृ0 294, 3/2

4- वही, पृ0 302, उदा0 सं0 3/8

बन जाता है।[1] यथा -'अस्या·' ----- पुराणो मुनि [2] मे कवि ने उत्प्रेक्षा और सन्देह अलङ्कार की सहायता से नायिका के सौन्दर्य रूप वर्ण्यमान पदार्थ में, लोकोतर पदर्थ निर्माता द्वारा निर्मित होने वाली, कोई अपूर्व विशेषता उत्पन्न कर दी है, ।जसके कारण यह प्रतीत होने वाला है कि सौन्दर्य रूप पदार्थ प्रथम बार उत्पन्न हुआ हो ।

कुन्तक का मत है कि आहार्य वस्तुवक्रता वर्ण्यमान पदार्थ के सौन्दर्य को उत्पन्न करने वाली होकर भी अलड्कार से भिन्न और कुछ भी नहीं है।[3] इसी कारण, आहार्य वस्तुवक्रता में वर्णनीय वस्तु क विशेष अतिशय को सम्पादित कराने वाले अलङ्कारों का प्रयोग आवश्यक हो जाता है।[4]

वस्तुवक्रता और वाक्यवक्रता

वस्तुवक्रता के सम्बन्ध में मुख्यतया विचारणीय है कि वस्तुवक्रता और वाक्यवक्रता का क्या सम्बन्ध है ? डा0 नगेन्द्र के मतानुसार वाक्य अथवा वस्तु की वक्रता सामान्यत: एक ही है।[5] आचार्य बलदेव उपाध्याय ने वाक्यवक्रता में ही वस्तुवक्रता का अनतर्भाव किया है।[6] डा0 विजयेन्द्र

1- व0 जी0, पृ0 305-6

2- वही, उदा0 सं0 3/12

3- तदेवमाहार्या येयं सा प्रस्तुतविच्छित्तिविधाप्यलङ्कारव्यतिरेकेण नान्याकाचिदुपपद्यते ।
- वही, पृ0 307

4- तदेवंविधे विषये वर्णनीयवस्तुविशिष्टातिशयविधायी भूषणविन्यासो विधेयतां प्रतिपद्यते ।
- वही, पृ0 310

5- 'वाक्य अथवा वाच्य अथवा वस्तु की वक्रता सामान्यत. एक ही बात है।'
- व0जी0, भूमिका पृ0 85

6- भारतीय साहित्यशास्त्र, भाग-2, पृ0 414

नारायण सिंह, डा0 नगेन्द्र के ही मत से सहमत प्रतीत होते हैं क्योंकि उन्होंने अपने शोध प्रबन्ध[1] में वस्तुवक्रता का ही विवेचन किया है, वाक्यवक्रता का नहीं । उपर्युक्त मतों के सन्दर्भ में विचारणीय है कि कुन्तक के अनुसार वस्तुवक्रता अलङ्कार नहीं, अपितु अलङ्कार्य है, जबकि वाक्यवक्रता अलङ्कार है । अलङ्कार और अलङ्कार्य को एक ही नहीं माना जा सकता है, और न ही अलङ्कार में अलङ्कार्य का अन्तर्भाव किया जा सकता है । वस्तुवक्रता के प्रथम भेद सहजवस्तुवक्रता को कुन्तक ने स्पष्ट शब्दों में अलङ्कार्य स्वीकार किया है । सहजवस्तुवक्रता (रमणीय स्वाभाविक धर्म का वर्णन) को ही अन्य काव्याचार्यो ने स्वाभावोक्ति नामक अलङ्कार से अभिहित किया है, किन्तु कुन्तक सहजवस्तुवक्रता के अलङ्कारत्व का खण्डन करके उसकी अलङ्कार्यता को ही सिद्ध करते हैं [2] वह अपने पक्ष की पुष्टि में दो तर्क प्रस्तुत करते हैं :-

(क) वस्तु के सामान्यधर्म मात्र से वर्णन के लिये कवित्वशक्ति की कोई भी आवश्यकता न होने तथा सामान्यधर्म मे सहृदयाह्लादकारिता का अभाव होने के कारण सहृदाह्लादकारी काव्य के प्रसङ्ग में चमत्कारशून्य सामान्य धर्म का अलङ्कार्य रूप में कोई स्थान नहीं है। [3]

(ख) अनुत्कृष्ट धर्मयुक्त सामान्य अर्थ को अलङ्कार्य मानने पर अयोग्य भिति पर बनाये गये चित्र के सदृश सुन्दर अलङ्कारों से भी उसमें सौन्दर्य का आधान नहीं किया जा सकता है। अतः अत्यन्त रमणीय स्वाभाविक धर्म से युक्त वस्तु को ही अलङ्कार्य रूप में ग्रहण करना चाहिये और इसी को रूपकादि यथोचित अलङ्कारों से सजाना चाहिये।

1- वक्रोक्तिसिद्धान्त और छायावाद

2- तस्मादनेन न्यायेन सर्वातिशायिनः स्वाभाविकसौन्दर्यस्यलक्षणस्य पदार्थपरिस्पन्दस्यालङ्कार्यत्वमेव युक्तियुक्ततामालम्बते, न पुनरलङ्करणत्वम् । - व0 जी0, 303

3- यदेतन्नातिचतुरस्त्रम् । यस्माद् गतिगतिकन्यायेन काव्यकरणं न यथाकथन्चितदनुष्ठेयतामर्हति। तद्विदाह्लादकारिककाव्यलक्षणप्रस्तावात् । - व0 जी0 296, पृ0 297

उपर्युक्त तर्कों के आधार पर कुन्तक का यह भी कथन है कि सहज वस्तुवक्रता अर्थात् पदार्थ का उत्कर्षयुक्त स्वभाव ही अपने माहात्म्य से अन्य अलङ्कारों को न सह सकने के कारण स्वयं ही सौन्दर्यातिशय से युक्त होने के कारण अलङ्कार्य होते हुये भी अलङ्कार जाता है । ऐसा उपामादि अलंकारो को तिरस्कृत करने के अभिप्राय से ही कहा जाता है । वस्तुतः सहज वस्तु वक्रता अलङ्कार्य ही है । अत., स्पष्ट है कि कुन्तक ने सातिशय स्वभाव वर्णन अर्थात सहज यस्तु-वक्रता को अलङ्कार्य माना है ।

कुन्तक ने आहार्य वस्तुवक्रता की अलङ्कार्यता का उल्लेख स्पष्ट शब्दो में नहीं किया है। तथापि यह भी अलङ्कार्य ही प्रतीत होती है । उनका कथन है कि 'श्रेष्ठ कवि को भी वर्ण्यमान पदार्थ के औचित्य के अनुरूप (वस्तु की) सहज सुकुमारता का उन्मीलन अभिप्रेत होता है तथा कभी नाना प्रकार की विचित्रताओं से युक्त सौन्दर्य को उन्मीलित करना अभीष्ट होता है। [2] कुन्तक के इस कथन से स्पष्ट है कि वर्णनीय वस्तु का स्वरूप द्विविध होता है - सहज और आहार्य अर्थात् स्वाभाविक और अस्वाभाविक । क्योंकि, वर्णनीय वस्तु का स्वरूप सहज हो अथवा आहार्य दोनों ही अलङ्कार्य की श्रेणी में आते हैं । इसके अतिरिक्त जब कुन्तक यह कहते हैं कि सातिशय धर्म से युक्त वस्तु ही काव्योपयोगी होती है [3] तो उनका यही आशय प्रतीत होता है कि वर्णनीय वस्तु सहृदयाह्लादकारी स्वरूप वाली होनी चाहिये, वह स्वरूप सहज तथा आहार्य स्वाभाविक तथा

1- व0 जी0, पृ0 304

2- यस्मान्भहाकवीनां प्रस्तुतौचित्यानुरोधेन कदाचित् स्वाभाविकमेव सौन्दर्यमेकराज्येन बिजृम्भयितुमभिप्रेतं भवति कदाचिद्विविधरचनावैचित्र्ययुक्तमिति ।

- वही, पृ0 303

3- सातिशयशून्यधर्मयुक्तस्य वस्तुनो विभूषितस्यापि पिशाचादेरिव तद्विदाह्लादकारित्वविरहादनुपादेयत्वमेव---------- ।

- वही, पृ0 303

अस्वाभिविक दानों प्रकार का हो सकता है। दोनों स्वरूपों मे अन्तर इतना ही है कि वस्तु के स्वाभाविक स्वरूप के उन्मीलन मे उपमादि अलङ्कारों का प्रयोग प्राय नही होता, जबकि आहार्य स्वरूप के चित्रण में उपमादि अलङ्कारो का प्रयोग आवश्यक हो जाता है। [1] इसी कारण कुन्तक ने कहा है कि आहार्य वस्तुवक्रता वर्ण्यमानपदार्थ के सौन्दर्य को उत्पन्न करने वाली होकर भी अलङ्कार से भिन्न और कुछ नहीं हो पाती है। [2] अस्तु, आहार्यवस्तुवक्रता भी सहज वस्तुवक्रता के समान अलङ्कार्य है।

वस्तुवक्रता के प्रसङ्ग मे कुन्तक के कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होने वाक्यवक्रता को वस्तुवक्रता का अलङ्कार माना है। [3] इससे भी स्पष्ट है कि कुन्तक ने समग्र वस्तुवक्रता को अलङ्कार्य माना है।

एतावता, निष्कर्ष रूप मे कहा जा सकता है कि वस्तुवक्रता वक्रोक्ति के छः भेदों से पृथक है। वस्तुवक्रता अलङ्कार्य है और वाक्यवक्रता के द्वारा इसका अलङ्करण किया जा सकता है। कुन्तक ने वाक्यवक्रता के पूर्व वस्तुवक्रता का विवेचन करके केवल यही स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि वस्तु का किस-किस प्रकार का स्वरूप वर्णनीय होता है, क्योंकि उनके मतानुसार वस्तु का सामान्यधर्म कदापि अलङ्करणीय नही हो सकता है। अस्तु उपर्युक्त विवेचन के आधार पर वाक्यवक्रता और

1- अत्र पूर्वस्मिन् पक्षे रूपकादेरलङ्करणकलापस्य न तादृक् तत्त्वम्। अपरस्मिन् पुनः स एव सुतरां समुज्जृम्भते ।

- व0 जी0, पृ0 303

2- वही, पृ0 307

3- तथा च प्रथमतरतरूणीतारूण्यावतारप्रभृतयः पदार्थाः सुकुमारवसन्तादिसमयसमुन्मेषपरिपोषणपरिसमाप्तिप्रभृतयश्च स्वप्रतिपादकवाक्यवक्रताव्यतिरेकेण भूयसा न कस्यचित्तलङ्करणास्तरस्य कविभिरलङ्करणीयतामुपनीयमानाः परिदृश्यन्ते।

- वही, पृ0 299

वस्तुवक्रता को ही एक नहीं कहा जा सकता। वस्तु का सातिशय-रमणीय धर्म ही अलङ्करणीय होता है और यह सातिशय-रमणीय धर्म सहज और आहार्य दो स्वरूपों वाला हो सकता है। अतः वाक्यवक्रता मे वास्तुवक्रता का अन्र्तभाव किया जा सकता है। दोनों का पृथक-पृथक महत्व है, एक अलङ्कार्य है तो दूसरी अलङ्कार।

वाक्यवक्रता और वस्तुवक्रता को पृथक-पृथक मानने पर प्रश्न यह उठता है कि कुन्तक ने वस्तुवक्रता का भी वक्रता-भेदों में परिगणन क्यों नही किया? इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि कुन्तक के अनुसार वस्तु-वक्रता अलङ्कार्य है, जबकि वक्रता को कुन्तक ने शब्दार्थ रूप अलङ्कार्य का अलङ्कार कहा है। 'अलङ्कार' न होने के कारण कुन्तक ने वस्तुवक्रता का परिणगन वक्रता-भेदों में नही किया है।

5- प्रकरण-वक्रता

वाक्यवक्रता के पश्चात् कुन्तक ने वाक्य-समूह रूप प्रकरण को अपने विवेचन का विषय बनाया है। प्रबन्ध का एकदेश अर्थात प्रसङ्ग प्रकरण कहलाता है।[1] प्रबन्ध के अनेक प्रसङ्गों का सुष्ठु नियोजन प्रबन्ध-काव्य की महनीयता के लिये अत्यन्त आवश्यक है। इसी कारण, कुन्तक ने वक्रोक्ति-भेदों में प्रकरण-वक्रता को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया है।

प्रकरणवक्रता की परिभाषा करते हुये कुन्तक ने कहा है कि 'जहाँ कवि प्रकरणों को अपनी

1- प्रबन्धैकदेशभूते प्रकरणे यादृशोऽस्ति----------- ।

- व0 जी0, पृ0 90

सहज तथा आहार्य सुकुमारता से रमणीय बना देता है, वहाँ प्रकरणवक्रता होती है।[1] कुन्तक ने इस प्रकरणवक्रता के नौ भेद किये है--

(1) जहाँ प्रकरण के आरम्भ से लेकर असम्भावित अङ्कुरण वाले कवि मनोरथ के प्रस्तु किये जाने पर व्यवहार कने वालों (अर्थात पात्रों) की अपरिमित उत्साहशालिनी तथा स्वाशय को अभिव्यक्त करने वाली नि:सीम रूप से सुशोभित होने वाली प्रवृत्ति होती है।[2] दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि यह प्रकरणवक्रता वहाँ होती है, जहाँ पात्रों के असीमित उत्साह से युक्त तथा उनके आन्तरिक स्वभाव के द्योतक व्यवहार को चित्रित किया जाता है तथा प्रकरण के प्रारम्भ से लेकर अन्त तक पाठक अथवा दर्शक की उत्सुकता बनी रहती है। यथा- 'रघुवंश' में रघु और कौत्स का सम्वाद। इस प्रसङ्ग में रघु और कौत्स दोनों का स्वकर्त्तव्य के प्रति असीम उत्साह दृष्टिगत होता है। उनका व्यवहार उनके आन्तरिक स्वभाव-कौत्स की अधिक धन के प्रति निस्पृहता और रघु की असीम उदारता को पूर्णतया प्रकट कर देता है। इसके साथ ही इस प्रकरण के प्रारंभ से अन्त तक पाठक की उत्सुकता बनी रहती है। कौत्स को दान प्राप्त होगा या नही? रघु क्या उत्तर देगा? रघु की कुबरे पर विजय होगी अथवा नही? रघु कुबेर से प्राप्त सम्पूर्ण धन दान कर देगा अथवा कुछ धन? कौत्स सम्पूर्ण धन लेगा अथवा

1- वक्रभावः प्रकरणे प्रबन्धे वास्ति यादृशः ।
उच्यते सहजाहार्यसौकुमार्यमनोहरः ।।

- वही, 1/2।

2- यत्र निर्यन्त्रणोत्साहपरिस्पन्दशोभिनी ।
व्यावृत्तिर्व्यवहर्तॄणां स्वाशयोल्लेखशालिनी ।।

अव्यामूलादनांशस्यसमुत्थाने मनोरथे ।
काप्युन्मीलति नि:सीमा सा प्रकरणे वक्रता ।।

नही? इत्यादि वितर्को के कारण पाठक की जिज्ञासा निरन्तर बनी रहती है।

(2) जहाॅ इतिहास-प्रसिद्ध कथानक में किञ्चिद् कल्पना प्रसूत अश के सौनदर्य से प्रकरण चरमोत्कर्ष का प्राप्त रस से परिपूर्ण होकर सम्पूर्ण प्रबन्ध का प्राणरूप प्रतीत होने लगता है, वहाॅ द्वितीय प्रकार की प्रकरणवक्रता होती है।[1] कवित प्राय· इतिहास-प्रसिद्ध कथानकों को अपने प्रबन्ध का विषय बनाता है, किन्तु उन्हे उसी रूप में ग्रहण नही करता है, अपितु अपने प्रबन्ध के औचित्य और चारूता के अनुरूप मूल कथानक के प्रकरणों में परिवर्तन कर देता है अथवा नवीन प्रकरणों की उद्‌भावना करता है। इस प्रकरणवक्रता के कारण प्रबन्ध उसी प्रकार रमणीयता को प्राप्त हो जाता है, जिस प्रकार पुराना जर्जर चित्र चित्रकार की कुशलता से रमर्ण.ाय हो जाता है।[2]

यह प्रकरण वक्रता दो प्रकार की होती है--[3]

(क) अविद्यमान की कल्पना

जब अविद्यमान प्रकरण की कल्पना की जाय। यथा- 'अभिज्ञानशाकुन्तलम् में दुर्वासा के शाप की कल्पना, जा राजा के चारित्रिक दोष का प्रक्षालन कर, समग्र कथावस्तु पर प्रभाव डालती हुई, अन्त में

1- इतिवृत्तप्रयुक्तेऽपि कथावैचित्र्यवर्त्मनि ।
उत्पाद्यलवलावण्यादन्या भवति वक्रता ।।

तथा यथा प्रबन्धस्य सकलस्यापि जीवितम् ।
भाति प्रकरणं काष्ठाधिरूढरसनिर्भरम् ।।

- वही, 4/3-4

2- प्रबन्धेऽप प्रवरनवसंस्कारकारणरमणीयकान्तिपरिपोषः रेखाराजमानपुरातनत्रुटितचित्रदशास्पदसौभाग्यमनुभवतिः ।

- व0 जी0 (डा0 कृष्णमूर्ति) पृ0 249

3- उत्पाद्यलवलावण्यादिति द्विधा व्याख्येयम्। क्वचित्सदेवोत्पाद्यमथवा आहतम्, क्वचिदौचित्यत्यक्तं सदप्यन्यथा सम्पाद्यं सहृदयहृदयाह्लादनाथ ।

नाटक के मूलरस का उत्कर्ष करती है। इस प्रकरण के अभाव में कथा मूलकथा के समान ही सदोष होती है।[1]

(ख) विद्यमान का संशोधन

जब विद्यमान प्रकरण को अनौचित्य युक्त होने के कारण परिवर्तित कर दिया जाये। यथा- 'उदात्तराघव' में मारीचवध का प्रसङ्ग, जहाँ मारीचवध के लिये राम नही, अपितु लक्ष्मण जाते है औरसीता उनकी रक्षा के लिये कातर होकर राम को भेजती है।

(3) तृतीय प्रकरणवक्रता वह है, जिसमें कवि प्रधानकार्य से सम्बद्ध प्रकरणों के पारस्परिक उपकार्य-उपकारक भाव को अपनी अलौकिकप्रतीभा से प्रस्तुत करता है।[2] अर्थात - प्रत्येक प्रकरण अन्य प्रकरणों से सम्बद्ध तथा अन्त मे प्रधानकार्य का उपकारक हो। यथा- 'पुष्पदूतिक' प्रकरण के द्वितीयाड्क में समुद्रदत्त ने उत्कोच रूप में द्वारपाल कुक्लय को जो अँगूठी दी थी, उसी को देखकर चतुर्थ अड्क में सागरदत्त को अपनी पुत्रवघू की सच्चरित्रता पर विश्वास होता है। इस प्रकार प्रबन्ध के इन दो प्रकरणों का उपकार्य उपकारकभाव सम्बन्ध है।

(4) जहाँ कवि की प्रौढ प्रतिभा से सम्पादित एक ही पदार्थ पृथक-पृथक प्रकरणों में पुनः - पुनः निबद्ध होकर भी सर्वत्र नवीन रस या अलड्कार से मनोहर प्रतीत होता हुआ आश्चर्यजनक

1- अविद्यमाने पुनरेतस्मिन् उत्पाद्यलवलावण्यललाम्नि प्रकरणे निष्कारणविस्मरणवैरस्यामितिहसांशास्येवरूपकस्यापि विरूपकतापत्तिनिमित्ततामवगाहते ।

- व0 जी0 (डा0 कृष्णमूर्ति) पृ025।

2- प्रबन्धस्यैकदेशानां फलबन्धानुबन्धवान् ।
उपकार्योपकर्तृत्वपरिस्पन्दः परिस्फुरन ।।

आसामान्यसमुल्लेखेप्रतिभाप्रतिभासिनः ।
मूले नूतनवक्रत्वरहस्यं कस्यचित कवेः ।।

- व0 जी0, 4/5-6

वक्रता की सृष्टि से उत्पन्न सौन्दर्य को पुष्ट करता है, [1] वहाँ चतुर्थ प्रकार की प्रकरण वक्रता होती है। काव्य में क्रतिपय ऐसे सरस प्रसङ्ग होते है जिनका बार-बार वर्णन करने से रसपरिपाक मे सहायतया मिलती है। यथा- सम्भोग-क्रीडा अथवा विरहावस्था आदि का वर्णन। प्रतिभावान कवि ऐसे वैचित्र्यपूर्ण वर्णन के कारण इस प्रकार के वर्णन में पुनरुक्ति दोष नही आने पाता है। यथा- 'तासवत्सराज' के द्वितीय अङ्क, चतुर्थ, पन्चम और षष्ठ अङ्को में नये-नये व्यङ्ग्य से कवि ने करूण रस को उद्दीप्त कराया है।

(5) कभी-कभी कवि सामाजिक के आनन्द के लिये चन्द्रोदय, जलक्रीडा, ऋतुवर्णन, उद्यान-बिहार इत्यादि के रोचक तथा सरस प्रसङ्गो की अवतारणा करता है--यही कुन्तक की पञ्चम प्रकरणवक्रता है। कुन्तक के अनुसार- 'महाकाव्य या नाटक आदि सर्गबन्धों के कथा वैचित्र्य के हेतु जलक्रीडा आदि जो काव्य-सौन्दर्य के लिये वर्णित किये जाते है, वे भी प्रकरणवक्रता को प्राप्त करते है।' [2] इस प्रकार, प्रबन्ध काव्यों में जलक्रीडा, कुसमावचय इत्यादि प्रसङ्ग प्रकृत कथा ने अनुरूप वर्णित, होकर सौन्दर्य-सम्पत्ति के कोश बन जाते है। [3] यथा- 'रघुवंश' में कुश की जलक्रीडा का वर्णन ।

1- प्रतिप्रकरणं प्रौढप्रतिभाभोगयोजितः ।
एक एवाभिधेयात्मा बध्यमानः पुनः पुनः ।।

अन्यूननूतनोल्लेखरसालङ्करणोज्जवलः ।
बध्नाति वक्रतोद्भेदभङ्गीमुत्पादिताद्भुताम् ।।

-- व0 जी0, 4/7-8

2- कथावैचित्र्यपात्रं तद् वक्रिमाणं प्रपद्यते ।
यदङ्गं सर्गबन्धादेः सौन्दर्याय निबध्यते ।।

-- व0 जी0, 4/9

3- वही,पृ0 514

दण्डी [1] से महाकाव्य का लक्षण करते समय जलक्रीडा इत्यादि वर्णनों को महाकाव्य के लिये आवश्यक बताया है।

(6) कुन्तक के अनुसार 'जहाँ काव्य अथवा नाटका का कोई विशेष प्रकरण प्रधानरस की अभिव्यक्ति का ऐसा परीक्षा निकष बन जाता है कि वैसा अङ्गीरस का चमत्कार अथवा उत्कर्ष पूर्व अथवा उत्तर के प्रकरणों में नहीं दृष्टिगोचर होता है, वहाँ प्रकरणवक्रता की कुछ अपूर्व वक्रता होती है। [2] इस प्रकार, कुन्तक के अनुसार यह प्रकरणवक्रता वहाँ होती है, जहाँ प्रधानरस का चरमोत्कर्ष प्रदर्शित होता है। तथा जिसके लावण्यातिशय की समता पूर्व अपर प्रकरण नही कर सकते है। [3] तथा- 'विक्रमोर्वशीयम्' का उत्तमाङ्क नामक चतुर्थ अङ्क, जिसमें विप्रलम्भ श्रृगार अङ्गीरस है।

(7) जहाँ कवि प्रधान वस्तु की सिद्धि के लिये अप्रधान वस्तु की उल्लेखनीय विचित्रता प्रस्तुत करता है,[4] वहाँ सप्तम् प्रकार की प्रकरणवक्रता होती है। अप्रधान वस्तु की अवतारणा से भी प्रबन्धमें वैचित्र्य उत्पन्न हो जाता है। यह अप्रधान वस्तु प्रासङ्गिक कथावस्तु कहलाती है।

1- काव्यादार्श 1/16

2- यत्राङ्गिरसनिष्यन्दनिकषः कोऽपि लक्ष्यते ।
पूर्वोत्तरैसम्पाद्य साङ्गादे. कापि वक्रता ।।

- व0 जी0, 4/10

3- इदमत्र तात्पर्यम् प्रधानरसक्रीडानिकतनं तत्किमपि प्रकरणं (यत्र) प्रकटतरं च वक्रताविच्छित्तिर्विद्योतते। यदीयलावण्यातिशयं मनाङ्मात्रमपि पूर्वाण्यपराणि वा प्रकरणान्तराणि नानुकर्तुं शक्नुवन्ति ।

- व0 जी0 (डा0 कृष्णमूर्ति) पृ0 266

4- प्रधानवस्तुनिष्पत्त्यै वस्त्वन्तरविचित्रता ।
यत्रोल्लसति सोल्लेखा सापराऽप्यस्य वक्रता ।।

- व0 जी0, 4/11

अप्रसाड़्गिक कथावस्तु विशेष प्रसड़्गों में प्रधान कथावस्तु की सहायता करती है। अतएव इसे भी कुन्तक ने प्रकरणवक्रता के अन्तर्गत ग्रहण किया है। इसके उदाहरण रूप में कुन्तक ने 'मुद्राराक्षस' नाटक के षष्ट अड्क के राक्षस और पुरूष की वार्ता का प्रकरण प्रस्तुत किया है। चाण्क्य राक्षस को जीवित ही बन्दी बनाना चाहता था - इसी प्रधान उद्देश्य की सिद्धि के लिये इस प्रक्रण की उद्भावना की गयी है।

कुन्तक की द्वितीय प्रकरणवक्रता के अन्तर्गत इस प्रकरणवक्रता का अन्तर्भाव किया जा सकता है।

(8) नाटक के अन्दर वर्णित नाटक 'गर्भाड्क' कहलाता है। कुन्तक के अनुसार गर्भाड्क का नियोजन भी प्रकरणवक्रता का एक प्रकार है। उनका कथन है कि 'सामाजिकों के मनोंरन्जन मे निपुण नटों के द्वारा स्वयं सामाजिक के स्वरूप को धारण कर और दूसरे नटों को नट् बनाकर एक नाटक के अन्दर जो दूसरा नाटक चित्रित होता है, वह समस्त प्रसड्गो की सर्वस्वभूत अलौकिक वक्रता को पुष्ट करता है। [1] यथा- उत्तररामचरितम्' का सप्तमाड्क।

(9) प्रबन्धकाव्यों में सहृदय की उत्सुकता को निरन्तर बनाये रखने के लिये प्रकरणों के पूर्वापर की समुचित अन्विति आवश्यक है। इसी कारण, काव्याचार्यो द्वारा नाटक तथा प्रबन्धकाव्यों में मुख, प्रतिमुख आदि सन्धियोंका विधान आवश्यक माना गया है। [2] कुन्तक ने इस अंतिम

1- सामाजिकजनाह्लादनिर्माणनिपुणैर्नटैः ।
तर्दभूमिकां समास्थाय निर्वतितिनटान्तरम् ।।

क्वाचित प्रकरणस्यान्त्रः स्मृतं प्रकरणान्तरम् ।
सर्वप्रबन्धसर्वस्वकलां पुष्णाति वक्रताम् ।।

- व0 जी0, 4/12-13

2- श्रृड्गारवीरशान्तानमेकाऽड्गी रस इष्यते ।
अड्गानि सर्वेऽपित्र रसा. सर्वे नाटकसन्ध्यः ।।

- साहित्यदर्पण 6/317

प्रकरण-वक्रता के द्वारा सन्धि-सन्निवेश के महत्व को ही स्वीकार किया है । उनका कथन है कि 'मुख, प्रतिमुख आदि सन्धियों के यथोचित सन्निवेश से मनोहर तथा पूर्वापर सङ्गति से अङ्गों का उचित रूप से सन्निवेश भी प्रकरण-वक्रता है।[1] अर्थात् प्रबन्ध के प्रकरणों के पौर्वापर्य में किसी प्रकार की असङ्गति नहीं होनी चाहिये । उदाहरणार्थ कुन्तक ने 'पुष्पदूतिक' प्रकरण को उद्धृत किया है।[2]

6- प्रबन्ध-वक्रता

प्रकरण-वक्रता की विस्तृत विवेचना करने के पश्चात् कुन्तक ने प्रकरणों के समूह रूप प्रबन्ध के वैचित्र्य पर विचार किया है । प्रबन्धकाव्य का चारूत्व मूल कथानक की चारूता पर आश्रित नहीं होता है । कवि अपने प्रबन्ध कौशल से निर्जीव तथा नीरस कथानक को भी सजीव तथा सहृदयाह्लादकारी बना देता है । कवि के प्रबन्ध कौशल का ही चमत्कार है कि एक ही इतिवृत को लेकर अनेक प्रबन्धकाव्यों की रचना होती है । और वे परस्पर सर्वथा भिन्न हैं । प्रबन्ध-कौशल की इसी महनीयता के कारण कुन्तक ने प्रबन्ध-काव्यों में भी वक्रता का अस्तित्व स्वीकार किया है।[3]

1- मुखाभिसन्धिसन्ध्यादिसंविधानकबन्धुरम् ।
पूर्वोत्तरादिसङ्गत्या अङ्गानां सन्निवेशम् ।।
न त्वमार्गग्रहग्रस्तग्रहकाण्डकदर्थितम् ।
वक्रतोल्लेखलावण्यमुल्लासयति नूतनम् ।।
- व0 जी0, 4/14-15

2-वही, पृ0 526-27

3- वक्रतोल्लेखवैकल्यं न समान्येऽवलोक्यते ।
प्रबन्धेषु कवीन्द्राणां कीर्तिकन्देषु किं पुनः ।।
- व0 जी0 अन्तरश्लोक 4/43

प्रबन्धवक्रता की परिभाषा प्रकरण-वक्रता के ही साथ करते हुये कुन्तक ने कहा है कि 'प्रकरण अथवा प्रबन्ध मे सहज और आहार्य सुकुमारता से रमणीय जो वक्रभाव होता है, उसे क्रमशः प्रकरणवक्रता और प्रबन्ध-वक्रता कहते हैं। [1] अर्थात् अपनी प्रतिभा और शिक्षा के आधार पर कवि मूलकथानक मे जिस नवीनता तथा सहृदयाह्लादकारित्व का आधान करता है, उसे प्रबन्ध-वक्रता कहते हैं ।

अन्य वक्रोक्ति-भेदों के सदृश प्रबन्ध-वक्रता के भी अनेक प्रबन्ध कुन्तक ने किये हैं -

(1) प्रबन्ध में वक्रता आधान हेतु कभी-कभी कवि अपने प्रबन्ध में मूलकथानक के रस में भी परिवर्तन कर देता है । यही कुन्तक की प्रथम प्रबन्धवक्रता है । कुन्तक का मत है कि 'जहाँ मूल ऐतिहासिक कथानक में जिस रस-सम्पत्ति का निर्वाह किया गया है, उसकी उपेक्षा करके कवि सहृदयाह्लाद की सृष्टि करने हेतु नवीन रस को प्रस्तुत करता है, वहाँ प्रबन्धवक्रता होती है। [2] उदाहरणार्थ - 'उत्तररामचरितम्' और 'वेणीसंहार' की कथा का आधार क्रमशः 'रामायण' और 'महाभारत' है । प्राचार्यो के मत मे 'रामायण और 'महाभारत' दोनों है । का प्रधानरस शान्तरस है। [3] परन्तु कवि के प्रबन्ध कौशल से मूलरस शान्त में परिवर्तन होकर 'उत्तररामचरितम्' में अड्.गीरस के रूप में करूण और 'वेणीसंहार' मे वीररस की अभिव्यक्ति हुयी है। [4]

1- व0 जी0, 1/21

2- इतिवृत्तान्यथावृत्तरससम्पदपेक्षया ।
रसान्तरेण रम्येण यत्र निर्वहणं भवेत् ।।
तस्या एवं कथामूर्तेरामूलोन्मीलितश्रियः ।।
विनेयानन्दनिष्पत्तयै सा प्रबन्धस्य वक्रता ।।

- व0 जी0, 4/16-17

3- रामायणमहाभारतयोश्च शान्ताङ्गित्वं पूर्वसूरिभिरेवनिरूपितम् ।।
- वही, पृ0 529

4- व0 जी0 (डा0 कृश्णमूर्ति) पृ0 275-76

(2) जहाँ श्रेष्ठ कवि तीनों लोकों में अपूर्व वर्णन के कारण नायक के उत्कर्ष को पुष्ट करने वाले इतिहास के एक अंश से, उसके बाद की कथा में विद्यमान नीरसता का परित्याग करने की इच्छा से, प्रबन्ध को समाप्त कर देता है, वहाँ भी प्रबन्ध की वक्रता होती है।[1] कुन्तक के इस कथन का आशय है कि कवि-प्रसिद्ध इतिवृत की कथा को आरम्भ तो करता है किन्तु कथा की समाप्ति उसके ऐसे भाग से ही कर देता है, जो नायक के चरित्र की चरम उत्कृष्टता से पूर्ण हो, क्योंकि कवि का प्रधान उद्देश्य नायक के चरित्र का चरमोत्कर्ष प्रतिपादित करना ही होता है तथा कवि के इस उद्देश्य की पूर्ति में आगे की कथावस्तु बाधक होती है । यथा - 'किरातार्जुनीयम्' । 'किरातार्जुनीयम्' के प्रारम्भिक भाग से प्रतीत होता है कि कवि प्रारम्भ से लेकर दुर्योधन के नाश और युधिष्ठिर के राज्यारोहरण तक सम्पूर्ण कथा-वर्णन का उपक्रम कर रहा है, किन्तु ऐसा नहीं होता है । किरातवेशधारी शिव के साथ अर्जुन के युद्ध के बाद ही कथा समाप्त हो जाती है । इस प्रकार, कथा का अन्त करने से नायक की वीरता का पूर्ण प्रुत्कर्ष चित्रित हुआ है और उतरवर्ती नीरस प्रसङ्गों का परिहार हो गया है ।

(3) कुन्तक के अनुसार प्रधान कथावस्तु का विरोधान कर देने वाले दूसरे कार्य के विघ्न से विच्छिन्न तथा नीरस हो गयी कथा, वहीं उस प्रधान कार्य की सिद्धि हो जाने से प्रबन्ध

1- त्रैलाक्याभिनवोल्लेखनायकोरकर्षपोषिणा ।
इतिहासैकदेशेन प्रबन्धस्य समापनम् ।।
तदुत्तरकथावर्तिविरसत्वजिहासया ।
कुर्वीत यत्र सुकविः सा विचित्रास्यवक्रता ।।

- व0 जी0, 4/18-19

की निर्विघ्न रस से देदीप्यमान किसी अपूर्व वक्रता को पुष्ट करती है।[1] प्रबन्ध के अविच्छिन्न प्रवाह के लिये आवश्यक है कि प्रधान कथावस्तु के आधिकारिक फल की सिद्धि का उपाय निरन्तर बना रहे । कभी-कभी कवि प्रधान कथावस्तु के आधिकारिक फल की सिद्धि के उपाय को तिरोहित कर देने वाले किसी कार्यान्तर को प्रस्तुत करके कथा को विच्छिन्न कर देता है, किन्तु कथा-विच्छेद होने पर भी कथानक नीरस नहीं होने पाता क्योंकि कवि अपने काव्य-कौशल से उस कार्यान्तर के द्वारा ही प्रधान कथावस्तु के आधिकारिक फल की सिद्धि करा देता है । इस प्रकार, कार्यान्तर आधिकारिक फल की सिद्धि में बाधक नहीं, अपितु साधक होता है । उदाहरणार्थ - 'शिशुपालवध' महाकाव्य का आधिकारिक फल है - शिशुपाल का वध । प्रथम सर्ग में 'ओमित्युक्तवतोऽथ शर्ङ्गिणः'।[2] इत्यादि कथन से नायक श्रीकृष्ण उस फल की सिद्धि के लिये दृढ़प्रतिज्ञ प्रतीत होते हैं । इन्द्रप्रस्थ के प्रति प्रस्थान से उस आधिकारिक फल की सिद्धि का उपाय तिरोहित हो जाता है, किन्तु कवि ने अपने कौशल से इन्द्रप्रस्थ के प्रति प्रस्थान रूप कार्यान्तर के द्वारा ही शिशुपालवध रूप

1- प्रधानवस्तुसम्बन्धतिरोधानविधायिना ।
कार्यान्तरान्तरायेण विच्छिन्नविरसा कथा ।।
तत्रैव तस्य निष्पत्तेः निर्निबन्धरसोज्जवलाम् ।
प्रबन्धस्यानुबध्नाति नवांकामपि वक्रताम् ।।
- वही, 4/20-21

2- ओमित्युक्तवतोऽथ शार्ङ्गिणः इति व्याहृत्य वाचं नभस्तस्मिन्नुत्पतिते पुरः सुरमुनाविन्दो श्रियं विभृति शत्रूणामनिशं विनाशपिशुनः क्रुद्धस्य चैद्यं प्रतिः व्योम्नीवं भ्रकुटिच्छलेन वदने केतुश्चकारास्पदम् ।
- शिशुपालवध, 1/75

अधिकारिक फल की सिद्धि करा दी है । इन्द्रप्रस्थ में धर्मराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में श्रीकृष्ण के अग्रपूजा रूप सम्मान को सहन न कर पाने के कारण शिशुपाल का वध करते हैं । इस प्रकार, कार्यान्तर के द्वारा ही आधिकारिक फल की सिद्धि हो जाती है ।

4- जहाँ कवि नायक को किसी एक फल-विशेष की प्राप्ति में तत्पर दिखाकर, क्रमशः ऐसी स्थितियों की सृष्टि करता जाता है कि नायक को फलविशेष के अतिरिक्त अन्य स्पृहणीय फलों की भी प्राप्ति हो जाती है, वहाँ भी प्रबन्धवक्रता होती है । कुन्तक का मत है कि जहाँ प्रभूत यशःसमृद्धि का पात्र नायक अपने माहात्म्य के चमत्कार से एक ही फल की प्राप्ति में लगा हुआ होने पर भी उसी के सदृश सिद्धियों वाले दूसरे असख्य फलों के प्रति निमित बन जाता है, वह अन्य प्रबन्ध-वक्रता होती है। ।। 'नागानन्द' रूपक मे मुख्यतया पितृसेवा के लिये वन को गया हुआ नायक गन्धर्व-कन्या मलयवती से प्रेम-विवाह करता है तथा शंखचूड नामक नागकन्या की रक्षा के लिये अपने प्राणों का उत्सर्ग कर नागकुल की रक्षा करता है । इस प्रकार, नायक को मुख्यफल पितृसेवा के सौभाग्य के अतिरिक्त गन्धर्वकन्या मलयवती की प्राप्ति तथा नागाकुल की रक्षा रूप आनुषङ्गिक फलों की भी प्राप्ति हो जाती है ।

1- यत्रैक फलसम्पत्तिसमुद्युक्तोऽपि नायकः।
फलान्तरेष्वनन्तेषु तत्तुल्यप्रतिपत्तिषु ।।
धत्ते निमित्ततां स्फारयथः सम्भारभाजनम्।
स्वमाहात्म्यचमत्कारात् सापरा चास्य वक्रता ।।

- व0 जी0, 4/22-23

(5) काव्यरचयिता अपने काव्य को एक ऐसा लघु तथा आकर्षक अभिधान प्रदान करने का प्रयत्न करता है, जो प्रधान कथावस्तु का अभिव्यञ्जक हो । आचार्य विश्व0 ने नाटक के प्रसङ्ग में अभिधान अथवा शीर्षक की इस विशेषता को स्वीकार किया है।[1] कुन्तक की पञ्चम प्रबन्धवक्रता नामकरण के वैशिष्ट्य पर ही आधृत है । कुन्तक का मत है कि 'कवि कथावस्तु में वैदग्ध्य दिखाकर नहीं, अपितु प्रधान कथा के द्योतक नाम से भी काव्य में कुछ अपूर्व सौन्दर्य उत्पन्न कर देता है।'[2] यथा - 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' मुद्राराक्षस, मृच्छकटिकम् आदि ।

(6) एक ही कथा को उपजीव्य बनाकर भिन्न-2 कवि स्वप्रतिभा से एक दूसरे से सर्वथा भिन्न प्रबन्धों की रचना करते हैं । कुन्तक ने कवि के इस कौशल को प्रबन्धवक्रता के अन्तर्गत रखा है । उनका कथन है कि 'एक ही श्रेणी मे बँधे हुये अर्थात एक ही कथा के आधार पर महाकवियों द्वारा निर्मित काव्य-नाटकादि परस्पर विलक्षण होने से किसी अपूर्ववक्रता को पुष्ट करते हैं।[3] यह पारस्परिक विलक्षणता विस्तृत प्रसङ्ग को

1- नाम कार्य नाटकस्य गर्भितार्थप्रकाशनम् ।
- साहित्यदर्पण 6/142

2- आसवां वस्तुषु वैदग्ध्यं काव्ये कामपि वक्रताम् ।
प्रधानसंविधानाङ्कनाम्नापि कुरुते कविः ।।
- व0 जी0, 4/24

3- अप्यककक्षया बुद्धा काव्यबन्धाः कवीश्वरैः ।
पुष्णन्त्यनर्धामन्योन्यवैलक्षण्येन वक्रताम् ।।
- वही, 4/25

विस्तृत करके तथा नये-नये शब्दों, अर्थों और अलकारों के प्रयोग से उत्पन्न की जाती है।[1] इस प्रकार के प्रबन्ध कथानक की उत्पति के समान होने पर भी अपने-2 गुणों से उसी प्रकार भिन्न प्रतीत होते हैं, जिस प्रकार प्राणी शरीर के समान होने पर भी अपन-2 गुणों से भिन्न-भिन्न प्रतीत होते है।[2] यथा - एक ही रामकथा के आधार पर रामाभ्युदय, उदात्तराघव, वीरचरित, बालरामायण, कृत्यारावण, मायापुष्पक आदि अनेक प्रबन्ध लिखे गये है । परन्तु सभी एक दूसरे से विलक्षण सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं।

(7) सबसे अन्त में कुन्तक महाकवियों के उन सभी प्रबन्धों में वक्रता स्वीकार करते हैं, जो नये-नये उपायों से सिद्ध होने वाले नीतिमार्ग का उपदेश करते हैं।[3] अनेक ऐसे प्रबन्ध होते है, जिनमे साम, दाम, दण्ड और भेद से सम्बन्धित नवीन उपायों के द्वारा उद्देश्य की सिद्धि का चित्रण किया जाता है, जिससे अध्येता को उपदेश की प्राप्ति होती है । यथा - 'मुद्राराक्षस' नाटक में चाणक्य और राक्षस की तीव्र बुद्धि के प्रभाव से नीति के नाना प्रकार के व्यापार दृष्टिगोचर होते हैं और इनसे नीति का उपदेश प्राप्त होता है।

1- कीदृशैः - एकत्र विस्तीर्ण वस्तु संक्षिप्तद्भिः, अन्यत्र संक्षिप्तं वा विस्तारयद्भिः ।
अपि वा विचित्रवाच्यवाचकालङ्करणसङ्कलनया नवतां नयद्भि. ।

- व0 जी0, 538

2- कथोन्मेषसमानेऽपि वपुषीव निजर्गुणैः।
प्रबन्धाः प्राणिन इव प्रभासन्ते पृथक्-पृथक् ।।

- व0 जी0, अन्तरश्लोक 4/42

3- नूतनोपायनिष्पन्ननयवर्त्मोपदेशिनाम् ।
महाकविप्रबन्धानां सर्वेषामस्ति वक्रताम् ।।

- व0 जी0 4/26

प्रकरण-वक्रता तथा प्रबन्ध-वक्रता के द्वारा कुन्तक ने प्रबन्ध विधान के प्रमुख अङ्ग कथानक या वस्तु-संयोजन पर प्रकाश डाला है । वस्तु के सुष्ठ-सयोजन हेतु रचयिता को अनेक बातों पर ध्यान रखना होता है । वस्तु यथा - मूलकथा में उचित परिवर्तन, घटनाओं का औचित्यपूर्ण पूर्वापर क्रम तथा उपकार्योपकारकभाव, प्रासङ्गिक कथावस्तु की सार्थकता, कथानक के अनुकूल चन्द्रोदयादि का चित्रण, पाठक अथवा दर्शक के औत्सुक्य को निरन्तर बनाये रखना, कथानक का प्रधान-रस की निष्पति मे सफल होना तथा प्रबन्ध का आदर्शोन्मुख होना इत्यादि । प्रकरणवक्रता तथा प्रबन्धवक्रता मे कुन्तक ने वस्तु-संयोजन के इन सभी तत्वों के आधार पर काव्य में आने वाली चारूता को स्पष्ट किया है । इसके अतिरिक्त प्रथम प्रकरण वक्रता तथा द्वितीय और चतुर्थ प्रबन्ध-वक्रता के द्वारा उत्कृष्ट चरित्र-चित्रण के महत्व को भी स्वीकार किया है । नामकरण-वक्रता प्रबन्ध-विधान का आभ्यन्तरिक तत्व नहीं है, किन्तु नामकरण के सौष्ठव से प्रबन्ध के प्रति पाद्य विषय का स्वरूप बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है । इसी कारण, इसे भी कुन्तक ने वक्रता-प्रभेदों में ग्रहण कर लिया है ।

वक्रोक्तिवाद का प्रवर्तन

अनुभूति और अभिव्यक्ति मानव-मात्र की स्वाभाविक प्रवृत्ति है, तथापि कतिपय प्रतिभा व्यक्तियों की मनोरम अभिव्यक्ति ही सहृदय को भावाभिभूत करने में समर्थ होती है । इसी मनोरम अभिव्यक्ति को 'काव्य' कहा जा सकता है । अतएव, काव्य के दो पक्ष सिद्ध होते हैं - अनुभूति और अभिव्यक्ति। अनुभूति सर्वसाधारण को भी होती है, किन्तु मनोरम अभिव्यक्ति की सामर्थ्य केवल कवि में होती है । अतः, काव्य की दृष्टि से अभिव्यक्ति का विशेष महत्व है । अभिव्यक्ति के समर्थ माध्यम शब्द और अर्थ है, किन्तु साधारण रूप से अभिव्यक्त शब्दार्थ

काव्य नहीं कहा जा सकता है । विशिष्ट रूप से अभिव्यक्त शब्दार्थ को ही काव्य कहा जा सकता है । शब्दार्थ के इसी वैशिष्ट्य के अनुसन्धान के परिणामस्वरूप विभिन्न काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का प्रवर्तन और प्रचलन हुआ ।

शब्दार्थ की विशेषता के अनुसन्धान के क्रम मे सर्वप्रथम अलङ्कारशास्त्रियों की दृष्टि अलङ्कार प्रयोग पर गयी । व्यक्ति की यह स्वाभाविक इच्छा होती है कि अपने कथ्य को इस रूप में प्रस्तुत करें, जिससे वह सुबोध होने के साथ-साथ प्रभावोत्पादक भी हो जाये । इसी मनोवैज्ञानिक आधार पर अलङ्कारशास्त्रियों ने काव्य में प्रयुक्त तकनीक को 'अलङ्कार' के रूप में स्वीकार किया था । सर्वप्रथम भामह ने अलङ्कारों का व्यवस्थित विवेचन तथा दण्डी ने अलङ्कारों को काव्यशोभाकारक धर्म स्वीकार किया, किन्तु शनै.-शनै. अलङ्कारशास्त्रियों का ध्यान शब्दार्थ की कृत्रिमता पर अधिक केन्द्रित होने लगा, अनुभूति पक्ष गौण हो गया । शब्दार्थ को चमत्कृत करने वाली विशेषताओं का सङ्कलन तथा उन्हें नवीन संज्ञा प्रदान करना ही प्रधान उद्देश्य बन गया । वही कवि प्रशसनीय माना जाने लगा, जो श्लेष और यमक के चमत्कारी प्रयोगों द्वारा सहृदय को बौद्धिक व्यायाम करने के लिये विवश कर दे तथा उपमादि सुबोध अलङ्कारों के स्थान पर विरोध, परिसंख्या, असङ्गति, अतिशयोक्ति आदि अलङ्कारों का प्रयोग करके पाठक को चमत्कृत कर दे । दर्शन तथा गणित आदि शास्त्रों के दुर्बोध सिद्धान्तों को उपमान के रूप में ग्रहण करना श्रेयस्कर समझा जाने लगा।

1- काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते ।

- काव्यादर्श 2/1

'माघेनेव च' माघेन कम्प कस्य न जायते' तथा 'उदते नैषधे काव्य क्व माघ क्वच भारविः' इत्यादि अ..तियाँ इसी प्रवृत्ति की द्योतक हैं । किन्तु, इस प्रवृति के सर्वश्रेष्ठ निदर्शन श्री हर्ष की कविता सहृदय को उतना अधिक अभिभूत न कर सकी, जितनी भावपक्ष और कलापक्ष के मध्य समन्वित कालिदास की कविता । परिणामस्वरूप, कालान्तर में अलङ्कारों के अत्यधिक प्रयोग के प्रति निष्ठा समाप्त होने लगी ।

अलङ्कार मत ने काव्य को चमत्कृत करने वाली विशेषताओं का विवेचन, विश्लेषण और उन्हें एक नवीन संज्ञा प्रदान करने में ही सन्तोष कर लिया था । उन विशेषताओं में परस्पर भेद करने की चेष्टा नहीं की गयी थी और न ही सूक्ष्मता से इस बात पर विचार किया गया था कि काव्य और अलङ्कार वैसे ही पृथक-2 हैं, जैसे शरीर और प्रसाधन सामग्री । अलङ्कारवादी आचार्य गुणों और अलङ्कारों को एक ही समझते थे।[1] रीति-सम्प्रदाय के संस्थापक वामन ने गुणों और अलङ्कारों में स्पष्ट भेद माना और गुणों को रीति से सम्बद्ध किया । वामन के अनुसार गुण काव्यशोभा के विधायक धर्म हद्यै।[2] जबकि अलङ्कार उस शोभा के वृद्धिकारक हेतु होते है।[3] गुण ही रीतियों के आधार हैं[4] और रीति काव्य की आत्मा है।[5]

1- उद्भयमिस्तु गुणालङ्काराणां प्रायशः साम्यमेव सूचितम् ।
- अलङ्कारसर्वस्व, पृ09।

2- काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः ।
- काव्यालङ्कारसूत्र 3/1/1

3- तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः । - वही, 3/1/2

4- विशेषो गुणात्मा । - वही, 1/2/8

5- रीतिरात्मा काव्यस्य । - वही, 1/2/6

इस प्रकार, अलङ्कारों और गुणों का स्पष्ट भेद करने के कारण रीति-वादियों का महत्व अलङ्कारवादियों की अपेक्षा अधिक है । किन्तु गुणों का विस्तृत विवचन करने पर भी रीतिवादी वास्तविक 'गुणी' को पहचान न सके । उन्होंने गुणों का सम्बन्ध रीति से बताया, जो काव्य की बाह्याकृति बनकर ही रह गयी । वामन के परवर्ती रीतिवादियों ने शब्द तथा वर्ण स्थापना के नियम निर्धारण पर इतना अधिक बल दिया कि वे भी अलङ्कारवादियों के समान अपने को अतिवादी दृष्टि से बचा न सके । रीति-सिद्धान्त में विशेष भाव-स्थिति के प्रकाशन हेतु विशेष पदरचना और वर्णसंयोजना निश्चित कर दी गयी [1] और परवर्ती कवि उसी का अनुसरण करना श्रेयस्कर समझने लगे । इसके अतिरिक्त रीति-सिद्धान्त में विशिष्ट प्रदेश के कवियों की विशिष्ट रीति स्वीकार की गयी। [2] इन दो कारणों से कवि-व्यापार की स्वाभाविकता का स्थान अभ्यास और शिक्षा ने लिया। वही दोष रीति सम्प्रदाय मे भी उत्पन्न हो गया, जो अलङ्कार सम्प्रदाय की अवनति का कारण बना था ।

रीति-सम्प्रदाय ने भी अलङ्कार-सम्प्रदाय के समान अभिव्यञ्जना अथवा कलापक्ष को प्रधानता दी, अनुभूति अथवा भावपक्ष से सम्बद्ध अनेक प्रश्नों की उपेक्षा कर दी । इस ओर रसध्वनिवादी विवेचकों ने ध्यान दिया । अलङ्कार-सम्प्रदाय के पूर्व ही नाट्यशास्त्र में भरतमुनि रससिद्धान्त का प्रतिपादन कर चुके थे । काव्य-शास्त्र मे भी रस का विवेचन हुआ, किन्तु इतने

1- वैदर्भीपाञ्चाल्या प्रेयसि करूणे भयानकाद्भुतयोः लाटीयागौडीये रौद्रे कुर्याद्यथौचित्यम् ।।

- काव्यालङ्कार (रू०) 15/20

2- विदर्भादिषु दृष्टत्वात् तत्समाख्या ।

- काव्यालङ्कारसूत्रम् 1/2/10

प्रबल रूप मे नहीं जितना भरतमुनि के नाट्यशास्त्र मे हुआ था । यद्यपि रस-सिद्धान्त ने अलङ्कार और रीति-सम्प्रदाय की अपेक्षा काव्यात्मा को पहचानने का सफल प्रयास किया था, तथापि रसवाद मे भी स्फुट छन्दों को काव्यकोटि म ग्रहण करने के लिये विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों की सङ्गति दिखाना असम्भव था । ध्वनि-सिद्धान्त के प्रवर्तक आनन्दवर्धन ने अत्यन्त गहनता से इन समस्याओं पर विचार किया । रसध्वनि को प्रधान मानते हुये भी उन्होंने फुटकर छन्दों में काव्य सिद्ध करने के लि. वस्तु-ध्वनि और अलङ्कार-ध्वनि को भी स्वीकार किया था। [1] वस्तु तथा अलङ्कार को ध्वनि का आधार प्रदान क. के आनन्दवर्धन ने वस्तु, ध्वनि अलङ्कार तथा रीति को काव्य में उचित स्थान प्रदान किया [2] तथा काव्य को अतिवादी दृष्टियों से मुक्त किया । आनन्दवर्धन ने काव्य में उन्हीं अलङ्कारों को श्रेयस्कर माना जो रस द्वारा आक्षिप्त हों तथा जिनके लिये कवि को यत्न न करना पड़े। [3] आनन्दवर्धन की इस मान्यता से काव्य शब्द-जाल से मुक्त होकर सरलता की ओर उन्मुख हो चला । ध्वनि-सम्प्रदाय में कवि-कल्पना के साथ सहृदय मे भी कल्पना-शक्ति को आवश्यक माना गया । सहृदय की योग्यता पर विचार किया गया तथा उसने काव्यानुशीलन की अपेक्षा की गयी। [4] काव्यशास्त्र को ध्वनि सम्प्रदाय की यह देन अत्यन्त महत्वपूर्ण है ।

1- स ह्यर्थो वाच्य सामर्थ्याक्षिप्त वस्तुमात्रमलङ्कारसादयश्चेत्यनेकप्रभेदप्रभिन्नो दर्शयिष्यते।

- ध्वन्यालोक, प्र0 उ0, पृ0 73

2- ----- यतः काव्यविशेषोऽङ्गीध्वनिरिति कथित । तस्य न पुनरङ्गानि अलङ्कारा गुणा कृतयश्चेति प्रतिपादयिष्यते ।

- वही, प्र0 उ0, पृ0 238

3-रसाक्षिप्ततया तस्य बन्ध शक्यक्रियो भवेत् ।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य. सोऽलङ्कारो ध्वनौ मतः ।।

- वही, 2/16

4- सोऽर्थो यत्मात्केवलं काव्यार्थतत्वज्ञैरेव ज्ञायते ।

- ध्वन्यालोक, प्रथम उद्योत, पृ0 158

संस्कृत काव्यशास्त्र के विकासक्रम की महती विशिष्टता है कि पूर्वकाल में जिस सिद्धान्त या विचार की स्थापना हुयी । परवर्ती काल में वह सम्पूर्णतया तिरस्कृत न होकर आगामी विचार का अङ्ग बन गया । ध्वनि-सम्प्रदाय ने भी ध्वनि को काव्यात्मा के रूप मे प्रतिष्ठित किया था तथा अलङ्कार, रीति आदि सिद्धान्तों को उसके अङ्गरूप में स्वीकार करके सभी सिद्धान्तों का समन्वय कर लिया था ।

इस प्रकार, शब्द-तत्व से अर्थ-तत्व तक के विश्लेषण की इस विचार-परम्परा में रूप तथा आत्मा की पृथकता तथा उसके सामाञ्जस्य आदि के सम्बन्ध में अनेक सिद्धान्त प्रचलित हुये । इन सब की सफल परिणति ध्वनि सम्प्रदाय में हुयी, किन्तु ध्वनि-सम्प्रदाय अपने विरोधियों को पूर्णतः समाप्त न कर सका । ध्वनि-सिद्धान्त की दृढभिति पर आघात दो ही प्रकार से सम्भव था । ध्वनि के समस्त भेदों का खण्डन करके स्वमत का मण्डन अथवा ध्वनि के समस्त प्रपञ्च को शब्दार्थ के किसी अन्य वैशिष्ट्य में समाहित कर लेना । इनमें महिमभट्ट ने प्रथम मार्ग का अनुसरण किया, जबकि कुन्तक ने द्वितीय मार्ग का । किन्तु, महिमभट्ट ने समस्त ध्वनि-भेदों को न्यायशास्त्र द्वारा स्वीकृत 'अनुमान' का विषय सिद्ध करके [1] काव्यशास्त्र को दर्शन-शास्त्र बना डाला । यही कारण था कि महिमभट्ट अपने प्रयत्न में सफल न हो सके ।

1- अनुमानेन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम् ।

व्यक्तिविवेकं कुरूते प्रणम्य महिमा परां वाचम् ।।

- हिन्दी व्यक्तिविवेक 1/1

यद्यपि, कुन्तक का वक्रोक्ति सिद्धान्त उन्हीं तक सीमित रहा, तथापि महिमभट्ट की अपेक्षा कुन्तक अपने उद्‌दश्य मे अधिक सफल हुये । कुन्तक अभिधावादी आचार्य थे । आनन्दवर्धन द्वारा प्रतिपादित व्यञ्जना शक्ति का तिरस्कार करने के लिये ही कुन्तक ने अभिधा को शब्दार्थ की एकमात्र शक्ति माना था, किन्तु कुन्तक की अभिधा 'विचित्र-अभिधा' है।[1] जिसमें लक्षणा और व्यञ्जना भी सन्निहित हो जाती है । वक्रोक्ति-सम्प्रदाय अलङ्कार-सम्प्रदाय का ही विकास माना जा सकता है । अलङ्कार-सम्प्रदाय का आधार चमत्कार मूलक कल्पना है । किन्तु वक्रोक्ति का आधार कवि-प्रतिभाजन्य मौलिक कल्पना है । इस कारण, वक्रोक्ति-सिद्धान्त का क्षेत्र वर्ण-चमत्कार, शब्द-सौन्दर्य, विषयवस्तु की रमणीयता, अप्रस्तुत-विधान और प्रबन्ध-कल्पना से लेकर अलङ्कार, रीति, ध्वनि और रस तक होने के कारण अतिविस्तीर्ण है । वक्रोक्ति सिद्धान्त ने भी ध्वनि-सिद्धान्त के समान अनुभूति और अभिव्यञ्जना-भावपक्ष और कलापक्ष दोनों का समान महत्व स्वीकार किया ।

इस प्रकार, स्पष्ट है कि कुन्तक ने ध्वनि-सिद्धान्त का तिरस्कार करने के लिये ही वक्रोक्ति-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया । कुन्तक का यह वक्रोक्ति-सिद्धान्त 'वक्रोक्तिवाद' नामक काव्य-सम्प्रदाय के रूप मे प्रतिष्ठित हुआ । किनतु इस काव्य-सम्प्रदाय के समर्थकों का उल्लेख संस्कृत काव्यशास्त्रीय परम्परा मे प्राप्त नहीं होता है । 'साहित्यमीमासा' में वक्रोक्ति-सिद्धान्त का समर्थन अवश्य प्राप्त होता है, किन्तु इसके रचयिता के सम्बन्ध में विवाद है ।

1- विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते ।

- व0 जी0, पृ0 5।

वक्रोक्ति तथा भारतीय काव्य सिद्धान्त

वक्रोक्ति तथा अलङ्कार सिद्धान्त

आचार्य कुन्तक ने जिस वक्रोक्ति के द्वारा कविता के विश्लेषण का एक सम्पूर्ण शास्त्र ही दिया, उसका इतिहास अत्यन्त प्राचीन है । काव्य की आत्मा की खोज में ही भारतीय काव्यशास्त्र ने अलङ्कार, रीति, वक्रोक्ति, रस, ध्वनि और औचित्य आदि सम्प्रदायों को जन्म दिया, किन्तु जितना उत्थान और पतन इस वक्रोक्ति सम्प्रदाय को देखना पड़ा उतना किसी और को नहीं । रस और ध्वनि सम्प्रदाय की यात्रा राजपथ की यात्रा है, परन्तु वक्रोक्ति सिद्धान्त को बन्धुर-पथ से होकर बार-बार चलना पड़ा है ।

अलङ्कारशास्त्र की परम्परा में अलङ्कार के सम्बन्ध में दो मत प्रचलित थे । 'अलङ्कार' शब्द की दो व्युत्पत्तिपरक व्याख्याएँ हैं - 'अलङ्करोतीति अलङ्कार:' तथा 'अलङ्क्रियतेऽनेनेति अलङ्कार:'। अनेक अलङ्कारशास्त्रियों द्वारा अलङ्कार की विभिन्न परिभाषाएँ दी गयीं। [1]

इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि अलङ्कार के सम्बन्ध में दो मत प्रचलित थे । अलङ्कार सम्प्रदाय के समर्थक भामह, उद्भट आदि ने अलङ्कार को काव्य का स्वरूपाधायक तथा रस, रीति, ध्वनि

वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृति: ।
- काव्यालङ्कार (भा०) 1/36

काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते ।
- काव्यादर्श (द०) 2/1

काव्यशोभाकर्तारो धर्मा गुणा: ।
तदतिशयहेतवस्त्वलङ्कारा: ।।
- काव्यालङ्कारसूत्र (वा०) 3/1/1-2

अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्या: कटकादिवत् ।
- ध्वन्यालोक 3/5

शब्दार्थयोरस्थिरा: ये धर्माश्शोभातिशायिन: ।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलङ्कारास्तेऽङ्गदादिवत् ।।
- साहित्यदर्पण 10/1

और औचित्य सम्प्रदायों के समर्थकों ने अलङ्कार को काव्य का शोभाधायक तत्व स्वीकार किया है। वक्रोक्तिकार आचार्य कुन्तक भी अलङ्कार को काव्य का स्वरूपाधायक तत्व स्वीकार करते हैं। उनके अनसार वक्रोक्ति ही काव्य का एकमात्र अलङ्कार है । आचार्य कुन्तक वक्रोक्ति को अलङ्कार का पर्याय मानते हैं । गुणों पर विचार करने पर भी अलङ्कार और वक्रोक्ति में अत्यधिक समानता प्रतीत होती है । अलङ्कारवादी और वक्रोक्तिवादी दोनों ने वर्ण सौन्दर्य से लेकर प्रबन्ध सौन्दर्य तक के समस्त काव्य-सौन्दर्य को अलङ्कार में समाहित कर लेने का प्रयत्न किया है। इसी कारण दण्डी ने वर्ण-संयोजन तथा वाग्वैदग्ध्य पर आधारित सन्धि, सन्ध्यङ्गवृत्ति, वृत्यङ्ग तथा लक्षण आदि को भी अलङ्कार माना है। [1]

कुन्तक की प्रबन्ध तथा प्रकरण-वक्रता भी वर्णन-शैली पर ही आश्रित है । अतः वक्रोक्ति-सिद्धान्त भी कभी-कभी नामभेद से अलङ्कार-सिद्धान्त प्रतीत होता है किन्तु इनमें साम्य के साथ-साथ वैषम्य भी कम नहीं है ।

अलङ्कारवादियों ने अलङ्कार को काव्य का अपरिहार्यतत्त्व बताया है। आचार्य रूद्रट कहते हैं। [2]

आचार्य कुन्तक ने अलङ्कार से युक्त शब्दार्थ की काव्यता स्वीकार अवश्य की है किन्तु उन्होंने वर्ण-संयोजना और वाग्वैदग्ध्य पर आश्रित अनुप्रासोपमादि अलङ्कारों को काव्य में अति महत्व नहीं दिया है। कुन्तक ने स्पष्टतः कहा है कि अलङ्कार काव्य का होता है, यह प्रसिद्धि है, न कि काव्य ही अलङ्कार है। [3]

1- यच्च सन्ध्यङ्गवृत्यङ्गलक्षणाद्यागमान्तरे।
व्यावर्णितमिदं चेष्टमलङ्कारतयैव नः ।।
- काव्यादर्श 2/367

2- रूपकादिरलङ्कारस्तथान्यैर्बहुध्योदितः।
न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम्।।
- काव्यालङ्कार 1/13

3- यस्मात् काव्यास्यालङ्कार इति प्रसिद्धिः।
न पुनः काव्यमेवालङ्करणमिति ।।
- व0 जी0, पृ0 378

आचार्य कुन्तक के अनुसार अलङ्कारों का प्रयोग मात्र विचित्रता के प्रदर्शन में न होकर सुरूचिपूर्ण और विवेकसम्मत रूप से होना चाहिये। अत काव्य के समस्त शोभाधायक धर्मों को ग्रहण करने पर भी उपमादि अलङ्कारों के प्रयोग के सम्बन्ध में कुन्तक का विचार दुराग्रहपूर्ण न होकर विवेक-सम्मत है ।

अलङ्कारवादी आचार्यों ने अलङ्कार के एक अङ्ग के रूप मे काव्य में रस के महत्व को स्वीकार किया है। आचार्य दण्डी रस के सन्दर्भ में कहते है। [1]

आचार्य रूद्रट भी रस को काव्य के अङ्ग के रूप में ही वर्णित करते हैं। [2]

आचार्य कुन्तक ने अलङ्कार-सिद्धान्त की अपेक्षा रस को अधिक महत्व दिया है और रस को अलङ्कार्य माना है न कि अलङ्कार। उन्होंने रसवत्, प्रेयस, उर्जस्वि और समाहित अलङ्कारों की अलङ्कारता का खण्डन करके इन्हें अलङ्कार्य सिद्ध किया है ।

अलङ्कार और वक्रोक्ति दोनों सिद्धान्तों में कवि-कौशल अथवा कवि-व्यापार को महत्व दिया गया है, फिर भी वक्रोक्तिजीवितकार ने कवि-स्वभाव को मूर्धन्य स्थान पर रखकर व्यक्तित्व को अधिक महत्व दिया है। [3]

अलङ्कारवादियों और वक्रोक्तिजीवितकार दोनों के अनुसार काव्य-सौन्दर्य वस्तुगत है और कवि-कौशल पर आश्रित है। [4] किन्तु वक्रोक्तिजीवितकार आचार्य कुन्तक ने अलङ्कारवादियों के

1- मधुरं रसवद् वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः।
येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः।।
- काव्यादर्श 1/51

2- तस्मात्कर्त्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्।
- काव्यालङ्कार 12/2

3- कविस्वभावभेदनिबन्धत्वेन काव्यप्रस्थानभेदः समन्जसतां गाहते।
- व0जी0, पृ0 101

4- यद्यपि रसस्वभावालङ्काराणां सर्वेषां कवि-कौशलमेव जीवितम्।
- व0 जी0, पृ0 318

सदृश भावपरक दृष्टिकोण का पूर्णतया निषेध नहीं किया है, क्योंकि उन्होंने सहृदयाह्लादकारित्व को काव्य-लक्षण में तथा सर्वत्र कसौटी के रूप में ग्रहण किया है ।

अलङ्कारवादियों का मुख्य उद्देश्य शब्दार्थ को चमत्कृत करने वाली विशेषताओं का सङ्कलन कर उन्हें नवीन अभिधान प्रदान करना रहा अतः अलङ्कार-सिद्धान्त काव्य के बहिरंग पक्ष से उलझकर रह गया । आचार्य कुन्तक ने ध्वनि-सिद्धान्त के प्रत्याख्यान के लिये ध्वनि के समस्त प्रपञ्च को वक्रोक्ति में समाहित कर लिया है । एक कवि की भाँति उनके वक्रोक्ति-सिद्धान्त में अन्तरंग का विवेचन अधिक है ।

अलङ्कार-सम्प्रदाय में वस्तु के सामान्य-धर्म को 'अलङ्कार्य' और सातिशय-रमणीय-धर्म को 'अलङ्कार' माना गया है, तथा इसे स्वाभावोक्ति अलङ्कार माना है, किन्तु कुन्तक ने सातिशय-रमणीय-धर्म को अलङ्कार्य तथा कतिपय अलङ्कारों का अन्य अलङ्कारों में अन्तर्भाव मानने के कारण उदात्त, आशीः, विशेषोक्ति, यथासंख्य, उपमारूपक, हेतु, सूक्ष्म और लेश अलङ्कारों के अलङ्कारत्व का खण्डन किया है। आशीः अलङ्कार के खण्डन में कहते हैं। [1]

विशेषोक्ति के सन्दर्भ में वह कहते हैं। [2] अलंकारों के विवेचन में कुन्तक ने मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया है। विवेकानुसार अलङ्कारों की बढती संख्या को सीमित करने का संस्कृत-काव्यशास्त्र में यह कदाचित् प्रथम और अन्तिम प्रयत्न था। वैचित्र्यविहीन अलङ्कारों का परित्याग करने के अतिरिक्त उन्होंने अनेक अलङ्कारों का अन्य अलङ्कारों में अन्तर्भाव कर दिया है। समासोक्ति

1- तेषु चाशंसनीयस्यैवार्थस्य मुख्यतया वर्णनीयत्वादलङ्कार्यत्वमिति प्रेयोऽलङ्कारोवतानि दूषणान्यापतन्ति ।

- व0 जी0, पृ0 480

2- विशेषोक्तेरलङ्कारान्तरभावेनालङ्कार्यतया च भूषणानुपपतति ।

- व0 जी0, पृ0 480

की सत्ता कुन्तक को श्लेष से पृथक नहीं मान्य है।[1]

उनके अनुसार साम्यमूलक प्रतिवस्तूपमा, तुल्योगिता, उपमेयोपमा, अनन्वय, निदर्शना और परिवृत्ति को उपमा के ही अन्तर्गत रखना चाहिये । आचार्य कुन्तक ने संदेह के सभी भेदों के उत्प्रेक्षामूलक होने के कारण सन्देह को एक ही प्रकार का स्वीकार किया है।[2]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अलंकार को काव्य का स्वरूपाधायक धर्म मानने वाले अलङ्कारवादी तथा वक्रोक्तिवादी आचार्य कुन्तक दोनों ही काव्य को चमत्कृत अथवा अलङ्कृत करने वाले तत्वों के सम्बन्ध में प्रायः समान प्रवृत्तिक होने पर भी उन तत्वों के महत्व तथा स्वरूप के सम्बन्ध में मतभेद रखते हैं ।

वक्रोक्ति तथा रीति-सिद्धान्त

साहित्य के विभावन के ही समान रीति के क्षेत्र में भी वक्रोक्ति-सिद्धान्त ने विलक्षण क्रांति उपस्थित की । भारतीय काव्यसिद्धान्त में रीति के विकास के तीन सोपान हैं। पहला सोपान वह है जब रीति देश से सम्बद्ध मानी जाती थी दूसरा सोपान वह है जब वह देश के आसङ्गो से मुक्त होकर वस्तु के साथ जोड़ दी गयी । तीसरा और सबसे महत्वपूर्ण सोपान यह है कि कुन्तक ने अपनी प्रखर मेधा और साहित्यिक प्रतिभा का उपयोग करते हुये इसे कविस्वभाव से सम्बद्ध बताया और पुरानी रीतियों के स्थान पर नयी रीतियों की स्वतन्त्र उद्भावना की । इस प्रकार आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति सिद्धान्त में रीति के क्षेत्र में भी पुराणरीति का व्यतिक्रम किया और भारतीय काव्यशास्त्र को इस क्षेत्र में भी जड़ चिन्तन से मुक्त करने में ठोस योगदान किया ।

1- श्लेषेणाभिसभिन्नत्वात् अलङ्कारान्तरशोभा-शून्यतया ।
-व0जी0, पृ0 459

2- ससन्देहस्यैकविधप्रकारत्वमुत्प्रेक्षामूलत्वात्।
- व0जी0, पृ0 474

रीति का सिद्धान्त अलङ्कारों के अति सूक्ष्म भेदों-उपभेदों की प्रतिक्रिया में उत्पन्न हुआ था। रीतिवाद ने यह स्थापना की कि कवि के प्रस्थान का मार्ग ही वह साँचा है, जिससे ढलकर अलङ्कार स्वयं निःसृत होते हैं ।

गत्यर्थक 'रीङ्' धातु से निष्पन्न 'रीति' शब्द की परिभाषा अलङ्कारशास्त्र के क्षेत्र में सर्वप्रथम आचार्य वामन ने की है। [1] इनके अनुसार 'विशिष्ट पदरचना' रीति है । पदरचना की विशिष्टता है - गुणात्मकता। [2]

रीति को पंथ और मार्ग भी कहते हैं । भारतीय साहित्य में रीति से काव्यपुरूष के गठन का बोध होता है । रीति को भौगोलिक उद्‌भावना का आधार भरत में ही मिल जाता है। उन्होंने स्पष्ट रूप से रीनि का उल्लेख तो नहीं किया है, किन्तु वे भारत के विभिन्न भागों में प्रचलित चार प्रकार की प्रवृत्तियों का उल्लेख करते हैं । भारत के पशिचमी भाग की प्रवृत्ति आवन्ती, दक्षिण भाग की प्रवृत्ति दक्षिणात्य, उड्र अर्थात उड़ीसन की तथा मगध की प्रवृत्ति उड्रमागधी और पांचाल की पांचाली है। [3]

भरत के अनुसार प्रवृत्ति का सम्बन्ध नाना देशों के वेश, भाषा तथा आचार आदि से है।

बाणभट्ट ने यह लक्ष्य किया था कि भारत के विभिन्न प्रदेशों के लोग काव्य की अलग अलग विशेषताओं में रस लेते हैं । उत्तर भारत के लोग श्लेष, पश्चिम के लोग अर्थ-गौरव, दक्षिणात्य उत्प्रेक्षा और गौड़ लोग अक्षराडम्बर पर मुग्ध होते हैं। [4]

1- रीङ्गताविति धतोरसा व्युत्पत्तया रीतिरच्यते।
-सरस्वतीकण्ठाभरण 2/27

2- विशिष्टा पदरचना रीतिः। विशेषो गुणात्मा ।
- काव्यालङ्कारसूत्र 1/2/7-8

3- चतुर्विधा प्रवृत्तिश्च प्रोक्ता नाट्यप्रयोक्तृभिः।
आवन्ती दक्षिणात्या च पाञ्चाली चौड्रमागधी।।
-नाट्यशास्त्र 13/37

4- श्लेषप्रायमुदीच्येषु प्रतीच्येष्वर्थमात्रकम्
उत्प्रेक्षा दक्षिणात्येषु, गौडेष्वक्षरम्बरः।।
- हर्षचरित 1/6

रीति की पहली स्पष्ट चर्चा भामह के काव्यालङ्कार में मिलती है। उन्होंने वैदर्भ और गौड की चर्चा रीति के रूप में नहीं, बल्कि काव्यभेद के अन्तर्गत की है। उनके विवेचन से यह साफ झलकता है कि उस समय पण्डितों का ऐसा सम्प्रदाय था, जो वैदर्भ को ही श्रेष्ठ काव्य मानता था भामह ने रीति की भौगोलिक सीमाओं को समझा था और संक्षेप में ही सही, किन्तु उसकी असारता प्रमाणित की थी। उन्होंने निभ्रान्त रूप से रीतियों की परक दृष्टि पर प्रहार किया और उसकी प्रादेशिकता को अस्वीकार किया। इस प्रकार रीति के क्षेत्र में नव्य-चिन्तन का सूत्रपात उन्हीं से होता है ।

आचार्य दण्डी ने भी बहुत दूर तक रीति की वस्तुपरक दृष्टि का तिरस्कार किया। उन्होंने स्वीकार किया है कि वाणी के मार्ग अनेक हैं, जिनमें परस्पर सूक्ष्म भेद हैं। वह वैदर्भ और गौडीय मार्गों से स्पष्ट पार्थक्य का लक्ष्य करते हैं । उन्होंने श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कांति और समाधि - ये दस वैदर्भमार्ग के गुण बतलाये हैं । गौड़ मार्ग में प्रायः इनका विपर्यय लक्षित होता है।

इस प्रकार दण्डी की स्थापना का यह निष्कर्ष है कि रीति आत्मगत तत्व है और प्रत्येक कवि की अपनी रीति होती है । लेकिन भामह की ही तरह उनका भी योगदान यह है कि उन्होंने रीतियों की सापेक्षिता पर बल दिया ।

रीति को काव्य की आत्मा घोषित करने वाले वामन ने भामह और दण्डी की वैदर्भी और गौडीय के साथ पाञ्चाली को जोड दिया। वामन में आकर रीतियाँ भौगोलिक आसंगों से मुक्त होने

1- अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्।
तत्र वैदर्भगौडीयौ वर्ण्यते प्रस्फुटान्तरौ।।
श्लेषः प्रसाद. समता माधुर्यं सुकुमारता।।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्तिसमाधयः।।
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणा स्मृता।
एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि।।
- काव्यादर्श 1/40-42

लगी और वे गुणों से स्पष्टत: अनुशासित बतलायी गयीं । वामन ने विशिष्ट पदरचना को रीति कहा - 'विशिष्ट पदरचना रीतिः'। विशेष से उनका तात्पर्य गुण से है। गद्य में शब्दों का मुख्य काम कहना है, किन्तु काव्य में शब्दों का मुख्य काम ध्वनित करना है। गद्य के शब्द केवल उक्ति की स्पष्टता के लिये प्रयुक्त होते हैं, लेकिन काव्य में शब्द आवेग को सम्प्रेषित करते हैं, इसलिये उनका विन्यास विशेष ढंग से किया जाता है। इसी हेतु राजशेखर ने वचनविन्यासक्रम को रीति कहा है। [1]

कवि की सिद्धि इस बात में है कि वह शब्दों के नियत और अनियत अनुगूँजों का समवाय उपस्थित करे । वामन ने इसी अर्थ में विशिष्ट पदरचना को रीति कहा है ।

स्वयं वामन इस 'विशेष' को गुण से सम्बद्ध करते हैं। यह गुण भी तो वस्तुतः शब्द-विन्यास का ही तो परिणाम है । वे ही शब्द जब कोश में पड़े रहते हैं, तब उनमें इन गुणों का अस्तित्व नहीं होता। किन्तु ये गुण कविकर्म से निःसृत होकर समाविष्ट हो जाते हैं । इस प्रकार इस भ्रान्त धारणा का स्वतः खण्डन हो जाता है कि काव्य के शब्द गद्य के शब्द से भिन्न होते हैं । भिन्नता शब्दकोश की नहीं, प्रत्युत पदरचना, की विशिष्टता की ही होती है, इसलिये वामन जब रीति को काव्य की आत्मा कहते हैं, तब वह सत्य के किसी न किसी पहलू को छूते नजर आते हैं ।

वामन के अनुसार वैदर्भी रीति में समस्त गुणों का सद्भाव रहता है। [2] किन्तु गुणों को ही रीतियों का आधार मानने : एक परिणाम यह हुआ कि उनकी गौड़ी दण्डी की तरह निकृष्ट कोटि

1- 'वचनविन्यासक्रमोरीतिः'

-काव्यमीमांसा, पृ0 2।

2- 'समग्रगुणा वैदर्भी'

- काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति

की गौड़ी नहीं रह गयी, प्रत्युत वह वैदर्भी के ही समान सुन्दर तथा आह्लादक हो गयी। इसमें कांति तथा ओज गुणों की प्रधानता रहती है। [1]

इसमें इन दो गुणों के कारण ओजस्विता का अधिक संचार रहता है। [2] पाञ्चाली में ओज तथा कांति गुणों का अभाव तथा माधुर्य और सौकुमार्य का सद्भाव रहता है। [3]

वामन कहते हैं कि गौडी और पाञ्चाली का ग्रहण न करें, क्योंकि इनमें गुणों की अल्पता रहती है। [4] इस प्रकार वामन रीति की समस्या को फिर उलझा देते हैं । इससे रूद्रट जैसे अपेक्षया कम प्रतिभासम्पन्न आचार्यों के लिये गलत चिन्तन का द्वार उन्मुक्त हो गया । रूद्रट ने उद्भट के अनुसार रीति को शब्दालङ्कार (अनुप्रास) के अन्तर्गत विवेचित किया है । रूद्रट ने रीति को मात्र समासाश्रित बतलाया। उनकी लाटीया पाँच-सात पदों वाली और गौडी सात या उससे अधिक पदों के समास से युक्त होती है। [5]

1- 'ओजः कान्तिमयी गौडीया'
- काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति

2- समस्तात्युद्भटपदाभोजः कान्तिगुणान्विताम्।
गौडीयामिति गायन्ति रीतिं रीतिविचक्षणाः।।
- काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, पृ0 24

3- 'माधुर्यसौकुमार्यपिपन्ना पाञ्चाली'
- काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति 1/2/13

4- तासां पूर्वा ग्राह्य गुणसाकतयात्। न पुनरितरा स्तोकगुणत्वात
- काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति

5- द्वित्रिपदा पाञ्चाली लाटीया पंच सप्त वा यावत्।
शब्दाः समासवन्तो भवति यथाशक्ति गौडीया।।
-काव्यालङ्कार 2/5

आचार्य आनन्दवर्द्धन ने रीति को संघटना कहा है सम्यक् पद-रचना ही संघटना या रीति है। वामन के लिये रीति सिद्ध है, किन्तु आनन्दवर्द्धन के लिये वह साधन मात्र है । उनके अनुसार यह संघटना गुणों के आश्रित होकर रसादि को अभिव्यक्त करती है।[1]

आनन्दवर्द्धन ने संघटना और गुणों को अन्योन्याश्रित माना है । इस प्रकार आनन्दवर्द्धन की रीति समासाश्रित है, गुणाश्रित है और वह रसाभिव्यक्ति का माध्यम है ।

वक्रोक्तिजीवितकार आचार्य कुन्तक ने आचार्य दण्डी के सदृश रीति के लिये 'मार्ग' शब्द का प्रयोग किया है । उनके अनुसार मार्ग से तात्पर्य है - कवि-प्रस्थान हेतु।[2] अभिप्राय यह है कि जिस विधि का अवलम्बन लेकर कवि काव्य रचना में प्रवृत्त होता है, उसे मार्ग कहा जाता है।[3]

इस प्रकार मार्ग काव्यरचना की विधि है, जिसका क्षेत्र वामन की रीति (पदरचना विधि) से अधिक व्यापक प्रतीत होता है। सुकुमार मार्ग की विशेषताओं का विवेचन करते समय कुन्तक ने सुकुमार मार्ग में 'नवशब्दार्थबन्धुरता' के साथ अयत्नविहित मनोहर अलङ्कारों को भी स्थान दिया है।

सुकुमार मार्ग में 'सुकुमारजन्य-रमणीयता' के द्वारा जो वैचित्र्य शोभातिशय का पोषण करता है, वह प्रतिभा से उत्पन्न होता है। कुन्तक ने इस कथन का आशय काव्य रचना के समस्त अवयवों (प्रबन्ध तथा प्रकरण भी) की शोभा से ही प्रतीत होता है न कि केवल पदरचना की शोभा से। सुकुमार मार्ग के उपसंहारात्मक कथन से भी प्रतीत होता है कि कुन्तक के मार्गों का सम्बन्ध केवल पदरचना से नहीं है, अपितु काव्यरचना के अन्य अवयवों (अलङ्कार, विषयवस्तु आदि) से भी है ।

1- सम्प्रति यत्र ये मार्गाः कविप्रस्थानहेतवः।

- व0जी0, 1/24

3- त एव तत्प्रवर्तननिमित्तभूता ।

आचार्य कुन्तक के पूर्व रीतियों का नामकरण प्रादेशिक आधार पर किया गया था। यद्यपि भामह और वामन ने प्रादेशिक आधार के प्रति सन्देह प्रकट किया था, तथापि उन्होंने प्रादेशिक आधार पर ही रीतियों का नामकरण किया। कुन्तक ने इस आधार की कटु आलोचना की है। उनके विवेचन से स्पष्ट है कि, प्रादेशिक आधार को स्वीकार करने पर निम्न कठिनाईयाँ आती हैं-

क- देशों के अनन्त होने से रीतियों के भी अनन्त भेद मानने पड़ेगें ।

ख- काव्य-रचना देश परम्परा के सदृश नहीं है। देश-विदेश की परम्परा का निर्वाह उस देश के सभी निवासी कर सकते हैं क्योंकि उसके लिये व्यक्तिनिष्ठ प्रतिभा की आवश्यकता नहीं होती है। इसके विपरीत सहृदयाह्लादकारी काव्य की रचना प्रतिभा की अपेक्षा करती है।

ग- किसी देश-विदेश के निवासियों में स्वभावतः काव्य-रचना की शक्ति नहीं होती है। यदि ऐसा हो तो उस देश-विदेश के सभी निवासी सत्काव्य की रचना करते हैं, जो असम्भव है।

घ- शक्ति को सभी में समान मान लेने पर भी व्युत्पत्ति आदि गुणों को देशजन्य नहीं माना जा सकता है ।

रीतियों के नामकरण के प्रादेशिक आधार की आलोचना करके सर्वथा नवीन आधार प्रदान करने का श्रेय आचार्य कुन्तक को ही है। कुन्तक ने काव्य प्रस्थान अर्थात रीति-भेद कवि-स्वभाव के आधार पर ही किया है।[1]

आचार्य कुन्तक का यह स्पष्ट मत है कि काव्य-रचना ही नहीं, अन्य विषयों में भी

1- कविस्वभावभेद निबन्धनत्वेन काव्यप्रस्थानभेदः समन्जसतां गाहते।

व0जी0, पृ0 10।

शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास स्वभाव पर ही आश्रित है।[1]

कुन्तक ने मार्ग के तीन ही भेद माने हैं - सुकुमार मार्ग, विचित्र मार्ग और मध्यम मार्ग। आचार्य का मानना है कि सुकुमार और विचित्र दोनों ही मार्ग रमणीयता विशिष्ट हैं। इन दोनों के रमणीय होने से इनकी छाया पर आश्रित तृतीय मार्ग का भी रमणीय मानना ही उचित है। कुन्तक ने मार्ग को गुणों के आश्रित न मानकर वामन के सदृश ही गुणों को मार्ग के आश्रित माना है। कुन्तक ने मार्गों के दो प्रकार के गुण बताये हैं - सामान्य और विशेष । सामान्य गुण दो हैं - औचित्य और सौभाग्य । इनकी सभी मार्गों में समान स्थिति रहती है । विशेष गुण चार हैं - माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और अभिजात्य । इन गुणों की स्थिति भी सभी मार्गों में रहती है, परन्तु प्रत्येक मार्ग में इनका स्वरूप भिन्न हो जाता है।[2]

आचार्य कुन्तक के सुकुमार मार्ग की आत्मा स्वाभाविक है, उसमें आहार्य कौशल का अभाव है।[3]

सम्भवतः वैदर्भी रीति और सुकुमार मार्ग को एक मानने का आधार यह हो सकता है कि दोनों ही रस निर्भर हैं।[4]

1- नैष दोष· यसमादास्तां तावत्काव्यकरणं, विषयान्तरेऽपि सर्वस्य कस्यचिदनादिवासनाभ्यासाधिवासितचेतसः स्वभावानुसारिणावेव व्युत्पत्यभासौ प्रवर्तते ....।
- व0जी0, पृ0 103

2- एतत्त्रिवपि मार्गेषु गुणाद्वितयमुज्जवलम् ।
यदवाक्यप्रबन्धानां व्यापकत्वेन वर्तते ।।
- व0जी0, 1/57

3- 'भावस्वभावप्राधान्यक्कृताहार्यकौशलः'
- व0जी0, 1/26

4- इह मधुशब्देन मुख्यार्थसम्भवात् सहृदयहृदयैरास्वाद्य समग्रसौन्दर्यसमुन्मिषतो रसो लक्ष्यते ।
- काव्यालङ्कारसूत्र, पृ0 18

दोनों मे समग्रगुणों का समावेश है तथा दोनों मे ही प्रतिनिधि, कवि कालिदास है।[1] तथापि इसी आधार पर दोनों को एक नहीं माना जा सकता है। गौडीया रीति और विचित्र मार्ग में रचनागत साम्य होते हुये भी वामन की गौडी रीति जहाँ अग्राह्य है, वहाँ कुन्तक का विचित्र मार्ग उतना ही अभीष्ट है, जितना सुकुमार मार्ग ।

कुन्तक के मध्यम मार्ग में भी सुकुमार अथवा विचित्र मार्ग के समान ही रमणीयता की पराकाष्ठा है, किन्तु वामन की पाञ्चाली रीति विच्छाया है।[2]

कुन्तक का मध्यम मार्ग चार विशिष्ट और दो सामान्य - छः गुणों से विभूषित है और उसमें आहार्य तथा स्वाभाविक दोनों प्रकार की शोभा का सुन्दर समन्वय है। इस प्रकार कुन्तक ने मार्गों को कवि स्वभाव से सम्बद्ध कर काव्य में कवि के व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा की । कवि का स्वभाव उसकी रचना में अभिव्यक्त होता है। क्या यह रचयिता के व्यक्तित्व, उसकी आत्मा की अभिव्यक्ति नहीं है? इन शब्दों में कुन्तक आखिर और क्या कहते हैं।[3]

आचार्य कुन्तक शैली के आनन्त्य को स्वीकार करते हैं। शैली सम्बन्धी आधुनिक चिन्तन में कुन्तक की ही प्रतिध्वनि सुनायी पड़ती है। रीति विषयक चिन्तन आज भी कुंतक से आगे नहीं गया है। कुन्तक रीति के इतिहास के बहुत बड़े नाम हैं।

1- वैदर्भीरीतिसन्दर्भे कालिदासः प्रगल्भते इति तदीपं पद्यमुदाहरति।
- काव्यालङ्कारसूत्र, कामधेनु टीका

येन मार्गेण कालिदासप्रभृतयो सत्कवयः गताः स्मृताः।
- व0जी0, पृ0 105

2- ओजः कान्त्यभावादनुल्वणपदा विच्छाया च।
- काव्यालङ्कारसूत्र, पृ0 21

3- आस्तां तावत्काव्यकरणं विषयान्तरेऽपि सर्वस्य-------तौ च स्वभाराभिव्यन्जनेनैव साफल्यं भजतः।
- व0जी0, पृ0 103

वक्रोक्ति तथा ध्वनि-सिद्धान्त

आचार्य आनन्दवर्द्धन ध्वनि - सम्प्रदाय के प्रवर्तक हैं। इन्होंने 'ध्वनि' को ही काव्यात्मा माना है। [1]

आचार्य आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि की परिभाषा मे काव्य को मुख्य माना है और उसे 5 शब्दों के रूप मे व्यवहृत किया है - व्यञ्जक शब्द, व्यञ्जक अर्थ, व्यञ्जना-व्यापार, व्यङ्ग्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ समन्वित काव्य। [2]

आचार्य आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि को इन शब्दों में परिभाषित किया है। - 'जहाँ अर्थ अपने को अथवा अपने शब्द अर्थ को गुणीभूत करके उस 'प्रतीयमान' अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं, उस काव्यविशेष को विद्वान लोग ध्वनि कहते हैं।'

ध्वनिकार के इस मत का समर्थन उनके उत्तरवर्ती आचार्य मम्मट और विश्वनाथ आदि ने भी किया है। [3]

आचार्य आनन्दवर्द्धन के अनुसार काव्य के दो प्रकार के मुख्यार्थ होते हैं - वाच्य और प्रतीयमान। यह दोनों ही अर्थ सहृदयश्लाघ्य हैं, तथापि इन दोनों में प्रतीयमान अर्थ का अधिक महत्व है। [4]

1- काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व.।
- ध्वन्यालोक, 1/1

2- वाच्यवाचकसम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्वसाम्याद्ध्वनिरित्युक्तः।
- ध्वन्यालोक, प्र0 उ0, पृ0 24।

3- इतमुत्तम मनतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथित.
- काव्यप्रकाश, 1/4

वाच्यातिशयिनि व्यङ्ग्ये ध्वनिस्तत्काव्यमुक्तमम् ।
- साहित्यदर्पण, 4/1 ·

4- मुख्यतया प्रकाशमानो व्यंङ्ग्योऽर्थो ध्वनेरात्मा ।
- ध्वन्यालोक, पृ0 17

यह प्रतीयमान अर्थ तीन प्रकार का होता है। - वस्तु, अलङ्कार और रस। इसी त्रिविध प्रतीयमान अर्थ की वाच्यार्थ से प्रधानता अर्थात व्यङ्ग्यार्थ का चारूत्व वाचयार्थ से अधिक होने पर काव्य ध्वनि-काव्य कहलाता है। [1]

व्यङ्ग्यार्थ की दृष्टि से इसी प्रधानभूत प्रतीयमान अर्थ को काव्य की आत्मा कहा जाता है। [2]

आचार्य अभिनवगुप्त के समय में ही ध्वनि-सम्प्रदाय के विरूद्ध विद्रोह शुरू हो गया था। उन्हीं के समकालीन कुन्तक और महिमभट्ट ने ध्वनि-सम्प्रदाय की सार्वभौम प्रतिष्ठा को चुनौती देना और ध्वनि सम्प्रदाय की समस्त उपलब्धियों को नकारना एक ही बात नहीं है ।

वक्रोक्तिजीवितकार आचार्य कुन्तक ने ध्वनि-सिद्धान्त का समग्र पारायण, उस पर मनन और चिन्तन किया था। उन्होंने अपने ग्रन्थ में ध्वनिकार का स्पष्ट उल्लेख किया है। [3] जगह-जगह वक्रोक्ति के भेदों के निरूपण में, उसके उदाहरणों के चयन मे, प्रतीयमानार्थ और रस के समर्थन में ध्वनिकार के प्रति पुष्कल श्रद्धा का सङ्केत मिलता है।

वक्रोक्ति और व्यञ्जना

वक्रोक्ति को विचित्राभिधा कहने वाले कुन्तक अभिधावादी आचार्य हैं, किनतु उनकी अभिधा में लक्षणा और व्यन्जना भी अन्तर्मुक्त है। कुन्तक का कहना है कि काव्य मार्ग में वे शब्द भी वाचक ही कहलाते हैं, जो अन्यत्र लक्षक और व्यञ्जक कहे जाते हैं। उसी प्रकार वाच्यार्थ में द्योत्य और अर्थ दोनों ही अर्थों का सन्निवेश है । दोनों में सामान्य धर्म है अर्थप्रतीतिकारिता। वाच्यार्थ

1- चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यङ्ग्याप्राधान्यविवक्षाः
- ध्वन्यालोक, द्वि0 उ0, पृ0 200

2- काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा ।
- ध्वन्यालोक, 1/5

की तरह द्योतक तथा व्यञ्जक शब्द की अभीष्ट अर्थ की प्रतीति कराते है। उपचार से द्योतक तथा व्यञ्जक का प्रयोग न्याय्य है।[1]

वस्तुतः कुन्तक ने वाचक की बड़ी ही विशद कल्पना की है।[2] अर्थात् कुन्तक ने तीनों शब्द-शक्तियों - अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना को काव्य में स्वीकार किया है, परन्तु लक्षणा और व्यञ्जना का अन्तर्भाव इन्होंने सुगमता के कारण अभिधा में ही कर दिया है अतः अभिधावादी होकर भी कुन्तक की विचारणा वास्तव में व्यञ्जना की महिमा का तिरस्कार नहीं करती ।

स्थापत्य साम्य

आचार्य आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि की व्याप्ति का विश्लेषण-विवेचन वर्ण से प्रबन्ध तक की व्याप्ति में किया है। आचार्य कुन्तक ने आनन्दवर्द्धन के इसी स्थापत्य का वक्रोक्ति के भेद-प्रभेद की उद्भावना में अनुसरण किया है। 'ध्वन्यालोक' और 'वक्रोक्तिजीवितम्' का स्थापत्यगत साम्य का प्रत्यक्षबोध है। आनन्दवर्द्धन के ही विश्लेषण का आधार ग्रहण कर कुन्तक ने वर्णविन्यासवक्रता, पदपूर्वार्द्ध और पदपरार्द्धवक्रता के भेद-प्रभेद वस्तुवक्रता, प्रकरणवक्रता और प्रबन्धवक्रता की सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावनाओं को उपस्थित किया है।

परिभाषागत साम्य

यह साम्य ध्वनि और वक्रोक्ति की परिभाषा में भी परिलक्षित होता है। आनन्दवर्धन ने

1- यस्मादर्थप्रतीतिकारित्व सामान्यादुपचारात्तावपिवाचकावेव ।

- व0 जी0, पृ037

2- कविविवक्षितविशेषाभिधानक्षमत्वमेव वाचकत्वलक्षणम् ।

- व0 जी0, पृ0 41

ध्वनि को इन शब्दों मे परिभाषित किया है - 'जहाँ अर्थ अपने को अथवा अपने शब्दार्थ को गुणीभूत करके उस प्रतीयमानार्थ को अभिव्यक्त करते हैं, उस काव्यविशेष को विद्वान लोग ध्वनि कहते हैं।' [1]

'महाकवियों की वाणियों में वाच्यार्थ से भिन्न प्रतीयमान कुछ और ही वस्तु है, जो प्रसिद्ध अलङ्कारों अथवा प्रतीत होने वाले अवयवों से भिन्न, सुहृदयप्रसिद्ध अगनाओं के लावण्य के समान प्रकाशित होता है।' [2]

आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति की परिभाषा यों दी है - 'प्रसिद्ध कथन से भिन्न प्रकार की विचित्र वर्णन शैली ही वक्रोक्ति है।' प्रसिद्ध कथन से भिन्न का अर्थ है (1) शास्त्रादि में उपनिबद्ध शब्दार्थ के सामान्य प्रयोग से भिन्न और (2) प्रचलित व्यवहार सरणि का अतिक्रमण करने वाला।

इन दोनों परिभाषाओं में विवक्षा का आन्तरिक साम्य अत्यन्त ही स्पष्ट है - (1) दोनों ही प्रसिद्ध वाच्यवाचक का अतिक्रमण करते हैं। आनन्दवर्द्धन ने जिसे - 'यत्रार्थः शब्दों वा तमर्थमुप-सर्जनीकृतस्वार्थौ' कहा है, उसे ही वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक ने 'शास्त्रादिप्रसिद्धशब्दार्थोपनिबन्धन्यतिरेकि' कहा है। इस प्रकार असाधारणत्व की विवक्षा ही ध्वनि और वक्रोक्ति की आभ्यन्तरिक चेतना है। (2) वैचित्र्य की आकांक्षा से दोनों ही उत्प्रेरित हैं - कुन्तक ने जिसे 'विचित्र अभिधा' कहा है, उसे ही ध्वनिकार ने 'अव्यदेव वस्तु -----' कह कर व्यक्त किया है। इस प्रकार ध्वनि और वक्रोक्ति एक ही भूमि पर संचरण करती हैं।

1- यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्त. काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।।
-ध्वन्यालोक, 1/13

2- प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ।।
-ध्वन्यालोक, 1/4

प्रतीयमान का स्पष्ट निर्देश

आचार्य कुन्तक के ग्रन्थ मे जगह-जगह प्रतीयमान का स्पष्ट उल्लेख और निर्देश मिलता है-

(1) उन्होंने विचित्रमार्ग में वाक्यार्थ की प्रतीयमानता का स्पष्ट उल्लेख किया है।[1]

(2) वस्तु के स्वभाव का सरस उन्मीलन ही कुन्तक की वस्तुवक्रता है।[2] इस कारिका में 'गाचरत्वेन' के प्रयोग से औचित्य पर प्रकाश डालते हुये कुन्तक कहते हैं कि प्रतीयमान तो व्यड्.ग्य रूप से भी हो सकता है ।

(3) कुन्तक ने अनेक अलड्.कारों के द्विविध रूप स्वीकार किये हैं। - वाच्य और प्रतीयमान। रूपक वाच्य भी होता है प्रतीयमान भी । इस अलड्कार के उदाहरण में कुन्तक ने आनन्दवर्धन की निजी रचना 'लावण्यकान्तिपरपूरित' को उद्धृत किया है । इसी को आनन्दवर्धन ने 'रूपकध्वनि' कहा है। अतएव कुन्तक का प्रतीयमान रूपक और आनन्दवर्धन की 'रूपकध्वनि' एक ही चीज है ।

(4) परिवृत्ति अलड्.कार पर विचार करते हुये कुन्तक ने प्रतीयमानता को केवल अलड्.कार तक नहीं, बल्कि अलड्.कार्य में भी उसके अस्तित्व को स्वीकार किया है । वे परिवृत्ति के अस्तित्व का खण्डन नहीं करते, वरन् उसकी अलड्कारता का ही विरोध करते है । वे

1- 'वस्तुनोवक्रशब्देनगोचरत्वेन वक्रता'

- व0 जी0 3/1

2- 'व्यड्.ग्यत्वेनापि प्रतिपादनसम्भवात्'

- व0 जी0

परिवृत्ति में अलङ्कार्य की प्रतीयमानता के चारूत्व को स्पष्टत स्वीकार करते हैं।[1]

(5) कुन्तक के अनुसार उपमा का द्वैविध्य स्पष्ट ही है । उपमा अलङ्कार में तो उपमान और उपमेय का साधर्म्य वाच्य होता है, परन्तु उसी प्रजाति के दीपक, निदर्शना आदि अलङ्कार औपम्यगर्भ हुआ करत है । वस्तुत: उनकी शोभा औपम्य की प्रतीयमानता से ही नि:सृत है।

भेद-प्रस्तारगत-साम्य

वर्णविन्यासवक्रता और वर्णध्वनि

वक्रोक्ति का प्रथम भेद है - वर्णविन्यासवक्रता । यह व्यञ्जनचारूत्व है । इसे ही आनन्दवर्द्धन ने वर्णध्वनि कहा है ।

पदपूर्वार्द्धवक्रता और ध्वनि

रूढिवैचित्र्यवक्रता के अनतर्गत आचार्य कुन्तक आनन्दवर्द्धन के अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि का निवेश मानते हैं । कारिका 2//8 में आये 'प्रतीयते' की वृत्ति में वे स्वयं इसे स्पष्ट करते हैं। वस्तुतः ध्वनिकार के अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य तथा अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य रूपध्वनि-भेदों को कुन्तक ने रूढिवैचित्र्यवक्रता के 'असभाव्यधर्माध्यारोषगर्भता' तथा 'सद्धर्मातिशयाध्यारोपगर्भता' के अन्दर सन्निविष्ट किया है । प्रसङ्ग में उन्होंने दो उदाहरण दिये हैं - 'ताला जाअति गुणा जाला' तथा 'स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो' । इन दोनों श्लोकों को आनन्दवर्द्धन ने अर्थान्तरसंक्रमित वाच्यध्वनि के रूप में उदाहृत किया है ।

1- अत्र परिवर्तनीय पदार्थानां प्रतीयमानत्वम् ।

- व0 जी0

(2) पर्यायवक्रता के निरूपण में कभी-कभी श्लष के द्वारा अलकारान्तर का द्योतन करने के लिये वस्तुत वस्तु के ऊपर अप्रस्तुत का आरोप दिखलाते हुये कुन्तक ने शब्दशक्तिमूलक अनुरणनरूप व्यंग्य को ही प्रस्तुत किया है।[1]

प्रसंगात् कुन्तक ने बाणभट्ट के 'हर्षचरित' के दो दृष्टान्त दिये हैं, जो मूलत. आनन्दवर्द्धन द्वारा उद्धृत है ।

(3) कुनतक ने उपचारवक्रता के अन्तर्गत आनन्दवर्द्धन की 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य' नामक लक्षणामूला ध्वनि का अन्तर्भाव किया है । रूय्यक ने 'अलड्.कारसर्वस्व' में लिखा है[2] सादृश्य के अतिशय से जहाँ एक धर्म का अन्य वस्तु के ऊपर आरोप किया जाता है - वहाँ उपचारवक्रता होती है ।

इसके उदाहरण में कुन्तक ने आनन्दवर्द्धन के ही उदाहरण 'गउणं अफ्तमेहगाथा को ही उद्धृत किया है ।

(4) सवृत्तिवक्रता भी व्यञ्जनाशक्ति ही है । यहाँ सर्वनाम की सड्.केतिकता के द्वारा रमणीय अर्थ की व्यञ्जना की जाती है । शास्त्रीय दृष्टि से यह अर्थान्तरसक्रमित वाच्य से भिन्न वस्तु नहीं है।

(5) उसी प्रकार वृतिवैचित्र्यत्वक्रता का भी सादृश्य आनन्दवर्द्धन में ढूँढा जा सकता है।[3]

1- 'एष एवं च शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यड्ग्यस्य पदध्वनेर्विषयः'
- व0 जी0

2- 'उपचारवक्रतादिभिः समस्तोध्वनिप्रपञ्चः स्वीकृत एव'
- अलड्कारसर्वस्व

3- सुप्-तिड्.-वचन-सम्बन्धैस्तथा कारकशक्तिभिः।
कृत्तद्धितसमासैश्च द्योत्योऽलक्ष्यक्रमः क्वचित्।।
- धवन्यालोक 3/16

इस कारिका मे जो पूर्वार्द्ध समासध्वनि है, वह वृतिवैचित्र्यवक्रता ही है। आनन्दवर्द्धन ने तो वचन-कारकादि का शब्दश. उल्लेख किया है और उनकी वृत्ति है कि 'च' शब्द से निपात-उपसर्गादि का बोध हो जाता है।[1]

ध्वनि-सिद्धान्त को उच्चतर दार्शनिक पीठिका प्रदान करने वाले अभिनवगुप्त ने 'अभिनवभारती' के चतुर्दश अध्याय में भरत की इस कारिका को उद्धृत किया है।[2] इस पर अभिनवगुप्त की 'भारती' है कि 'विभक्तय. सुप्तिड़्वचनानि तै· कारकशक्त्यो लिड्ड्गुपग्रहाश्चो-पलक्ष्यन्ते' ---- अन्यैरपि सुबादिवक्रतेति·'

अवश्य ही 'अन्यै.' के द्वारा अभिनवगुप्त का संकेत कुन्तक की ही ओर है । अभिनवगुप्त के कथन का गुणाभूत व्यङ्ग्य यह है कि ध्वनि सिद्धान्त की इस स्थापना को ही कुन्तक ने वक्रता में रूपान्तरित किया है।

पदपूर्वार्द्धवक्रता, विशेषणवक्रता, सवृत्तिवक्रता वृत्तिवक्रता, लिंड्वैचित्र्यवक्रता और क्रियावैचित्र्यवक्रता। इनमे से अधिकांश ध्वनि-भेदों के रूपान्तर ही है ।

पदपरार्द्धवक्रता और ध्वनि

पदपूर्वार्द्धवक्रता के भी लगभग आठ ही भेद है - कालवैचित्र्यवक्रता, कारकवक्रता, वचनवक्रता, पुरूष-वक्रता, उपग्रह-वक्रता, प्रत्यय-वक्रता, उपसर्ग-वक्रता और निपात-वक्रता। अवश्य ही ध्वनिकार

1- 'च शब्दोन्निपातोपसर्गकालादि प्रयुक्तैरभिव्यज्यमानो दृश्यते'

- ध्वन्यालोक, पृ0 27।

2- नामाख्यातनिपातोपसर्गतद्धितसमाससन्निर्वर्त्यः।
सन्धिविभक्तिनियुक्तो विज्ञयो वाचकाभिनयः।।

- 'अभिनवभारती'

ने इसमें से प्रत्यय, काल, कारक, वचन, उपसर्ग और नियात का तो अपनी कारिका में शब्दश: उल्लेख किया है और पुरूष और उपग्रह वक्रता भी 'च' में ही गर्भित माने जा सकते हैं ।

वस्तुवक्रता और वस्तुध्वनि

अर्थवक्रता ही वस्तुवक्रता है। वस्तु का उत्कर्षशाली स्वभाव से सुन्दर रूप में केवल सुन्दर शब्दों द्वारा वर्णन अर्थ या वस्तु की वक्रता कहलाती है। स्वयं कुन्तक को इस तथ्य का अभिज्ञान है कि वस्तुवक्रता वस्तु की वाच्यता नहीं, बल्कि उसका प्रतिपादन है । अवश्य ही अपनी इस स्थापना की पुष्टि में कुन्तक ध्वनि के समीप पहुँच जाते है । ये वस्तुवक्रता के वर्णन के प्रसङ्ग में उपमादि वाच्यालङ्कारों के अतिशय प्रयोग का वर्जन करते है । ये वाच्य अलङ्कार वस्तु के स्वाभाविक सौन्दर्य को म्लान कर देते है । आनन्दवर्द्धन और कुन्तक का पार्थक्य स्वल्प है । कुन्तक वाच्यत्व में भी यत्किञ्चित् सौन्दर्य का दर्शन करते है, किन्तु आनदवर्द्धन मात्र प्रतीपमानत्व में ही सौन्दर्य का अस्तित्व स्वीकारते हैं । इस प्रकार कुन्तक की वस्तुवक्रता वस्तुध्वनि से ही गृहीत है ।

वाक्यवक्रता और अलङ्कारध्वनि

आचार्य कुन्तक की वाक्यवक्रता में सम्पूर्ण अलङ्कारवर्ग सन्निविष्ट है । वस्तुवक्रता के प्रतीयमान सौन्दर्य के विपरीत कुन्तक की वाक्यवक्रता में वाच्यत्व का चमत्कार अधिक है । वाक्यवक्रता को यह पृथक भूमि पर प्रतिष्ठित करता है । आनन्दवर्द्धन स्पष्टत: अलङ्कार ध्वनि का वाच्यार्थ से भिन्नत्व प्रतिपादित करते हैं, लेकिन वाच्यत्व को वाक्यवक्रता के आधाररूप में ग्रहण करते हुये भी कुन्तक कतिपय अलङ्कारों में प्रतीयमानता का भी स्पष्ट निर्देश देते हैं । उनके अलङ्कारों के वाच्य तथा प्रतीयमान द्वितीय रूप है । रूपक, व्यतिरेक, उपमा, परिवृत्ति आदि में उन्होंने वाच्यत्व के अतिरिक्त प्रतीयमानत्व का भी विधान किया है । आनन्दवर्द्धन और कुन्तक दो

कोणों से एक ही बिन्दु का दर्शन करते है। इसका एक छोटा सा प्रमाण तो यह ही है कि प्रतीयमान रूपक का जो उदाहरण कुन्तक ने दिया है, उसे आनन्दवर्द्धन ने रूपकध्वनि कहा है। 'लावण्यकान्ति-परिपूरित' पद्य आनन्दवर्द्धन की निजी रचना है और कुन्तक ने इसे ही उद्धृत किया है । इस प्रकार कुन्तक ने आनन्दवर्द्धन की अलङ्कारध्वनि को वाक्यवक्रता मे आत्मसात् करने का प्रयत्न किया है।

प्रबन्धवक्रता और प्रबन्धध्वनि

आचार्य कुनतक की प्रबन्ध वक्रता आनन्दवर्द्धन की प्रबन्धध्वनि की तुल्यकक्षता में है । आनन्दवर्द्धन ने असलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्यध्वनि का अस्तित्व रामायण और महाभारत आदि प्रबन्धकाव्यों में प्रतिपादित किया है । उन्हीं की तरह कुन्तक ने भी लिखा है कि किसी महाकवि के बताये हुये, रामकथा मूलक नाटकों आदि में इस 5 प्रकार की वक्रता से सुन्दर सहृदयहृदयाह्लादकारी नायक रूप महापुरूष का वर्णन ऊपर से किया गया प्रतीत होता है। परन्तु वास्तव में कवि का प्रयोजन केवल उस महापुरूष के चरित्र का वर्णन करना मात्र नहीं होता है, अपितु 'राम के समान आचरण करना चाहिये, रावण के समान नहीं' - इस प्रकार का विधि और निषेधात्मक धर्म का उपदेश उस काव्य या नाटक का फलितार्थ होता है । कुन्तक के अनुसार यही उस प्रबन्धकाव्य की वक्रता या सौन्दर्य है । यह प्रबन्ध ध्वनि के सिवाय और क्या है ? भोज ने इसे महाकाव्यार्थ की संज्ञा दी है । प्रबन्धवक्रता के प्रबन्ध रस-परिवर्तन-वक्रता नामक प्रथम भेद में कुन्तक का कहना है कि इतिहास मे अन्य प्रकार से निर्मित या निरूपित रस की उपेक्षा कर अन्य रस से कथा की समाप्ति से अपूर्व वक्रता का स्फूरण होता है। आनन्दवर्द्धन ने प्रबन्धध्वनि को रस-रूप ही माना है। अतएव रस-परिवर्तन प्रबन्ध ध्वनि का ही परिवर्तन है। कुन्तक का कहना है कि कथाभाग समान होने पर भी शरीर में एक जैसे प्राणियों के सदृश अपने-अपने गुणों से काव्य और नाटकादि प्रबन्ध अलग-अलग होते हैं । कारण यह है कि

प्रत्येक श्रेष्ठ कवि सिद्धि का नया मार्ग ढूँढता है । इसी कारण नये-नये उपायों से सिद्ध नीतिमार्ग का उपदेश करने वाले महाकवियों के सभी ग्रन्थों मे सौन्दर्य रहता ही है । तात्पर्य यह है कि काव्य का पार्थक्य कथा के अन्तर पर नहीं, प्रत्युत उसकी प्रबन्ध-ध्वनि से स्थापित हो पाता है ।

इस प्रकार कुनतक न तो ध्वनि के विभावन को अस्वीकार करते हैं और न इसे भक्ति या लक्षणा में ही अन्तर्मुक्त कर देते हैं । वस्तुत. ध्वनि-सम्प्रदाय मे आनन्दवर्द्धन ने काव्य के जिन गहन तत्वों का उन्मीलन किया, उनकी उपेक्षा कर कोई भी परवर्ती आलङ्कारिक नहीं चल सकता था । परवर्ती आचार्यों के सामने दो ही मार्ग शेष थे । या तो वे आनन्दवर्द्धन का खण्डन कर आगे बढते या उसे स्वीकार कर आनन्दवर्द्धन की उपेक्षा नहीं की जाती । आचार्य कुन्तक ने अवश्य ही दूसरा मार्ग ग्रहण किया । यह आकस्मिक नहीं है कि उनके किञ्चिद् परवर्ती महिमभट्ट ने बतलाया कि वक्रोक्ति और ध्वनि एक ही चीज है । उनका तर्क है कि इसीलिये तो कुन्तक ने उसके वे ही भेद-प्रभेद और वे ही उदाहरण दिखलाये है।[1]

तब भी वक्रोक्ति और ध्वनि को पर्याय मानना गलत होगा । वक्रोक्ति वस्तुतः वाच्य और व्यङ्ग्य के यौगपत्य के लिये प्रयुक्त होती है । ध्वनि काव्य की आत्मा है और यह शरीरेतर धर्म है, किन्तु वक्रोक्ति वस्तुगत तथ्य है । यह शरीर और आत्मा दोनों का युगपद् आचरण है । अतएव 'काव्यस्यात्मा ध्वनि ' और 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' में स्पष्ट पार्थक्य है ।

1-अतएव चास्य त एव प्रभेदास्तान्यैः वोदाहरणानि तैरूपदर्शितानि ।

- हि0 व्यक्तिविवेक, पृ0 142

वक्रोक्ति तथा औचित्य-सिद्धान्त

आधुनिक आलोचना की भाषा में वक्रोक्ति कल्पना-विलास है । कल्पना के अतिविचार से काव्य वाग्आडम्बर से ग्रस्त हो जाता है । इसी हेतु कुन्तक ने वक्रोक्ति और औचित्य के युगपद् अस्तित्व को स्वीकार किया है ।

औचित्य सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य क्षेमेन्द्र है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य की परिभाषा करते हुये कहा है [1] कि जो जिसके सदृश होता है, शोभा का आधायक होता है, उसे उचित कहते हैं और उचित का जो भाव होता है, वह औचित्य है । क्षेमेन्द्र के मतानुसार काव्य में यदि गुण, अलड्कार आदि का उचित प्रयोग नहीं किया जाता है, तो वह सहृदयों को आह्लादित नहीं करते हैं। [2]

लोक के सदृश काव्य में भी औचित्य की परम अपेक्षा है । गुणों का गुणत्व और अलड्कारों की अलड्कारता उनके उचित प्रयोग पर ही होती है । इसी कारण आचार्य क्षेमेन्द्र औचित्य को ही काव्य का प्रमुख तत्व मानते है। [3]

1- उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य तत्।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते ।।
- औचित्यविचारचर्चा, 7

2- 'आचत्येन बिना रुचिं प्रतनुते नालड्कृतिनो गुणाः'
- औचित्यविचारचर्चा, पृ0 3

3- अलड्कारास्त्वलड्कारा गुणा एव गुणाः सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यं जीवितम्।।
- औचित्यविचारचर्चा, पृ05

आचार्य कुन्तक ने भी आचार्य क्षेमेन्द्र के औचित्य गुण से साम्य रखती हुयी गुणों के प्रसङ्ग में औचित्य की परिभाषा इस प्रकार दी है। [1]

आचार्य कुन्तक ने भी आचार्य क्षेमेन्द्र के औचित्य के महत्व को स्वीकार किया है। औचित्य गुण को काव्य-व्यापक मानने के कारण ही कुन्तक 'अन्यूनातिरिक्तत्व' तथा 'परस्परस्पर्धित्व' रूप साहित्य शब्द का प्रयोग करते हैं। साहित्य की व्याख्या करते हुये उन्होंने वृत्ति-औचित्य की ओर सङ्केत किया है। [2]

औचित्य की व्यापकता को प्रतिपादित करते हुये आचार्य कुतक औचित्य को सुकुमार, मध्यम तथा विचित्र-तीनों मार्गों का सामान्य गुण बताते हैं। वह कहते हैं कि यह गुण काव्य के समस्त अवयवों में व्यापक होकर स्थित रहता है। [3]

आचार्य कुन्तक ने प्रायः सभी वक्रता भेदों के औचित्य का आधार स्वीकार किया है। वर्णविन्यासवक्रता के विषय में वह कहते हैं कि वक्रतापूर्ण वर्णयोजना अनिवार्य रूप से प्रस्तुत प्रसङ्ग के अनुरूप होनी चाहिये। व्यसन के कारण प्रयत्नपूर्वक वर्णवृत्ति करने से प्रस्तुत औचित्य

1- आन्जसेन स्वभावस्य महत्वं येन पोष्यते।
प्रकारेण तदौचित्यमुचिताख्यानजीवितम्।।

- व0 जी0, 1/53

2- वृत्यौचित्यमनोहारि रसानां परिपोषणम्।
स्पर्धया विद्यते यत्र यथास्वमुभयोरपि।।

- व0 जी0 1/35

3- एतत्त्रिष्वपि मार्गेषु गुणद्वितयमुज्जवलम्।
पदवाक्यप्रबन्धानां व्यापकत्वेन वर्तते।।

- व0 जी0 1/57

की हानि होने के कारण शब्द और अर्थ के परस्पर स्पर्धित्व रूप साहित्य का अभाव हो जाता है।[1]

यमकरूप वर्णविन्यासवक्रता भी औचित्ययुक्त होनी चाहिये । पदपूर्वार्द्धवक्रता तथा पदपरार्द्धवक्रता के प्राय सभी भेद औचित्यमूलक ही हैं । पदपूर्वार्द्धवक्रता के भेदों पर्यायवक्रता, विशेषणवक्रता, भाववक्रता, लिङ्गवक्रता और क्रियावैचित्र्यवक्रता क्रमश पर्याय, विशेषण, भाव, लिङ्ग और क्रिया के औचित्यपूर्ण चयन पर ही आधारित हैं । उपचारवक्रता मे भी सादृश्यादि सम्बन्धों के औचित्य से ही अप्रस्तुत के धर्म का आरोप प्रस्तुत पदार्थ पर किया जाता है । पदमध्यान्तर्भत प्रत्ययवक्रता, लिङ्गवक्रता के तृतीय भेद और क्रियावैचित्र्यवक्रता के पञ्चम भेद में कुन्तक ने स्पष्टत· प्रस्तुत के औचित्य का आधार स्वीकार किया है । पदपरार्द्धवक्रता के भेदों में भी कारक, पुरूष, सख्या, उपग्रह, काल आदि के ही औचित्य का चमत्कार रहता है । वाक्यवक्रता की परिभाषा करते हुये कहा है कि कवि प्रतिभा जन नवीन तथा मनोहर कल्पना के कारण काव्य मे जो सहृदयाह्लादकारिणी चारूता आ जाती है, वही वाक्यवक्रता है । यदि कल्पना औचित्यानुरूप नहीं होगी, तो काव्य कथपि सहृदयाह्लादकारी नहीं हो सकता है। अतएव, वाक्य वक्रता भी औचित्याश्रित ही है । वाक्यवक्रता में कुन्तक ने अलङ्कारों का भी अन्तर्भाव किया है । आचार्य कुन्तक के मत में अलङ्कारों का वर्ण्य-विषय के अनुरूप उचित प्रयोग ही वान्छित है । दीपक के प्रसंङ्ग में कुन्तक ने औचित्य का स्पष्ट उल्लेख किया है। वर्णनीय पदार्थों के औचित्य का वहन करने वाले सहृदयों के आह्लादकजनक अभिनव और अप्रकट (प्रतीयमान) धर्म को प्रकाशित करने वाला

1- 'व्यसनितया प्रयत्नविरचने हि प्रस्तुतौचित्यपरिहाणेर्वाच्यवाचकयोः परस्परस्पर्धित्वलक्षण-साहित्यविरहः पर्यवस्यति।'

- व0 जी0, पृ0 184

अलङ्कार दीपक अलङ्कार है।[1]

आचार्य कुन्तक ने कालौचित्य पर भी विचार किया है। इसमे औचित्य की अन्तरतमता से कालवैचित्र्य को प्राप्त हो जाता है।[2]

उसी प्रकार उपग्रह के औचित्य पर विचार करते हुये उन्होंने कहा है कि कवि औचित्य से परिचालित होकर परस्मैपद अथवा आत्मनेपद में से कोई एक चुन लेता है।[3]

अपने ग्रन्थ के तृतीय उन्मेष में उन्होंने अनेक जीवों और वस्तुओं के स्वभावौचित्य पर विचार किया है।[4]

पुन. वे व्यवहारौचित्य पर विचार करते हैं। उनका व्यवहारौचित्य 'लोकवृत्तयोग्यम्' है।[5]

1- औचित्यावहमम्लानं तद्विदाह्लादकारणम्।
आशक्तं धर्ममर्थानां दीपयत् वस्तु दीपकम् ।।
-व0 जी0, 3/17

2- औचित्यान्तरतम्येन समयो रमणीयताम् ।
- व0 जी0

3- पदपोरूभयोरेकम् औचित्याद्विनियुज्यते।
शोभायै यत्र जल्पन्ति तामुपग्रहवक्रताम्।।
- व0 जी0

4- भावानामपरिम्लानस्वभावौचित्यसुन्दरम् ।
चेतनानां जडानां च स्वरूप द्विविधं स्मृतम् ।।
- व0 जी0

5- धर्मादिसाधनोपायपरिस्पन्दनिबन्धनम्।
व्यवहारौचित्य चान्यल्लभते वर्णनीयताम्।।
- व0 जी0

आचार्य कुन्तक की प्रबन्ध तथा प्रकरण वक्रताऐं भी औचित्य पर आधृत हैं, क्योंकि प्रबन्धानुकूल होने पर भी इन्हें वक्रोक्ति के अन्तर्गत ग्रहण किया जा सकता है । यथा-प्रकरण वक्रता के द्वितीय भेद के अनुसार - 'कवि प्रबन्ध के अनौचित्य के परिहार और औचित्य की रक्षा हेतु ही अविद्यमान प्रकरण की कल्पना तथा विद्यमान प्रकरणों में संशोधन करता है।' [1]

इसी प्रकार प्रबन्ध-वक्रता के द्वितीय भेद में नायक के चरित्र की उत्कर्ष करने वाली चरम घटना पर ही कथा का उपसंहार करने का विधान है, क्योंकि शेषभाग नीरस इतिवृत्त मात्र रह जाता है। यहाँ अवाञ्छित का परित्याग औचित्य का ही परिणाम है । प्रकरण तथा प्रबन्ध-वक्रता के प्रायः सभी भेद औचित्याश्रित हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वक्रोक्ति-सिद्धान्त पूरी तरह अनुशासित है। वक्रता के लगभग सभी प्रकारों में औचित्य वस्तु अथवा रस के सम्बन्ध से उद्भासित हुआ है। वक्रोक्ति औचित्य का ही दूसरा नाम है। पदौचित्य को पदवक्रता के नाम से अभिहित करते हुये आचार्य कुनतक स्वयं इसे स्वीकार करते हैं। [2]

ध्वनि, औचित्य और वक्रत्व का यह प्रगाढ़ सम्बन्ध आकस्मिक बात नहीं है। महिमभट्ट ने कुनतक की कारिका 'शब्दार्थौ सहितौ' आदि को उद्धृत किया है। वह कहते है कि यह जो शब्दार्थ की प्रचलित योजना से भिन्नता है, वह शब्द और अर्थ का औचित्य ही ठहरेगी

1- व0 जी0, 4/3-4

2- 'तत्र पदस्य तावत् औचित्यं बहुविधभेदभिन्नो वक्रभावः'

- व0 जी0, पृ0 163

या अभिधावृत्ति स बतलाये गये सर्वानुभूत अर्थ से भिन्न प्रतीयमान अर्थ की अभिव्यक्ति होना। [1]

इस प्रकार वक्रोक्ति और औचित्य में कोई अति प्रगाढ़ सम्बन्ध है ।

वक्रोक्ति और रस-सिद्धान्त

संस्कृत काव्यशास्त्र में 'रस' शब्द का प्रयोग मुख्यतया दो अर्थों में प्राप्त होता है। प्रथम-भावमूलक काव्य-सौन्दर्य या भाव की कलात्मक अभिव्यञ्जना तथा द्वितीय-भावमूलक काव्य-सौन्दर्य की अनुभूति । आचार्य दण्डी ने माधुर्यगुण के विवेचन में रस का सामान्य काव्यसौन्दर्य के अर्थ में प्रयोग किया है। [2]

आचार्य भरत रस को भावमूलक कलात्मक स्थिति बताते हुये कहते हैं। [3]

रसवादी आचार्यों ने रसों को शुद्ध मनोवैज्ञानिक पीठिका प्रदान की है। रस आस्वाद्य होता है। यह भागरूप है। इन आचार्यों ने भोगरूप रस को चित्त की तीन दशाओं से सम्बद्ध किया है ।

1- 'प्रसिद्धोपनिबन्धन्यतिरेकित्वमिदं शब्दार्थमौचित्यमात्रपर्यवसायि स्यात्'
- हि0 व्यक्तिविवेक, पृ0 142

2- मधुर रसवद् वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः ।
- काव्यादर्श 1/51

3- नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुतन्तीति ।
अत्राह - रस इति कः पदार्थः । उच्यते आस्वाद्यत्वात् ।
कथमास्वाद्यते रसः । ---- तथा
नानाभिनवाभिनयव्यञ्जितान् वागङ्गसत्वोपेतान्
स्थापिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादीश-
चाधिगच्छन्ति तस्मान्नाट्यरसा इत्यभिव्याख्याताः

- नाटयशास्त्र, अभि0 {गा0 स0}
प्रथम खण्ड, पृ0 290

द्रुति, दीप्ति और विस्तृति। श्रगार, करूण और शान्त का सम्बन्ध चित्त की द्रवणशीलता से है। वीर, वीभत्स और रौद्र मे दीप्ति रहती है। हस, अद्भुत और भयानक मे चित्त का उत्तरोत्तर विकास होता है। चित्त के इसी विस्फार को 'विस्मय' कहा गया है । आचार्य विश्वनाथ ने बतलाया है कि 'चमत्कार' शब्द 'विस्मय' का समानार्थक है। इस प्रकार विश्वनाथ ने चमत्कार को सत्त्वगुण से सम्बद्ध कर दिया है। इससे पूर्व आचार्य आनन्दवर्द्धन ने रसास्वाद को 'चेतश्चमत्कृतिविधायी कहा था ()कुन्तक ने इसी व्यापक चमत्कार की अनुशसा की है। इस कारण उनकी वक्रोक्ति रस-सिद्धान्त की श्रेष्ठ उपलब्धियों के विरोध मे खड़ी नहीं होकर प्रत्युत् आत्मसात् कर शक्ति सचय करती है।

आचार्य कुन्तक चमत्कारवादी आचार्य हैं । उनकी वक्रोक्ति में चमत्कार सन्निविष्ट है । उनकी वक्रोक्ति काव्य का सर्वातिशायी तत्व है। वैसा काव्य उन्हें कथमपि स्वीकार्य नहीं, जिसमें अवक्र उक्तियों का प्राचुर्य हो ()आचार्य भामह से प्रेरणा ग्रहण कर उन्होंने काव्य में 'लोकातिक्रान्तगोचरता' को आवश्यक बतलाया। इसी में अतिशयोक्ति भी समाहित है। इसके अभाव में वक्रोक्ति वैचित्र्य में चमत्कार नहीं आ सकता । इस लोकोत्तर चमत्कार के समीप पहुँचकर कुन्तक रस-सिद्धान्त को आत्मसात् कर लेते है ।

आचार्य कुन्तक काव्यलक्षण के प्रसङ्ग मे ही 'कविव्यापार' के साथ 'तद्विदाह्लादकारिता' को भी अनिवार्य मानते है। 'तद्विद्' का तात्पर्य है 'सहृदय' से । सहृदय आस्वाद-पक्ष से सम्बद्ध है । काव्य-प्रयोजन पर विचार करते हुये वे स्पष्टतः 'रस' शब्द का प्रयोग करते हैं।[1]

1- चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम् ।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते ।।

- व0 जी0

आचार्य कुन्तक ने सौभाग्य गुण को परिभाषित करते हुये 'सहृदय' के लिये 'सरसात्मनाम्' शब्द का प्रयोग किया है और उसकी व्याख्या के लिये 'आर्द्रचेतसाम्' कहा है।[1] इस प्रकार कुन्तक का साहृदय निश्चय ही सरसात्मा अथवा आर्द्रचित्त रसज्ञ ही है और उसका आह्लाद रसास्वाद ही है।

रस के प्रति कुन्तक का आग्रह इतना अधिक है कि वे रसवद् को सब अलङ्कारों का जीवित मानने के लिये प्रस्तुत है तथा उसे काव्य का सर्वस्व अंगीकार करते है।[2]

वक्रोक्तिचक्र मे रस का स्थान क्या है ? अलङ्कार्य मान लेने से ही रस की अधिक काष्ठाप्राप्ति नहीं होती । अलङ्कार्य शरीर है और अलङ्कार आभूषण, परन्तु कुन्तक के चिन्तन की व्याप्ति इतने ही तक सीमित नहीं है। उन्होंने प्रसङ्गात् इस सन्दह का निवारण कर दिया है।[3]

रस की अलङ्कारता का प्रतिषेध तो कुन्तक की 'प्रतिज्ञा' का निषेधमूलक पक्ष है। उसका विधेयात्मक पक्ष तो वस्तुरूप में रस की प्रतिष्ठा ह - यही तो रस की अलंकारता है। काव्य की

1- सर्वसम्पत्यरिस्पन्दसम्पाद्यं सरसात्मनाम् ।
सरसात्मनाम् आर्द्रचेतसाम् ------ ।।
- व0 जी0

2- यथा स रसवन्नाम सर्वालङ्कारजीवितम् ।
काव्यैकसारतां याति तथेदानीं विवेच्यते ।।
- व0 जी0

3- रसवतोलङ्कार इति षष्ठीसमासपक्षेऽपि न सुस्पष्टमन्वयः ।
यस्य कस्यचित् काव्यत्व रसवत्वमेव ।।
- व0 जी0

वर्ण्यवस्तु को वे स्पष्टरूप से रसस्वरूप मानते हैं और विविध प्रकार से उसकी रसनिर्भरता का प्रतिपादन करते है।[1]

आचार्य कुन्तक ने काव्यवस्तु के दो भेद किये हैं - चेतन और अचेतन । इसमें उन्होंने चेतन को ही मुख्य माना है और उसके लिये रसादि का परिपोष आवश्यक ठहराया है।[2]

आचार्य कुन्तक वव्तु को काव्य रसोद्‌दीपन सामर्थ्य के ही कारण मानते हैं । वस्तु का काव्यत्व वस्तुतः रसावहता के ही कारण सिद्ध होता है।

आचार्य कुन्तक ने रस की महिमा का वर्णन मार्ग जय के धर्म-निरूपण मे भी किया है। सुकुमार मार्ग में निरूपण में उन्होंने 'रसादिपमार्थज्ञमनः संवाद सुन्दरम्' कहा है। विचित्र मार्ग 'सरसाकूत' और 'रसनिर्भरारिप्राय' है। मध्यम मार्ग मे चूँकि दोनों मार्गों के गुण परस्पर स्पर्धा करते हैं, अतएव उसे भी रसपुष्ट होना चाहिये । इस प्रकार वक्रोक्तिचक्र में रससंचरण एक अनिवार्य उपादान है ।

आचार्य कुन्तक काव्यों में प्रबन्ध को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। उनकी प्रबन्धवक्रता वक्रोक्ति की काष्ठाप्राप्ति है । प्रबन्ध का आधार है - कथाशरीर । कथाशरीर का आधार ग्रहण कर ही कवि अपने प्रबन्ध के झरोखे और मेहराब बनाता है, लेकिन कथा कविप्रतिभा के विलास का अन्यतम क्षेत्र नहीं है । कन्तक स्पष्टतः प्रतिपादित करते हैं कि निरन्तर रस को प्रवाहित करने वाले सन्दर्भों से परिपूर्ण कविया की वाणी कथामात्र के आश्रय से जीवति नहीं रहनी है।

1- तदेवविधं स्वभावप्राधान्येन रसप्राधान्येन द्विप्रकारंसहजसौकुमार्यरसं
स्वरूप वर्णनाविषयवस्तुनः शरीरमलङ्कार्यतामेवार्हति ।
- व0 जी0

2- निरन्तररसोद्‌गार गर्भसन्दर्भनिर्भरा :।
गिरः कवीनां जीवन्ति न कथामात्रमाश्रिताः ।।
- व0 जी0

प्रकरण-वक्रता तथा प्रबन्ध-वक्रता के अनेक प्रकारों के भीतर भी कुन्तक ने रस-चमत्कार का अन्तर्भाव किया है। कवि में नवीन रस के उन्मीलन की क्षमता होना चहिये । एकरसता मनुष्य के मनोविज्ञान के प्रतिकूल पड़ती है। जैसे एक ही भोजन अरूचिकर होने लगता है, वैसे ही विरसता को हटाने के लिये प्रबन्ध मे अंगीरस के अतिरिक्त अन्य रसों को आना चाहिये। इस प्रकार कुन्तक की प्रबन्धवक्रता का आधार है - रस । अंगीरस तथा अंगरस के परस्पर आनुकूल्य के महनीय सिद्धान्त से वे भलीभाँति परिचित हैं ।

रस-सम्प्रदाय मे रस को काव्य की आत्मा माना गया है।[1] रसवादियों के द्वारा रस को अलङ्कार मानना रस का तिरस्कार ही है, क्योंकि इस प्रकार आत्मभूत रस आभूषण मात्र रह जाता है। कुन्तक ने भी अलङ्कारवादियों के रसवद् अलङ्कार का खण्डन करके रस की अलङ्कार्यता का प्रतिपादन किया है।[2]

रस-स्वरूप की मीमांसा में कुन्तक ने ध्वनि-सिद्धान्त का ही अनुसरण किया है। वे रस को वाच्य नहीं, वरन् व्यङ्ग्य मानते हैं ।

वक्रोक्ति यदि काव्यजीवित है और रस काव्य का परम तत्व है, तब रस और वक्रोक्ति का सम्बन्ध क्या हुआ ? 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' का आशय यही है कि काव्य स्वरूपता कला है, अनुभूति नहीं है। ध्यान देने की बात यह है कि कुन्तक काव्य की आत्मा के झमेले में नहीं पड़ते हैं। वे काव्य को अलङ्कार नहीं मानते हैं, क्योंकि अलङ्कार जिसे कहा जाता है, वह तो काव्यशरीर

1- काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम्। रसादिश्चात्मा ।

- साहित्यदर्पण, पृ0 16

2- अलङ्कारो न रसवद् परस्याप्रतिभासनात् ।
स्वरूपादतिरिक्तस्य शब्दार्थसङ्गतेरपि ।।

- व0 जी0

है, जिसे हम जानते और देखते हैं । वे आत्मा के रूप मे अन्य वस्तु की खोज भी नहीं करते है। उनके आकर्षण का केन्द्र काव्य है न कि रस और ध्वनि । कलाओं के आस्वाद का परम रहस्य आनन्द है और इसमें आलोचकों को काव्य से विलग कर देने की बड़ी मोहक शक्ति है। काव्य मार्ग के शब्दों की गति और अर्थ में इस आनन्द (स्वरूप) का प्रच्छन्न अहसास आलोचकों में रहता है। रस की अलौकिकता अन्तत इन्हीं शब्दों से नि.सृत होती है। रस तो कई है, अनुभूतियों की इन विभिन्न स्थितियों से काव्य-निर्माण नहीं होता है और न सामाजिकों के लिये इन विभिन्न स्थितियों को आनन्द की एकान्विति में ढालना ही सम्भव है । अतएव काव्यालोचन का वह सिद्धान्त जो अनुभूति के दर्शन पर आधृत है, आलोचक के लिये कई कठिनाईयाँ उत्पन्न कर देता है। अतएव आलोचक की व्यावहारिक सुविधा का ख्याल रखते हुये आचार्य कुन्तक ने आत्मा की खोज नहीं की, अनुभूतिवादी सिद्धान्त से बच कर निकल गये और रचना को ही आलोचक की मीमांसा का केन्द्र माना । इन्हीं कारणों से वक्रोक्ति को आचार्य कुन्तक ने काव्य का जीवन तत्व बताया ।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र में वक्रोक्ति

पाश्चात्य काव्यशास्त्र में वक्रोक्ति

आचार्य कुन्तक ही वक्रोक्ति को काव्यजीवित के रूप में प्रतिष्ठित करने वाले तथा इसकी सुव्यवस्थित विवेचना करने वाले आचार्य समझे जाते हैं । पाश्चात्य काव्यशास्त्र में वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग तो नहीं मिलता, किन्तु अनेक ऐसे विवेचन प्राप्त होते है जो कुन्तक द्वारा विवेचित वक्रोक्ति से अत्यन्त साम्य रखते हैं। वस्तुत. भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्रों की एक ही समस्या है कि अनुभूति सहृदयाह्लादकारिणी अभिव्यक्ति में कैसे परिवर्तित होती है ? इस सन्दर्भ में पाश्चात्य काव्यशास्त्र में 'सहृदयाह्लादकारिणी अभिव्यक्ति' की जो विवेचना विविध काव्यशास्त्रियों द्वारा की गयी है, उसमे यत्र-तत्र वक्रोक्ति का स्वरूप दृष्टिगत होने लगता है ।

आविर्भाव तथा विकास काल

पाश्चात्य काव्यशास्त्र के आदि आचार्य सुकुरात हैं । इन्होंने कवि को वक्रोक्ति-निपुण मानते हुये कवि को वक्तृत्वकला को निष्णात कहा है । होमरकृत 'इलियड' में स्वर्ण कलाकार को कला-चातुर्य के विवरण मे कलात्मक भ्रम या चमत्कार का महत्व स्पष्ट रूप से भासित होता है।[1] डा0 नगेन्द्र के अनुसार इस विवरण में तथ्य और कल्पना या वार्ता और वक्रता का भेद स्पष्ट किया है।[2] पाश्चात्य आचार्य पिण्डार ने कुन्तक के समान ही काव्य रचना के लिये कविकर्म की प्रधानता स्वीकार की है। इन्होंने पूर्व-प्रतिपादित प्रेरणा सिद्धान्त का निषेध किया तथा प्रेरणा का अर्थ प्रतिभा का सजग प्रयत्न किया।[3]

1- पाश्चात्य साहित्य शास्त्र, पृ0 18

2- भा0 का0 शा0 भू0, पृ0 299

3- पा0 सा0 द0, पृ0 15

इन्होंने 'लाघव' गुण को काव्य की उत्कृष्टता का प्रमाण माना है। आचार्य कुन्तक ने भी कवि विवक्षितार्थ तथा आह्लादकारी अर्थ कहकर लाघव गुण की विशेषताओं को स्वीकार किया है।[1]

एटाकिन्स ने गार्जियस के सम्बन्ध मे कहा है कि सामान्य रूप से गद्य में भी कविता के 'खड्ग और वैचित्र्य' का समावेश करना चाहिये । इस 'खड्ग और वैचित्र्य' का वक्रोक्ति से अत्यधिक साम्य है। अरिस्टोफेनिस के हास्य नाटक 'फ्राग्स' मे यूनानी भाषा के दो श्रेष्ठ नाटककारों ऐस्काइलस तथा यूरिपाइडिज के आलोचनात्मक विवाद का अत्यन्त सजीव चित्रण है।[2] अरिस्टोफेनिस के अनुसार काव्य के लिये वस्तु और कला दोनों की ही उदात्तता महत्वपूर्ण है । कुन्तक की वस्तु वक्रता और वक्रता के अन्य भेदों से स्पष्ट है कि वे भी काव्य में वस्तु तथा कला की उदात्तता स्वीकार करते हैं ।

प्लेटो तथा समकालिक आचार्य

आचाय प्लेटो काव्य को सत्य की अनुकृति को मिथ्या या अपूर्ण अनुकृति मानते थे । उनके अनुसार काव्य में वक्रता जैसे किसी सौन्दर्य तत्व का कोई स्थान नहीं है। दूसरी तरफ उनके समकालिक आचार्य अरस्तू ने वक्रोक्ति को ही काव्य का प्राणभूत तत्व कहा है । उन्होंने अनुकृति का अर्थ 'वस्तु कैसी होनी चाहिये' यह किया इस अर्थ से उनका तात्पर्य यह है कि वस्तु के उसी स्वरूप का ग्रहण होना चाहिये जो दृष्टा, वक्ता, श्रोता को ग्राह्य हो।[3]

1- शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि ।
अर्थः सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः ।।
- व0 जी0, 1/9

2- भा0 का0 शा0 भू0, पृ0 298-99

3- पा0 सा0 शा0, पृ0 67

आचार्य कुन्तक ने भी इसी ग्राह्य-स्वरूप को सहृदयाह्लादकारी धर्म कहा है।[1]

भाषा-विशेष को काव्य मे विशेष मानने वाले आचार्य अरस्तू कहते है - 'काव्य-भाषा मे भाषा-शिल्प का प्रयोग होता है, उसमें ललित कल्पना की क्रीडा होती है, जो श्रोता के मन का अनुरञ्जन करती है।'[2] वह कहते हैं कि भाषा में वैचित्र्य का रङ्ग देना चाहिये, क्योंकि जो मनुष्य असाधारण की प्रशंसा का विषय है वह आह्लाद का भी विषय होता है।[3] अरस्तू वाग्वैचित्र्य और औचित्यपूर्ण अभिव्यञ्जना को भी विशेष महत्व देते हैं, क्योंकि इससे वाणी में वैशिष्ट्य (चमत्कार) का समावेश होता है।[4]

अरस्तू का कथावस्तु-विवेचन कुन्तक की प्रकरण-वक्रता और प्रबन्ध-वक्रता से अत्यधिक साम्य रखता है। अरस्तू के अनुसार महाकाव्य का आधार सामान्यतः प्रसिद्ध या ख्यात होना चाहिये - 'उत्पाद्य का अरस्तू निषेध नहीं करते, किन्तु अधिक काम्य प्रसिद्ध ही हैं।' अरस्तू का मत है कि ऐतिहासिक कथानक भी कल्पना की सम्भाव्यता के कारण त्रासदी अथवा महाकाव्य को उत्कृष्टता प्रदान करता है।[5] आचार्य कुन्तक ने प्रकरण-वक्रता के द्वितीय-भेद में इसी भाव को व्यक्त किया है।

आचार्य अरस्तू ने कथानक के सरल[6] व जटिल[7] दो भेद मानते हुये जटिल कथानक की दो परिस्थितियाँ बतायी हैं - स्थिति-विपर्यय और अभिज्ञान । स्थिति-विपर्यय से आशय ऐसे

1- वक्रोक्तिजीवितम्

2- अरस्तु का काव्यशास्त्र, पृ0 141

3- अरस्तू का काव्यशास्त्र, पृ0 300

4- अरस्तू का काव्यशास्त्र, पृ0 300

5- अरस्तु का काव्यशास्त्र, पृ069

6- अरस्तू का काव्यशास्त्र, पृ0 75

7- अरस्तू का काव्यशास्त्र, पृ0 76

ऐसे प्रसङ्ग से है, जिसमे सर्वथा अप्रत्याशित रूप से कर्ता की इच्छा के विरूद्ध प्रायः अनजाने स्थिति उलट जाती है।[1] अभिज्ञान का आशय है - किसी अज्ञात तथ्य प्राय महत्वपूर्ण रहस्य के सहसा उद्घाटन से स्थिति मे परिवर्तन होता है । कथानक एक मोड़ लेता है, जो अनुकूल अथवा प्रतिकूल, सुखद अथवा दुखद कैसा भी हो सकता है।'[2] स्थिति विपर्यय तथा अभिज्ञान के उदाहरण रूप में क्रमशः 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' मे दुर्वासा शाप तथा दुष्यन्त द्वारा मन्त्रसिद्ध मणिबन्ध के स्पर्श को उद्धृत किया जा सकता है। अरस्तू के अनुसार स्थिति विपर्यय तथा 'अभिज्ञान शकुन्तलम्' दोनों ही काव्य में कुतूहल की सृष्टि करने वाले हैं। कथानक की इन कुतूहल-वर्धक स्थितियों को आचार्य कुन्तक ने भी स्वीकार किया है। आचार्य कुन्तक के सप्तम प्रकरण-वक्रता[3] तथा द्वितीय प्रकरण-वक्रता[4] में स्थिति विपर्यय तथा तृतीय प्रकरण वक्रता में अभिज्ञान की उद्भावना अन्तर्भूत प्रतीत होती है।

एकान्विति, सम्भाव्यता, सहज विकास, कुतूहल और साधारणीकरण। कथानक की एकान्विति के लिये आवश्यक है कि प्रबन्ध का उद्देश्य एक हो, प्रबन्ध की प्रत्येक घटना प्रधान उद्देश्य का अभिन्न अङ्ग हो, सभी घटनाऐं मूल उद्देश्य से सम्बद्ध होने के साथ ही परस्पर अनिवार्य रूप से सम्बद्ध हों तथा मूल उद्देश्य से असम्बद्ध एक भी घटना न हो।[5] कथानक की एकान्विति से सम्बद्ध इन सभी विशेषताओं का सङ्केत आचार्य कुन्तक ने भी अपने ढंग से किया है। उन्होंने

1- अरस्तु का काव्यशास्त्र, पृ0 76

2- अरस्तू का काव्यशास्त्र, पृ0 77

3- व0 जी0, 4/11

4- व0 जी0, 4/5-6

5- अरस्तू का काव्यशास्त्र, पृ0 72

स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि प्रधान कार्य निश्चय ही एक होना चाहिये। उसी से सम्बद्ध विभिन्न प्रकरण परस्पर उपकार्योपकारकभाव से स्थित होने चाहिये। [1]

अरस्तू के अनुसार प्रधान उद्देश्य से सम्बद्ध विभिन्न घटनाएँ इस प्रकार व्यवस्थित होनी चाहिये कि उनक इधर-उधर करने से सर्वाङ्ग ही विच्छिन्न हो जाय। [2] कुन्तक ने भी प्रकरणों के पूर्वापर की समुचित अन्विति हेतु प्रबन्ध काव्यों मे मुख्य प्रति[illegible] आदि सन्धियों का विधान आवश्यक माना है। [3]

[illegible]र्य कुन्तक की विभिन्न प्रकरण तथा प्रबन्ध वक्रताएँ प्रधान कार्य की सिद्धि में सहायक होने के कारण ही वक्रता की श्रेणी मे आती हैं। यथा-प्रबन्ध के औचित्य या उद्देश्य के अनुरूप मूल कथानक के प्रकरणों में परिवर्तन या संशोधन [4] मूल उद्देश्य की सिद्धि में चन्द्रोदय, जलक्रीड़ा, ऋतुवर्णन, उद्यान-विहार इत्यादि रोचक तथा सरस प्रसङ्गा की अवतारणा [5], किसी विशिष्ट प्रकरण में प्रधान रस के उत्कर्ष का दृष्टिगत होना [6], प्रधानवस्तु की सिद्धि के लिये अप्रधान वस्तु की उल्लेखनीय विचित्रता,[7] गर्भाङ्क का नियोजन,[8] तथा नियोजन और प्रधान उद्देश्य की सिद्धि हेतु मूल कथानक के रस मे परिवर्तन। [9]

1- व0 जी0, 4/5-6
2- अरस्तू का काव्यशास्त्र, पृ0 72
3- व0 जी0, 4/14-15
4- व0जी0, 4/3-4
5- व0 जी0, 4/9 तथा पृ0 514
6- व0 जी0, 4/10
7- व0 जी0 4/11
8- व0 जी0, 4/12-13
9- व0 जी0, 4/16-17

अरस्तू ने सहज विकास नामक कथानक गुण मे [1] कथानक के विभिन्न अङ्गों का विकास सहज रूप से होना माना है। कुन्तक ने सन्धियों के विधान को आवश्यक मानकर स्वीकार किया है।[2]

'पूर्णता' के विषय मे अरस्तू का कहना है कि 'क.ानक के आदि, मध्य और अवसान का सङ्गत विकास', आचार्. कुन्तक द्वारा प्रबन्ध काव्यों में सन्धियों का विधान आवश्यक मानना इसी 'पूर्णता' की ओर सङ्केत करता है। [3]

'सम्भाव्यता' का अर्थ है - जो घटित हो चुका है, वही पर्याप्त नहीं है वरन् जो घटित हो सकता है, वह भी काव्य है। [4] कुन्तक ने इतिहास प्रसिद्ध कथानक में कल्पना प्रसूत अंश के सौन्दर्य से प्रकरण की जिस वक्रता का निर्देश किया है [5], वह प्रबन्ध में सम्भाव्यता की स्वीकृति का परिचायक है। इसके अतिरिक्त प्रकरण तथा प्रबन्ध की अन्य वक्रताओं के आधार पर कहा जा सकता है कि कुन्तक ने प्रबन्ध मे सम्भाव्यता को स्वीकार किया है।

अरस्तू तथा कुन्तक दोनों ने ही कथानक मे कुतूहलता के सन्निवेश को आवश्यक माना है। कुन्तक द्वारा विवेचित प्रथम, द्वितीय, तृतीय, षष्ठ, सप्तम तथा अष्टम प्रकरण-वक्रताओं का मूल उद्देश्य पाठक या दर्शक की कुतूहलता या औत्सुक्य को बनाये रखना ही है ।

साधारणीकरण के विषय में अरस्तू का मत है कि प्रबंध रचना के पूर्व ही कवि को अपने कथानक की एक सार्वभौमिक सर्वसाधारण रूपरेखा बना लेनी चाहिये, तदुपरान्त उसमें विशिष्ट

1- अरस्तू का का0, पृ0 73

2- व0 जी0, 4/14-15

3- अरस्तू का काव्यशास्त्र, पृ083

4- अरस्तू का काव्यशास्त्र, पृ0 72

5- व0 जी0, 4/13-14

नामरूपधारी व्यक्तियों और उनकी घटनाओं का समावेश करना चाहिये।[1]

कुन्तक ने साधारणीकरण सिद्धान्त का पृथक विवेचन नहीं किया है वरन् उन्होंने कवि-कौशल को अधिक महत्व दिया है। तथापि इस सिद्धान्त के वस्तुगत पक्ष को उन्होंने प्रधान कार्य की महत्व प्रतिष्ठा तथा मूलरस-परिवर्तन[2] को प्रबन्ध कौशल का प्रमुख गुण मानकर स्वीकार किया है।[3]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अरस्तू ने कुन्तक की वक्रोक्ति को अपने शब्दों मे स्वीकार किया है।

पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों में अरस्तू के बाद सिसरो का स्थान आता है। सिसरो ने भव्य औचित्य (डेकोरस) को जीवन और साहित्य का प्राण-तत्व माना है। भव्यता से तात्पर्य असामान्यता से है जो वक्रता से साम्य रखती है। सिसरो ने सर्वसाधारण के समक्ष में आने वाली बोल-चाल की भाषा को ही श्रेष्ठ माना है।[5] परन्तु अन्यत्र उनका कथन है - सुष्यु शैली उपयुक्त शब्द-चयन पर आश्रित है। उपयुक्त का अर्थ है - जनता के वास्तविक व्यवहार की शब्दावली जो जनपदीय घिसे-पिटे ग्राम्य तत्वों से मुक्त और गरिमा तथा घटा प्रदान करने वाले असाधारण शब्दों तथा लाक्षणिक प्रयोगों से युक्त हों।[5]

सिसरो ने तीन प्रकार की शैलियाँ मानी है । प्रथम-ऋजुसरल अलङ्कार-विहीन शैली-उपदेश के लिये द्वितीय-मध्यम शैली प्रसादन के लिये जिसमें रङ्ग की छटा और साथ ही संयम भी हो और तृतीय-उदात्त शैली सम्प्रेरित करने के लिये जो भव्य तथा सप्राण हो। सिसरो के कथन उन्हें वक्रता का पक्षपाती सिद्ध करते हैं। तथापि सिसरो के अनुसार काव्य का प्राण-तत्व औचित्य ही है।

1- अरस्तु का काव्यशास्त्र, पृ0 75
2- व0 जी0, 4/16-17
3- भा0 का0 शा0 भू0, पृ 228
4- पा0 स0 द0, पृ0 68
5- भा0 का0 शा0, भू0, पृ 303

सिसरो के पश्चात् होरेस हुये जिनका मूल-सिद्धान्त औचित्य है।[1] होरेसे ने विषयौचित्य, चरित्रौचित्य, घटनौचित्य अभिनऔचित्य तथा शब्दयोजना औचित्य पर जो विचार प्रकट किये है, वह कुन्तक की प्रकरण-वक्रता और प्रबन्धवक्रता से किञ्चिद् साम्य रखते हैं।[2] वैसे तो आचार्य कुन्तक ने भी औचित्य को ही वक्रता का आधार माना है, परन्तु वक्रता और औचित्य का व्यावर्तक धर्म भिन्न है। वक्रोक्तिवाद जहाँ रोमानी काव्यरूप की प्रतिष्ठा करता है, वहीं औचित्य विचारगत सौष्ठव की। अतएव, इन दोनों में प्रकृति का भेद है और निसर्गत रोमानी प्रकृति के साथ कुन्तक की वक्रता की विशेष सङ्गति नहीं बैठती है। यद्यपि न रोमानी काव्यशास्त्र वक्रोक्ति का पूर्णतः बहिष्कार कर सकता है और ना कुन्तक औचित्य का ।

सिसरो व होरेस के ही समकालीन लाजाइनस के अनुसार काव्यानन्द के लिये रचना-कौशल से भी महत्वपूर्ण है - औदात्य । इनके अनुसार औदात्य ही काव्य की आत्मा है । लाजाइनस के अनुसार औचित्य ही वक्रता का भी आधार है और यह 'असाधारणता' या 'विलक्षणता' पर आधारित है।[3] लाजाइनस ने उदात शैली के मुख्य आधार बताये है - महान परिकल्पना शक्ति, प्रबल और प्रेरणा-प्रसूत आवेग, समुचित अलङ्कार-योजना, उत्कृष्ट भाषा अथवा शब्द-शिल्प तथा गरिमामय रचना विधान। महान परिकल्पना शक्ति के विषय में लाजाइनस का मत है कि कवि या लेखक में महान या भव्य वस्तु की परिकल्पना तथा उस भव्य-वस्तु के सुष्ठु समायोजन की शक्ति होनी चाहिये।

1- पा0 साहि0 शा0, पृ0 143

2- पा0 साहि0 शा0, 146-50

3- प्रस्तुत शोध-ग्रन्थ, प्रथम अध्याय - वक्रोक्ति भेद

कुन्तक ने भी वस्तुवक्रता के प्रसङ्ग मे वर्णनीय वस्तु के सहृदयाह्लादकारित्व तथा प्रकरण और प्रबन्ध वक्रता के विभिन्न भेदों में सहृदयाह्लादकारी वर्णनीय वस्तु के सुष्ठु-संयोजन की विविध विधाना का उल्लेख किया है। प्रबल तथा प्रेरणा-प्रसूत आवेग को के आश्रय से वाक्य-वक्रता के रस-वक्रता भेद के अन्तर्गत रखा जा सकता है । उदात शैली के शेष तीन आधार वाह्य तथा कलापक्ष से सम्बद्ध है । इनका सम्बन्ध वर्ण, पद या वाक्यवक्रता से माना जा सकता है। इस प्रकार, इस उदात शैली के सभी आधार-तत्व वक्रता मूलक सिद्ध होते है ।

आचार्य कुन्तक के अनुसार वचन या संख्या-वक्रता की दो स्थितियाँ होती है - प्रथम, वचनों का परिवर्तन और द्वितीय, भिन्न वचनों का समानाधिकरण । लाजाइनस ने वचन-परिवर्तन में प्रथम स्थिति को ही स्पष्ट किया है । एक वचन के स्थान पर बहुवचन का प्रयोग अप्रत्याशित आवेग की अभिव्यक्ति के कारण और बहुसंख्यक के स्थान पर एकवचनवादी शब्द का प्रयोग विपरीतता का आश्चर्य उत्पन्न करने के कारण चमत्कार उत्पन्न करते हैं।[1] लाजाइनस का काल-परिवर्तन वही है, जो कुन्तक की काल-वैचित्र्य-वक्रता है । उसके शब्दों में यदि आप बीती बातों को इस प्रकार प्रस्तुत करें कि मानो वह वर्तमान में हो रही है, तो आपकी कहानी आख्यान न रहकर वास्तविकता का रूप धारण करने वाली लगती है।[2] यद्यपि लाजाइनस का पुरूष-परिवर्तन और कुतक की पुरूष-वक्रता का स्वरूप भिन्न है, तथापित पुरूष-परिवर्तन और पुरूष-वक्रता का मूल एक ही है - पुरूष में परिवर्तन । अलङ्कार विधान के अन्तर्गत - 'रूप-परिवर्तन' नामक अलंकार

1- साहित्यानुशीलन, पृ0 260

2- साहित्यानुशीलन, पृ0 260

का विवेचन करते समय लाजाइनस ने वचन, काल, पुरूष, कारक और लिङ्ग-परिवर्तन द्वारा काव्य मे सौन्दर्य की उत्पत्ति मानी है । कुन्तक ने भी पदपरार्द्धवक्रता के अन्तर्गत सख्या, काल और पुरूष-वक्रताओं का विवेचन किया है।

आचार्य कुन्तक ने पदपूर्वार्द्धवक्रता के अन्तर्गत-उपयुक्त शब्द चयन तथा लाक्षणिक प्रयोगों के महत्व को ही स्वीकार किया है। लाजाइनस के मत में भी उदात शैली का आधार है - उत्कृष्ट भाषा। भाषा की उत्कृष्टता का आधार है - शब्द सौन्दर्य और शब्द सौन्दर्य की उत्पत्ति, जो प्रभावक और उपयुक्त शब्द प्रयोग से होती है। [1]

अपने समकालिक आचार्यों की भाँति क्विण्टीलियन ने भी मुख्यतः वक्तृत्वकला के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुये वस्तुगत सौन्दर्य की अपेक्षा रूपगत सौन्दर्य को अधिक महत्व दिया है। उन्होंने शैली के तीन भेद बताये - सरल शैली-शिक्षा देने के लिये, भव्य और सशक्त शैली - भावावेशों को आन्दोलित करने के लिये, अलङ्कृत शैली - श्रोताओं का मनोरन्जन करने के लिये। अलङ्कृत शैली के विषय में क्विण्टीलियन का कथन है - 'यदि कोई वक्ता यथार्थता और स्पष्टतापूर्वक अपने विचारों को प्रकट करता है तो वह केवल थोडी बहुत प्रशसा का पात्र होता है, जबकि अलङ्कारपूर्ण शैली को अपनाने वाले वक्ता को विशेष यश मिलता है।' [2] अत्यधिक अलङ्कृत शैली का विरोध करते हुये क्विण्टीलियन ने कहा है - 'इससे केवल शैली का सौन्दर्य ही नष्ट नहीं होता, वरन् विषयाभिव्यक्ति विश्रृंखलित हो जाती है। समस्त वाक्य इधर-उधर बिखर

1- पा0 साहि0 शा0, पृ0 130

2- भा0 स0 द0, पृ0 94

जाते है और विसङ्गति दिखायी पड़ने लगती है।[1] क्विण्टीलियन का यह कथन अलङ्कार वक्रता के सम्बन्ध मे कहे गये कुन्तक के कथनों से अत्यधिक साम्य रखता है।[2]

अवनति काल

पाश्चात्य काव्यशास्त्र में लगभग पाँचवी शताब्दी से पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त तक का काल अन्धकार युग माना जाता है। इस युग मे कैथोलिक धर्म की ही प्रधानता रही, जिसके कारण साहित्य और साहित्यिक समीक्षा में प्रगति न हो सकी । इस युग मे दान्ते के विवेचन में भी कतिपय वक्रता के सङ्केत प्राप्त होते हैं। उन्हें इस युग साहित्यिक और सांस्कृतिक जागरण का अग्रदूत माना जाता है। दान्ते ने काव्योचित भाषा के परिनिष्ठित रूप का स्वीकार करते हुये ग्राम्य भाषा के प्रयोग को सर्वथा वर्जित कहा है । दान्ते के अनुसार शब्द मूलत. त्रिविध होते है -तोतले शब्द, स्त्रियोचित पेलवता युक्त शब्द तथा पौरूष-युक्त शब्द । पौरूष-युक्त शब्द में दो भेद हैं- ग्राम्य और नागर । नागर शब्द मे भी कुछ मसृण और चिक्कण होते हैं तथा कुछ प्रकृत और अनगढ।[3] दान्ते का कथन है - "इन शब्दों में से मसृण और चिक्कण (प्रकृत) को ही हम उदात्त शब्दावली कहते है, चिक्कण और अनगढ़ शब्दों में आडम्बर मात्र रहता है।' ----- उदात शैली में तुतले शब्दों के लिये कोई स्थान नहीं है क्योंकि वे अपरिचित शब्द होते है, स्त्रैण शब्द अपनी स्त्रैणता

1- भा0 स0 द0, पृ0 94

2- व0 जी0, पृ0 318-319

3- भा0 स0 द0, पृ0 94

के कारण और ग्राम्य शब्द अपनी परिभाषा के कारण त्याज्य हैं । नागर शब्दावली के चिक्कण और अनगढ़ शब्द भी ग्राह्य नहीं है। इस प्रकार, केवल समृण और प्रकृत शब्द रह जाते हैं, ये ही शब्द भव्य हैं।[1] दान्ते के इस कथन में परिचित अर्थात् सामान्य बोलचाल के शब्दों का बहिष्कार, ग्राम्य तथा अनगढ शब्दों का परित्याग कुन्तक की वक्रोक्ति की ही विशेषताएँ हैं ।

मध्ययुग मे धार्मिक शिक्षा को ही विशेष महत्त्व प्रदान किया गया अतः इस युग में वक्रता के अन्य सङ्केत दुर्लभ हैं ।

पुनर्विकास काल

(क) पुनर्जागरण काल -

पन्द्रहवीं, सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी का काल पुनर्जागरण अथवा नवजागरण का काल है। मध्य युग के अन्तिम चरण में दान्ते ने ही इस युग की आधारशिला रख दी थी। इस काल में अनेक नवीन प्रयोगों को प्रेरणा प्राप्त हुयी तथा प्राचीन साहित्यिक सिद्धान्तों की भी पुनर्प्रतिष्ठा हुयी। इस युग में कल्पना का महत्त्व प्रतिपादित किया गया । डेनिमलो (1536 ई0) का कथन है - "सत्य और कल्पना के मिश्रण की बात इसलिये करता हूँ क्योंकि इतिहासकार की भाँति कवि वस्तुओं या घटनाओं का यथावत् वर्णन करने के लिये बाध्य नहीं होता, उसका काम तो यह दिखाना है कि कैसी होनी चाहिये।' पैट्रिजी का कथन है कि काव्य मे किसी भी विषय के प्रतिपादन हेतु काव्यमय रीति का होना आवश्यक है।

1- भा0 का0 शा0 भू0, पृ0 305

बेन जॉनसन प्राचीन क्लासिकल साहित्य के अनुकरण पर ही अधिक बल देते हैं । डा0 नगेन्द्र कहते हैं - "फिर भी समग्र रूप मे परम्परा में ही जॉनसन की निष्ठा अचल रही और उन्होंने उद्‌भावना की अपेक्षा रीति तथा अनुशासन पर और इधर वैचित्र्यवक्रता की अपेक्षा स्पष्टता, समासगुण, औचित्य, विवेक आदि पर ही अधिक बल दिया।"[1]

नवशास्त्रवादी काल

पुनर्जागरण काल में स्वतन्त्र चिन्तन को प्रोत्साहन मिलने के कारण विश्रृखलता उत्पन्न हो गयी थी । इस काल के ही बेन जॉनसन ने सर्वप्रथम प्राचीन ग्रीक और रोमन कवियों तथा आचार्यों का आदर्श सामने रखकर काव्यशास्त्रीय व्यवस्था की, इसीलिये बेन जॉनसन को नवशास्त्रवाद का सङ्केत भी मानते है। नव्यशास्त्रवाद के अनुसार ग्रीक और रोमन आचार्यों के सिद्धान्तों का कठोरता से पालन ही साहित्य-सृजन की सफलता का रहस्य है।

नवशास्त्रवाद के प्रवर्तक बोइलो ने काव्यरचना मे विवेक को आवश्यक माना है।[2] उनके अनुसार काव्य में वक्रता के लिये कोई स्थान नहीं है। बोइलो के अनुसार काव्य विवेकाश्रित होने के कारण बुद्धि का विषय है, जबकि कुन्तक के मत में यह हृदय का विषय है। बोइलो जब अनधिकार चेष्टा, शब्दाडम्बर, गर्वोक्ति, निराधार कल्पना, अनावश्यक और अस्वाभाविक अलङ्करण

1- भा0 का0 शा0 भू0, पृ0 306

2- भा0 का0 शा0 भू0, पृ0 306

तथा भाषा शैथिल्य को काव्य दोष बताते है, तो वे कुन्तक की समानता करते प्रतीत होते है, किन्तु वस्तुत ऐसा नहीं है। जहाँ कुन्तक वाग्वैचित्र्य के लिये इनका परित्याग मानते हैं, वही बोइलो ने भाषा की शुद्धता के लिये इसका परित्याग माना है ।

नवशास्त्रवादी ड्राइडन के अनुसार प्राचीन मान्यताओं के युगानुरूप परिवर्तन आवश्यक है।[1] स्पष्ट है कि ड्राइडन को वक्रता-वैचित्र्य मान्य है। उसने प्राचीन कला सिद्धान्तों के प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त की, परन्तु उसका अक्षरश पालन उसे मान्य नहीं है। बोइलो के विपरीत ड्राइडन ने काव्यसृजन के लिये विवेक से अधिक कल्पना को महत्व दिया - "काव्यसृजन के लिये विवेक आवश्यक है, पर उसे जीता-जागता, सुन्दर एवं हृदयग्राही चित्र बनाने के लिये उससे भी अधिक आवश्यकता है - कल्पना की।"[1] जॉनसन और शेक्सपियर की तुलना करते हुये ड्राइडन ने जॉनसन को वाक्य-विन्यास और शेक्सपियर को उसकी कल्पना-शक्ति के कारण महान बताया है।[2] बोइलो ने काव्य के उद्देश्यों - शिक्षा और आनन्द मे से शिक्षा को विशेष महत्व दिया, जबकि ड्राइडन ने आनन्दानुभूति को - "आनन्दानुभूति प्रदान करना ही काव्य का प्रमुख उद्देश्य है । यह शिक्षा भी दे सकता है, पर यह उद्देश्य गौण है।"[3] ड्राइडन ने कवि की तुलना बन्दूक बनाने वाले या घड़ीसाज से की है, जिनका कला कौशल ही बन्दूक या घड़ी के मूल्यॉकन में अधिक महत्वपूर्ण होता है, लोहा या चॉदी नहीं।

1- पा0 साहि0 शा0, पृ0 168

2- पा0 साहि0 शा0, पृ0 165

3- पा0 साहि0 शा0, पृ0 166

इसी प्रकार कवि जिन वस्तुओं का अनुकरण करता है, वे इतनी महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि उसका कला-कौशल जिसके आधार पर वह काव्य-सृजन करता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि ड्राइडन काव्य के प्रत्येक क्षेत्र में वक्रता को स्वीकार करते हैं । एक आलोचक का कथन है -"विषय-वस्तु या कथानक को काव्योपयोगी बनाने के सम्बन्ध में ड्राइडन के विचार आनन्दवर्द्धन और कुन्तक से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं।"[1]

एडीसन ने वार्ता और वक्रता के भेद को ही स्पष्ट किया है - साधारण साम्य वार्ता है और विचित्र साम्य वक्रता है। एडीसन के अनुसार आह्लाद और विस्मय काव्य के लिये आवश्यक है और कुन्तक के अनुसार भी सहृदयाह्लाद और वक्रकविव्यापार काव्य के लिये आवश्यक हैं।[2] उनके अनुसार चमत्कार के लिये आह्लाद और विशेषकर विस्मय यह ही दो गुण अनिवार्य हैं। एडीसन की रचनाओं में अनेक ऐसे स्थल प्राप्त होते हैं, जिनका वक्रोक्ति से सादृश्य बतलाया जा सकता है। यह कहते हैं - 'एक व्यक्ति के सङ्गीत की दूसरे व्यक्ति के सङ्गीत से उपमा देने या उसके रङ्गों को इन्द्रधनुष के रङ्गों के समान कहने में तब तक कोई चमत्कार नहीं हैं, जब तक इस स्पष्ट साम्य के अतिरिक्त लेखक किसी ऐसी सङ्गति की अन्वेषणा नहीं कर लेता, जो पाठक के मन में विस्मय की उद्‌बुद्धि कर सके।'[3] जिस प्रकार वास्तविक चमत्कार इस तरह के भाव या तथ्य साम्य तथा सङ्गति में निहित है। उसी प्रकार मिथ्या चमत्कार का आधार होता है - पृथक् वर्णों का साम्य तथा

1- साहित्यानुशीलन, पृ0 27।

2- व0 जी0, 1/7

3- भा0 का0 शा0 भू0, पृ0 308

सङ्गति जैसे कतिपय अनुप्रास भेदों या एकाक्षर आदि में या शब्दों का साम्य और सङ्गति जैसे - खड्गबंध में।"[1] आचार्य कुन्तक ने भी वर्ण-विन्यास-वक्रता के प्रसङ्ग में व्यसनिता से प्रेरित होकर औचित्य रहित सप्रयास वर्ण-विन्यास की निन्दा की है।[2] महाकाव्य की भाषा-शैली पर विचार करते हुये एडीसन ने भाषा में प्रसाद-गुण के साथ भव्यता का समावेश आवश्यक माना है, जो विलक्षण प्रयोग से सम्भव है।[3] यह विलक्षणता ही कुन्तक की वक्रोक्ति है।

सैमुअल जॉनसन ने अलङ्कृत काव्य-शैली को काव्य के लिये आवश्यक माना है, तथापि वागाडम्बर और अनावश्यक अलङ्कारों की भर्त्सना की है।[4] इन्होंने परम्परागत नियमों के अन्धानुकरण की अपेक्षा प्रतिभा को अधिक महत्वपूर्ण माना है।[5] जॉनसन ने प्रतिभा-जन्य वक्रता को स्वीकार किया है। इनके अनुसार साधारण शैली विज्ञान और दर्शन सदृश विश्लेषणात्मक विषयों के लिये उपयुक्त है, किन्तु काव्यशैली को अधिकाधिक गरिमापूर्ण, सौष्ठवपूर्ण तथा अलङ्कृत बनाना चाहिये, जिसमे रङ्ग हो, बिम्बात्मकता हो, भाषा की विविधता हो और सङ्गीतात्मकता हो।[6] काव्य मे शब्द प्रयोग के प्रति सावधानी रखने के पक्ष में उन्होंने कहा है - 'हीरे को मूल्यावान बनाने के लिये पत्थर को सावधानीपूर्वक रगड़कर चमकाया जाना चाहिये। वस्तुओं का सही चित्रण करने के

1- भा0 का0 शा0 भू0, पृ0 308
2- व0 जी0 2/2, पृ0 174 तथा 184
3- भा0 का0 शा0 भू0, पृ0 309
4- पा0 स0 द0, पृ0 205
5- पा0 स0 द0, पृ0 204
6- पा0 साहि0 शा0, पृ0 194-95

लिये शब्दों को भी निश्चय ही निखारा जाना चाहिये।'[1] जानसन के यह विचार कुन्तक को वक्रोक्ति से साम्य रखते हुये दिखायी पड़ते हैं।

(ग) स्वच्छन्दतावादी काल

ग्यारहवीं शताब्दी का काल स्वच्छन्दतावाद का युग था। इस युग मे रूढिबद्ध काव्यरचना को अस्वीकार किया गया । इस वाद के जन्मदाता विङ्केलमन माने जाते है।

कविता या चित्र की विषयवस्तु के ग्रहण के सम्बन्ध मे विङ्केलमन ने कहा है - 'कवि और चित्रकार दोनों को केवल सम्भाव्य विषय ग्रहण करने की अपेक्षा एसा विषय लेना चाहिये, जो सम्भाव्य होकर भी असाध्य हो।'[2] यहाँ असाध्य से विङ्केलमन का आशय सम्भवतः विचित्र अथवा रमणीय विषय-चयन से है, जो कि कुन्तक को भी अभीष्ट है।[3]

गेटे ने काव्य में कल्पना-शक्ति को अत्यधिक महत्व देते हुये कहा है - 'फिर भी मूलतः कोई वस्त अकाव्यता नहीं होती, बशर्ते की कवि अपनी कल्पना में उसका समुचित प्रयोग कर सके ----------- लय और स्वरमाधुर्य तथा कल्पना शक्ति से अलङ्कृत तथा मोहक और ओजपूर्ण शैली में लिखी हुयी उपदेशात्मक कविता अर्थात् उत्कृष्ट कलाकृति की आन्तरिक महता किसी भी प्रकार नहीं समझनी चाहिये।'[4]

1- पा0 साहि0 शा0, पृ0 195

2- पा0 स0 द0, पृ0 214

3- वक्रोक्तिजीवितम्, पृ0 303

4- पा0 स0 द0, पृ0 228-29

'सूक्ष्म अवयना के अङ्कन में कलाकार को निश्चय ही श्रद्धा तथा निष्ठा के साथ प्रकृति का अनुकरण करना चाहिये ------ किन्तु, कलासृजन के उच्चतर क्षेत्र मे जिसके कारण चित्र वास्तव में चित्र बनता है, उमे स्वच्छन्दता रहती है और वह कल्पना का उपयोग कर सकता है।' [1]

विषय-चयन के सम्बन्ध में अपनी प्रसिद्ध कृति 'लाआकून' मे लेसिङ्ग ने कहा है - 'इसी प्रकार कवि भी काव्य-रचना के समय अपनी अविरल अनुक्रिया में वस्तु के केवल एक ही गुण को ग्रहण कर सकता है, इसलिये उसे ऐसे ही गुण का चयन करना चाहिये, जो वस्तु का सबसे सजीव चित्र मन में जमा सके।' [2]

शिलर ने वस्तुनिष्ठ सरलता के स्थान पर भावपरक वक्रता को अधिक महत्व प्रदान किया है। इन्होंने शास्त्रवादी तथा स्वच्छन्दतावादी कविता की तुलना करते हुये वस्तुनिष्ठ शास्त्रवादी कविता की अपेक्षा भावप्रवण स्वच्छन्दतावादी कविता की प्रशसा की है। [3] इस प्रकार विङ्कलमन, लेसिङ्ग, शिलर, गटे आदि में स्वच्छन्दतावाद का जो स्वरूप दिखायी देता है, उसे हम स्वच्छन्दतावाद का पूर्वाभास ही कह सकते हैं।

वर्ड्सवर्थ द्वारा लिखित 'लिरिकल बेलेड्स' की भूमिका से अंग्रेजी साहित्य में स्वच्छन्दतावाद का प्रवर्तन हुआ । अपने नव्यशास्त्रवादियों के विपरीत वर्ड्सवर्थ की मान्यताएँ थीं - विषयवस्तु का साधारण या ग्राम्य-जीवन से चयन, घटनाओं और स्थितियों का मनुष्यों की सरल बोलचाल की भाषा में

1- भा0 का0 शा0 भू0, पृ0 310

2- भा0 का0 शा0 भू0, पृ0 310

3- समीक्षाशास्त्र, पृ0 58।

प्रस्तुतीकरण, अनलङ्कृत और काव्य-शैली, गद्य और पद्य में अभिन्नता आदि । वर्ड्सवर्थ की ये मान्यताएँ उसे वक्रता-विरोधी सिद्ध करती हैं, किन्तु उसके विचारों का सूक्ष्मतया विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका विरोध वस्तुत· मिथ्या वक्रता-विलास से ही है। [1] संयत आह्लादकारी वक्रता उन्हें भी मान्य है।

वड्र्सवर्थ का साधारण ग्राम्य-जीवन से विषय-चयन का उद्देश्य है - भावों को सशक्त तथा सहृदयाह्लादकारी अभिव्यक्ति। [2] वक्रोक्ति की भी यही विशेषता है। [3]

जनसाधारण की भाषा को काव्य-भाषा बनाने से वड्र्सवर्थ का अभिप्राय ग्राम्य-भाषा के यथावत् प्रयोग से नहीं, अपितु उसके परिष्कृत रूप से था, जिससे पाठकों के हृदय में अरुचि और वितृष्णा उत्पन्न न हो। उनका कथन है - 'जिस प्रकार की कविता का मैं समर्थन कर रहा हूँ, उसकी शब्दावली यथासम्भव मानव व्यवहार की भाषा से चुनी हुयी होती है और जहाँ कहीं यह चयन सुरुचि तथा सहृदयता के साथ किया जाता है, वहाँ इसके द्वारा ही भाषा में कल्पनातीत विलक्षणता आ जाती है।' [3] वक्रोक्ति के उद्धरण के आधार पर वड्र्सवर्थ की मान्यताओं में कुन्तक की वक्रोक्ति से समानता तो नहीं कही जा सकती है, परन्तु उनके उपयुक्त शब्द-चयन का भाव अवश्य निहित है।

अलङ्कारों के विषय में वड्र्सवर्थ कहते हैं - 'कुछ अलङ्कार ऐसे भी हैं जो आवेग प्रेरित होते हैं और मैने उनका इसी रूप में प्रयोग किया है। [4] अपने पूर्ववर्ती कवियों की भाषा-शैली की

1- पा0 साहि0 शा0 भी0, पृ0 20।

2- व0 जी0, 1/7

3- भा0 का0 शा0 भू0, पृ0 313

4- भा0 का0 शा0 भू0, पृ0 313

कृत्रिमता की प्रतिक्रिया मे ही वड्र्सवर्थ ने अलङ्कृत काव्य शैली का विरोध किया है, किन्तु काव्य में स्वाभाविक रूप से आगत अलङ्कारों को स्वीकार किया है । कुन्तक ने भी वर्ण-विन्यास-वक्रता और अलङ्कार-वक्रता के प्रसङ्ग में इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये है।[1]

वड्र्सवर्थ के सम्बन्ध में डा0 नगेन्द्र का मत है कि - 'वड्र्सवर्थ का दृष्टिकोण शुद्ध रसवादी है और वक्रता के कृत्रिम चमत्कार उन्हें सर्वथा असह्य हैं, परन्तु वे रसाश्रित हैं और वक्रता-वैचित्र्य और रमणीयता की महत्ता को मुक्त कण्ठ से स्वीकार करते हैं।'[2]

वड्र्सवर्थ ने साधारण ग्राम्य-जीवन की घटनाओं के प्रस्तुतीकरण मे कल्पना का समावेश आवश्यक माना है । 'साधारण जीवन से चुनी हुयी घटनाओं और स्थितियों को कवि कल्पना के रंग में रंगकर इस प्रकार प्रस्तुत करे कि वे सर्वथा नवीन एवं असाधारण प्रतीत हों।'[3] विषयवस्तु को 'कल्पना के रंग में रंगना' ही वक्रोक्ति है और नवीनता तथा असाधारणता वक्रोक्ति-प्रयोग के ही परिणाम हैं ।

स्वच्छन्दतावादी कॉलरिज के काव्य-सम्बन्धी विचारों के आधार पर कहा जा सकता है कि कॉलरिज ने प्रत्येक काव्य के प्रत्येक अङ्ग में वक्रता को स्वीकार किया है । उनका कथन है कि अच्छी कविता का आनन्द सौन्दर्य से उद्भूत होता है और यह सौन्दर्य कविता के विभिन्न अंगों के पारस्परिक सम्बन्ध की सुन्दरता के साथ साथ उनके सम्पूर्ण कविता के साथ सम्बन्ध में निहित है।[4]

1- वक्रोक्तिजीवितम्, पृ0 174 तथा 378

2- भा0 का0 शा0 भू0, पृ0 313

3- पा0 साहि0 शा0 भू0, पृ0 205

4- पा0 साहि0 शा0 भू0, पृ0 223

कुन्तक ने भी वक्रोक्ति के वर्ण-विन्यास आदि छ भेद करके काव्य के विभिन्न अङ्गों के सौन्दर्य तथा इनके पारस्परिक सम्बन्ध के सौन्दर्य को स्वीकार किया है।

कॉलरिज ने कवि के लिये नियमों को महत्वपूर्ण न मानकर मौलिकता तथा प्रतिभा को आवश्यक माना है। कल्पना को उन्होंने कवि का अनिवार्य गुण माना है।[1] उसके अनुसार 'अनुकरण' का अर्थ है - पुनः सृजन अर्थात जीवन का सजीव रूपान्तरण प्रस्तुत करना और यह कार्य विशिष्ट कल्पना द्वारा ही सम्भव है।[1] विशिष्ट कल्पना से कॉलरिज का आशय है - इन्द्रिय बोधों की सजगता पूर्वक व्यवस्था। इस विशिष्ट कल्पना का अधिकारी कवि होता है, सामान्य कवि नहीं। कल्पना ही सत्य से साक्षात्कार कराती है और फिर इस सत्य को प्रतीकों मे परिवर्तित कर मानवीय भावों को प्रभावित करती है।[3] कॉलरिज के इस कल्पना विश्लेषण से स्पष्ट है कि उन्होंने काव्य मे वक्रोक्ति को स्वीकार किया है - 'कल्पना द्वारा सत्य को प्रतीकों में परिवर्तित करना वक्रोक्ति प्रयोग कहा जा सकता है।'

कॉलरिज के पश्चात स्वच्छन्दतावादी आचार्यों में वक्रता के महत्व में वृद्धि होती गयी। शैली, कीट्स, ले हण्ट ने काव्य में कल्पना को विशेष महत्व दिया, जो कुन्तक की वक्रोक्ति से अत्यन्त निकट हैं। ले हण्ट ने कवि मे सर्वप्रथम कल्पना, उसके पश्चात् अनुभूति और विचार, फिर भावतरङ्ग और अन्त में वैदग्ध्य को माना है।[4] डी क्विन्सी ने भाषा को आत्मा का व्यक्त रूप

1- पा० साहि० शा०, पृ० 225

2- पा० साहि० शा०, पृ० 217

3- पा० साहि० शा०, पृ० 215

4- पा० साहि० शा०, पृ० 218

माना है - जो उसकी व्यञ्जना-शक्ति तथा वक्रता की ही प्रबल स्वीकृति मात्र है। उसके अनुसार साहित्य के दो भेद है - प्रथम ज्ञान का साहित्य, जिसका आधार तथ्य और माध्यम इतिवृत्त है और द्वितीय, प्रेरणा का साहित्य, जिसका आधार मानव-मनोवेग तथा कल्पना और माध्यम उच्छवासमयी वक्रशैली है।[1]

(घ) यथार्थवादी काल

स्वच्छन्दतावाद की प्रतिक्रिया मे परिवर्तित यथार्थवादी दर्शन पर विज्ञान का अत्यधिक प्रभाव पड़ा । यही कारण है कि यथार्थवाद में वक्रता-विलास के लिये अधिक अवकाश नहीं है। बेलिस्की ने कल्पना की क्षणिक ज्योति को तो स्वीकार किया,[2] किन्तु कल्पना की उस दुनिया का विरोध किया, जिसमें वास्तविकता के लिये कोई स्थान नहीं है ।[3] बेलिस्की ने काव्य मे कल्पना के वैचित्र्य का स्वीकार किया है, किन्तु ऐसे ही कल्पना-वैचित्र्य को जो वास्तविक जीवन पर आधृत हो । चनिशेवस्की का भी यही मत है।[4] सॉ-बव ने लिखा है - 'एक दिन ऐसा आयेगा जब नया विज्ञान प्रतिष्ठित होगा और उसकी सहायता से हम मानव के बाद वेदग्ध्य अथवा उसकी प्रतिभा के प्रकारों और उसके प्रमुख अंशों को जान सकेगें ।'[5] सॉ-बव के इस कथन से स्पष्ट है कि उसने काव्य मे वाग्वैदग्ध्य या वक्रता की स्थिति स्वीकार की तो है, किन्तु उनकी दृष्टि में

1- भा0 का0 शा0 भू0, पृ0 314
2- पा0 स0 द0, पृ0 285
3- पा0 स0 द0, पृ0 285
4- पा0 स0 द0, पृ0 289
5- पा0 स0 द0, पृ0 281

वक्रता प्रकार इतने सीमित है कि उनका अध्ययन वनस्पति शास्त्र के आधार पर किया जा सकता है। जबकि कुन्तक ने वाक्य-वक्रता के ही सहस्त्रों भेद स्वीकार किये हैं।[1]

यथार्थवादी मैथ्यू अर्नाल्ड ने अतिवक्रता का विरोध किया है, किन्तु विषय-वस्तु के चयन तथा उसके सम्यक महत्व को बताकर वस्तुत: कुन्तक की वस्तु-वक्रता, प्रकरण-वक्रता और प्रबन्ध-वक्रता को स्वीकार किया है । अर्नाल्ड के अनुसार विषय स्वय में रमणीय होना चाहिये। यदि अरमणीय विषय को कवि अपनी कला द्वारा रमणीय बनाना चाहता है, तो यह उसका भ्रम होगा।[2] कुन्तक ने भी कहा है - 'सातिशय धर्म से युक्त वस्तु ही काव्योपयोगी होती है।'[3] 'विषयवस्तु' और 'रूप' या शैली का ऐक्य अर्नाल्ड को अभीष्ट है । उसका कथन है - 'कवि की विषय-वस्तु में जिस मात्रा मे उदात काव्यत्व तथा गम्भीरता का अभाव रहेगा, उसी मात्रा मे उसकी शैली में भी उदात काव्यमयी-पदावली तथा प्रवाह का अभाव होगा, उसी मात्रा में उसकी विषय-वस्तु में भी उदात-काव्यमय तथ्त और गम्भीरता का अभाव होगा।[4] इस प्रकार, अर्नाल्ड ने विषयगत वक्रता के साथ-साथ शैलीगत गम्भीर वक्रता को भी स्वीकार किया है।

किंग लीयर की आलोचना करते हुये अर्नाल्ड ने कहा है - 'अभिव्यञ्जना की यह अतिवक्रता वास्तव में एक अद्भुत गुण - विशेष का आवश्यकता से अधिक उपयोग है, वह गुण

1- वक्रोक्तिजीवितम् 1/20

2- पा0 साहि0 शा0 भू0, पृ0 231-32

3- वक्रोक्तिजीवितम्, पृ0 303

4- भा0 का0 शा0 भू0, पृ0 306

है - 'दूसरों की अपेक्षा रीति से कथन करने की क्षमता।'[1] कीट्स की प्रसिद्ध कविता 'इजावेला' की आलोचना करते हुये अर्नाल्ड ने उसके रमणीय शब्द - भण्डार, सजीव और चित्रमय अभिव्यक्ति तथा आह्लादकारित्व की प्रशंसा की है, किन्तु कथावस्तु की शिथिलता के कारण कविता को प्रभावरहित बताया है।[2]

रूसी आलोचक लियोटालस्टॉय ने कला-सिद्धान्तों मे स्वीकार किया है कि कलाकार को युगीन समाज के लिये कोई महत्वपूर्ण, आवश्यक, उत्तम और शिक्षाप्रद रोचक विषय चुनकर उस पर कलात्मक रङ्ग चढाकर प्रस्तुत करना चाहिये।[3] लियो ने वक्रता का पूर्ण निषेध किया है। उसने कला का आधार धार्मिक बोध को स्वीकार करना,[4] कला को आनन्द का साधन न मानना,[5] तथा कलाकृति के आवश्यक तत्वों में बोधगम्य स्पष्ट अभिव्यक्ति को स्थान देना,[6] आदि तथ्यों से स्पष्ट है कि टालस्टॉय ने वक्रता का पूर्ण निषेध किया है ।

इसी युग के टेनीसन और स्विनवर्ग की कविता में वक्रता औचित्य का आधिक्य प्राप्त होता है।[7]

1- भा० का० शा० भू०, पृ० 315

2- भा० का० शा० भू०, पृ० 315

3- पा० स० द०, पृ० 310

4- पा० स० द०, पृ० 306

5- पा० स० द०, पृ० 308

6- पा० स० द०, पृ० 311

7- भा० का० शा० भू०, पृ० 316

(5) कलावादी काल

कलावाद काव्य के लिये आवश्यक दो तत्त्व बताता है - प्रथम-भावावेश के कारण तीव्र इन्द्रियानुभूति की सता, द्वितीय - भावावेश की अभिव्यक्ति के लिये रचनात्मक या रूप-विधान। इनमें रूप-विधान को अत्यधिक महत्व दिया गया । अतएव, कहा जा सकता है कि कलाविधान में रूपविधान सम्बन्धी वक्रता प्राप्त होती है । कलावादियों ने कला की सामाजिक उपयोगिता अस्वीकार कर कलाजन्य सौन्दर्य को ही कलासाध्य माना । वाल्टर पेपर द्वारा पदोच्य, वाच्य, प्रकरण तथा निबन्ध में औचित्य और अन्विति की अनिवार्यता स्वीकार करना [1] कुन्तक की पद, वाक्य, प्रकरण तथा प्रबन्ध वक्रताओं से साम्य रखता है । आचार्य कुन्तक के सदृश पेटर ने भी विषयानुकूल अलङ्कार प्रयोग को स्वीकार किया है - 'उसे ------- ने केवल वाणी मे छिपे झिलमिल अलंकार विधान का ही ज्ञान होता है ------- वह अधिक गर्वीले आडम्बरपूर्ण अलङ्कारों की शक्ति-सीमा भी जानता है और अत्यन्त ईमानदारी के साथ उनकी एक-एक मात्रा से यथार्थ मूल्य वसूल करता है।' [2] कुन्तक ने काव्य के लिये कवि स्वभाव को महत्वपूर्ण माना है। [3] पेटर ने भी स्वीकार किया है - 'शैली व्यक्ति है।' [4] कलावादी पेटर [5] तथा ऑस्कर वाइल्ड [6] दोनों ने विषय और रूप विधान की भिन्नता स्वीकार की है । कुन्तक ने भी अलङ्कार्य और अलङ्कार को अभिन्न माना है।

1- साहित्यानुशीलन पृ0 285-86 तथा पा0स0द0, पृ0 334
2- साहित्यानुशीलन, पृ0 285
3- वक्रोक्तिजीवितम्, पृ0 101
4- पा0 स0 द0, पृ0 306
5- पा0 स0 द0, पृ0 335
6- पा0 स0 द0, पृ0 340

काव्य म 'कल्पनात्मक-अनुभव' को स्वीकार करन वाले ब्रेडल वक्रोक्ति को स्वीकृति प्रदान करते हुये प्रतीत होत है। [1] 'कला कला के लिये' सिद्धान्त क्रोचे के आत्मवादी दर्शन मे शास्त्र रूप में पतिष्ठित हुआ । क्रोचे ने अभिव्यञ्जना को ही कला कहा है। [2] यद्यपि कुन्तक के विपरीत क्रोचे की अभिव्यञ्जना आत्मिक है, तथापि 'अभिव्यञ्जना' और 'वक्रोक्ति' अथवा 'वैदग्ध्यभङ्गीमणिति' और 'अभिव्यञ्जना' दोनों के अन्तर्गत समस्त काव्य-सौन्दर्य ग्रहण कर लिया गया है।

वेनेदेतो क्रोचे के अनुसार आत्मा की मूलत दो क्रियाये हैं - (1) विचारात्मक, (2) व्यावहारिक । प्रथम - विचारात्मक क्रिया दो प्रकार की होती हैं (क) स्वयं-प्रकाश ज्ञान, (ख) तर्क ज्ञान । स्वयं प्रकाश ज्ञान कल्पना द्वारा प्राप्त होता है तथा तर्क से प्राप्त ज्ञान का सम्बन्ध निश्चयात्मक बुद्धि तथा पदार्थ-बोधों से होता है। [3]

कुन्तक क वक्रोक्तिवाद तथा क्रोचे के अभिव्यञ्जनावाद - दोनों ही सिद्धान्तों मे पर्याप्त साम्य तथा वैषम्य है । आचार्य कुन्तक की 'उक्ति' अथवा 'भणिति' केवल काव्य मात्र न होकर समस्त कवि-व्यापार तथा काव्य-कौशल से है, उसी प्रकार सभी प्रकार का रूपविधान क्रोचे की अभिव्यञ्जना की परिधि मे आ जाता है। [4]

1- पा0 स0 द0, पृ0 उमा तथा उमउ

2- पा0 का0 शा0 भू0, पृ0 209

3- पा0 का0 शा0 भू0, पृ0 201

आचार्य कुन्तक एव क्रोचे दोनों ने ही काव्य मे कल्पना का प्रधानता दी है । उसी प्रकार दोनों ही आचार्यों ने अभिव्यञ्जना अथवा उक्ति को मूलतः अखण्ड, अविभाज्य, तथा अद्वितीय माना है। उसमें अलङ्कार और अलङ्कार्य का भेद नहीं हो सकता।[1] क्रोचे के अनुसार काव्य मे प्रयुक्त प्रत्येक शब्द का अपना विशिष्ट महत्व होता है, कोई अन्य शब्द उसका स्थान ग्रहण नहीं कर सकता। आचार्य कुन्तक के शब्दों में - 'शब्दौ विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि।'

आचार्य कुन्तक ने केवल चमत्कारपूर्ण उक्ति को ही काव्य माना तथा चमत्कारपूर्ण तथा चमत्कार विहीन उक्ति में और वक्रोक्ति में स्पष्ट भेद किया । इसके विपरीत क्रोचे सहजानुभूति को ही अभिव्यञ्जना मानते थे । इस प्रकार क्रोचे उक्ति को काव्य मानते हैं और कुन्तक वक्रोक्ति को ।

(च) आधुनिक काल

योरोप के वर्तमान काव्य-शास्त्र के इतिहास मे आई0 ए0 रिचर्ड्स का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है । रिचर्ड्स ने मनोविज्ञान और अर्थविज्ञान के क्षेत्र से साहित्य के क्षेत्र में पदार्पण किया था । उन्होंने मानसिक प्रक्रियाओं और साहित्य के सम्बन्धों का स्पष्टीकरण करके यह सिद्ध कर दिया कि आलोचना के लिये मनोविज्ञान का अध्ययन अनिवार्य है । रिचर्ड्स के अनुसार काव्य की अनुभूति के लिये मानस चित्रों का होना अनिवार्य है, उसके अभाव में कवि सफल सम्प्रेषण नहीं कर सकता । एक कवि एव साधरण व्यक्ति के मध्य अन्तर को स्पष्ट करते हुये रिचर्ड्स ने कहा

1- भा0 का0 शा0 भू0, पृ0 32।

है कि अनुभव के विस्तार, उसकी कोमलता तथा उसके विभिन्न तत्वों मे सम्बन्ध स्थापित करने की स्वतन्त्रता मे अन्तर होता है।[1] डा0 रिचर्ड्स ने इस मत का प्रतिपादन किया है कि अलड्कार अथ च लाक्षणिक प्रयोग काव्य के अपरिहार्य तत्व हैं और काव्य की विषय-वस्तु, लाक्षणिक प्रणाली से परे कोईद्र ा वस्तु नहीं है । अलड्कार को अभिव्यञ्जना का बहिरग उपादान मानने का रिचर्ड्स ने जोरदार खण्डन किया है ।

आचार्य कुन्तक ने 'काव्यानंद' को इस सन्दर्भ में परिभाषित करते हुये कहा है - 'लोकोत्तर चमत्कारी वैचित्र्य की सिद्धि के लिये यह कुछ अपूर्व काव्य के अलड्कार की रचना की जा रही है।'[2] उसका तात्पर्य यह है कि अनुभूति का यह लोकोत्तर चमत्कारी वैचित्र्य ही अलड्कार है न कि कोई बहिरंग उपादान । इस तरह अलड्कार ही साहित्य सिद्ध होता है।[3]

1- "The greatest difference between the Artist or poet and the ordinary person is found, as has often been pointed out, in the range, delicacy, and freedom of the connections he is able to make between different eliments of his experience."
- "Principles of Literary Criticism', I.S.Richards, P.N. 181

2- वक्रोक्तिजीवितम् 1/2 पृ0 7

3- A statement may be used for the sake of .reference, true or false, which in causes. This is the scientific use of language. But it may also be used for the sake of the effects in motion and attitude produced by the reference it occasions. This is the emotive use of language.
-"Principles of literary criticism", I.A.Richards

भाषा के विषय मे अपने विचार प्रकट करते हुये रिचर्ड्स ने काव्य-भाषा मे शुद्ध वक्रता की स्थापना की है।[2] उनके अनुसार किसी उक्ति का प्रयोग अर्थ-सङ्केत के लिये हो सकता है । यह अर्थ-सङ्केत सत्य हो सकता है अथवा मिथ्या - यह भाषा का वैज्ञानिक प्रयोग है । किन्तु भाषा का प्रयोग उन भावगत तथा प्रवृत्तिगत भावों के निमित भी हो सकता है, जो अर्थ सङ्केतों से उत्पन्न होते है। यह भाषा का रागात्मक प्रयोग है । इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि आचार्य कुन्तक के वक्रोक्ति-सिद्धान्त एव रिचर्ड्स के भाषागत रागात्मक प्रयोगों में समानता है ।

सच्चाई (Sincerity) पर विचार करते हुये रिचर्ड्स ने लिखा है कि - 'इस अभिप्राय पर अधिक स्पष्टता से विचार करने पर यह स्पष्ट हो सकता है कि कौन सी सामान्य स्थितियों से सच्चाई को प्रोत्साहन मिलेगा और कौन से उपाय आलोचक मे उस रहस्यमय किन्तु अनि[illegible] गुण की वृद्धि के लिये सुझाये जा सकते हैं । इस आत्म-तुष्टि को प्रस्थान बिन्दु मान सकते हैं । तुष्ट मन वह मन है जिस पर मैने ऊपर विचार किया है, जिसमे न तो कोई अस्तव्यवस्तता है और न प्रवृत्तियों की निष्फलता ही रहती है।'[1]

आचार्य कुन्तक ने कहा है - 'काव्य-बंध उच्चकुल मे समुत्पन्न राजकुमार आदि के हृदयों को आह्लादित करने वाले होते हैं।'[2] उन्होंने यह भी कहा है -'व्यवहार करने वाले पुरूषों को अर्नुदिन के नूतन औचित्य से युक्त, व्यवहार चेष्टा आदि का सौन्दर्य, सत्काव्य के परिज्ञान से ही प्राप्त हो सकता है।'[3]

1- 'Practical criticism' P.No. 285

2- 'वक्रोक्तिजीवितम्', 1/3, पृ0 9

3- 'वक्रोक्तिजीवितम्', 1/4, पृ0 11

काव्य परम आनन्द का कारण, औचित्य का स्रोत तथा जीवन में नवीन व्यवस्था का कारण है । आत्म-तुष्टि का रिचर्ड्स ने प्रस्थान बिन्दु माना है । रिचर्ड्स ने आत्म-तुष्टि की ओर उन्मुख-प्रवृत्ति व्याख्या की है कि कोई श्रेष्ठ पुरूष ही सहज और नैसर्गिक ढग से सम्यक् मार्ग ग्रहण कर सकता है। [1]

आचार्य कुन्तक भी इस प्रकार कहते हैं - 'काव्यामृत का रस उसको समझने वालों के अन्तःकरण में चतुर्वर्गफल के आस्वाद से भी बढकर चमत्कार को उत्पन्न करता है। [2]

इलियड ने काव्य-भाषा को कविकर्म का माध्यम मानते हुये कहा है - 'एक उत्तरदायित्वपूर्ण कवि का कर्त्तव्य है कि वह काव्याभिव्यञ्जना के नवीन साधन का निर्माण स्वयं करे, वह भाषा की शक्तियों का विकास करे और शब्दों के अर्थ समृद्ध बनाये।' [3] स्पष्ट है कि इलियड ने काव्यभाषा में वैचित्र्य को स्वीकार किया है तथा अलङ्कारों को मात्र अलङ्कृति का साधन न मानकर सहृदयाह्लादकारी वैचित्र्य का साधन माना है । इलियड का मत है कि कविता समझ मे न आने पर भी कभी-कभी आनन्द देती है। [4] कुन्तक ने भी एक स्थल पर कहा है - 'अर्थ का विचार किये बिना भी रचना के सौन्दर्य से सङ्गति के समान जो काव्यमर्मज्ञों को आनंद प्रदान करता है।' [5]

1-

2- वक्रोक्तिजीवितम्, 1/5, पृ0 12

3- समीक्षाशास्त्र, पृ0 659

4- पा0 स0 द0, पृ0 414

5- अपर्यालोचिते --------- यत् ।

वक्रोक्तिजीवितम् 1/37

20वीं शताब्दी के नये आलोचकों मे रेन्सम ने शब्दशः चित्रण की निन्दा करते हुये कहा है कि इस चित्रण मे वाग्वैदग्ध्य, विनोदप्रियता, नाटकीय दृश्य और निर्लिप्तता नहीं होती है। परिणाम यह है कि लेखक कला से कट जाता है । रेन्सम का यह मत है 'वक्रता' का समर्थन करता प्रतीत होता है ।

इस प्रकार, स्पष्ट है कि पाश्चात्य काव्यशास्त्र मे कहीं पर भी न तो वक्रोक्ति के समकक्ष किसी भी शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है और न तो वक्रोक्ति के उस स्वरूप का दर्शन होता है, जो आचार्य कुन्तक के द्वारा मान्य है । तथापित यह नहीं कहा जा सकता है कि पाश्चात्यों को वक्रोक्ति अमान्य है, क्योंकि उनके द्वारा की गयी सहृदयाह्लादकारिणी अभिव्यक्ति की विवेचना के सन्दर्भ में यत्र-तत्र वक्रोक्ति का स्वरूप दृष्टिगत होने लगता है । यह अवश्य है कि किसी युग मे वक्रोक्ति लक्षणों की न्यूनता तो दूसरे युग में अधिकता दृष्टिगोचर होती है । एक ही युग के विभिन्न आलोचकों मे भी यह उतार-चढाव प्राप्त होता है । प्लेटो पूर्वयुग मे वक्तृत्वकला के सन्दर्भ में किञ्चित् वक्रोक्ति लक्षण प्राप्त होता है । प्लेटो ने वक्रोक्ति का पूर्ण निषेध किया, किन्तु प्लेटो के शिष्य अरस्तू ने भाषा-शिल्प, लाक्षणिक प्रयोग, कथावस्तु आदि का जो विवेचन किया है, वह वक्रोक्ति के अति समीप प्राप्त होता है । अरस्तू के सबध में तो यहाँ तक कहा जा सकता है कि उसने 'वक्रोक्ति' को अपने शब्दों में स्वीकार किया है । अरस्तू के ही समकालिक सिसरो, होरेस तथा क्विण्टीलियन के वक्तृत्व-कला-विवेचन में वक्रोक्ति-साम्य ढूँढना जहाँ प्रयत्नसाध्य है, वहीं लाजाइनस के औदात्य विवेचन से स्पष्ट है कि वक्रता, उदातता का अनिवार्य गुण है । मध्ययुग में कैथोलिक चर्च तथा धार्मिक शिक्षा के कारण वक्रोक्ति पर कुठाराघात हुआ । इस युग के उत्तरकालिक दान्ते ने ही यत्किञ्चित् रूप में वक्रोक्ति को स्वीकार किया है । मध्ययुग के पश्चात्-पुनर्जागरण काल में

प्रकृतिगत सत्य और काव्यगत सत्य के अन्तर तथा कल्पना के महत्व के विवेचन मे इनका प्राय अभाव प्राप्त होता है । नव्यशास्त्रवादी बोइलो ने कुन्तक के वाग्वैचित्र्य की अपेक्षा भाषा-शुद्धता पर अधिक बल दिया, तो इसी युग के ड्राइडन और सैम्युअल जॉनसन के काव्य सिद्धान्तों मे कुन्तक प्रतिपादित-वाग्वैचित्र्य से अत्यधिक साम्य प्राप्त होता है । स्वच्छन्दतावादी काल मे नव्यशास्त्रवादी काल की अपेक्षा वक्रोक्ति के महत्व की वृद्धि हुयी । इस युग मे वर्ड्सवर्थ और कॉलरिज के काव्य सिद्धान्तों में वक्रोक्ति-लक्षणों को बहुतायत से देखा जा सकता है, किन्तु स्वच्छन्दतावाद की प्रतिक्रिया मे परिवर्तित यथार्थवाद मे वक्रता-वैचित्र्य के लिये अवकाश नहीं है । कलावाद में रूपविधान सम्बन्धी वक्रता प्राप्त होती है । प्रभाववाद, प्रकृतवाद, प्रतीकवाद, बिम्बवाद, अतियथार्थवाद, डाडावाद आदि में या तो वक्रता का महत्व नहीं है अथवा अतिवक्रता को ही स्वीकार किया है । आधुनिक युग के आई० ए० रिचर्ड्स तथा इलियड के विवेचनों में पुन. वक्रोक्ति-लक्षण प्राप्त होते हैं ।

आचार्य कुन्तक का प्रकरण-वक्रता सिद्धान्त

आचार्य कुन्तक का प्रकरण-वक्रता सिद्धान्त

आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य के विधायक तत्व के रूप में स्वीकार किया है। वह शब्द और अर्थ दोनों को काव्य-शरीर मानते हैं । ये दोनों अलङ्कार्य होते हैं । यहाँ शब्द और अर्थ को काव्य का बाह्य आकार मानकर उसको अलङ्करण के योग्य इसलिये कहा गया है कि सामान्य जन लोकव्यवहार मे जिन शब्दार्थों का प्रयोग करता है, कवि के पास भी वे ही शब्दार्थ हैं किन्तु उनमें सौन्दर्य की कान्ति उत्पन्न करने के लिये उन्हें अलङ्कृत करना अथवा प्रसाधित करना इसलिये आवश्यक है कि ऐसा करने पर ही 'काव्य प्रयुक्त शब्दार्थ' सामान्य शब्दार्थ की तुलना में अधिक कलात्मक, सरस व प्रभावोत्पादक हो सकते हैं । इसके लिये जहाँ रीतिवाद, ध्वनिवाद और रसवाद आदि सम्प्रदायों मे अपने अपने मतानुसार अलङ्करण के उपाय सुझाये गये हैं, वहाँ आचार्य कुन्तक शब्द और अर्थ को अलङ्कृत करने के लिये वक्रोक्ति की योजना करते है । वक्रोक्ति ही उन दोनों का अलङ्कार होती है।[1]

जहाँ तक शब्दार्थ को काव्य-शरीर कहने की बात है आचार्य वामन ने भी कहा है - 'शब्दार्थौ च तत् शरीर·' - उस शरीर में वामन की रीतियाँ अग प्रत्यङ्गों के समान हैं । इसे आचार्य मम्मट ने भी काव्य-प्रकाश मे इस प्रकार कहा है - 'रीत्यौऽवयवसंस्थानविशेषवत्' - प्राचीन आचार्यों की यह धारणा प्राचीन आचार्यों की यह धारणा कि काव्य की शोभा बढ़ाने वाली सौन्दर्य ही अलङ्कार है तथा दण्डी का यह विचार कि काव्य की शोभा बढाने वाली विशेषतायें अलङ्कार हैं, कुन्तक के

1- उभावेतावलङ्कार्यौ तयोः पुनरलङ्कृतिः ।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरूच्यते ।।
- हि0 वक्रोक्तिजीवितम् 1/10

इस कथन से मेल खाती है कि शब्दार्थ अलङ्कार्य है और वक्रोक्ति उनका अलङ्कार । इस सन्दर्भ मे कुन्तक की वक्रोक्ति के स्वरूप का आँकलन करते है ।

वक्रोक्ति के स्वरूप को परिभाषित करते हुये कुन्तक कहते हैं कि प्रसिद्ध कथन से भिन्न प्रकार की विचित्र वर्णन शैली ही वक्रोक्ति है । उन्होंने कहा है कि वर्णन की ऐसी शैली जो लोक में प्रयुक्त सामान्य कथन से भिन्न प्रतीत हो, वही वक्रोक्ति है । वस्तुत उसमे वक्रता ही यह है कि सीधे-सपाट कथन मार्ग को त्यागकर वह वक्र गति से गन्तव्य की ओर चलती है । वैसे भी साहित्य में जो भी कौशल या विदग्धता है, उसमें किसी न किसी प्रकार का वक्रभाव अवश्य होता है । सम्भवतः इसीलिये काव्य-जगत में सीधी दृष्टि की अपेक्षा कटाक्ष, अर्ध व तिर्यक् दृष्टि में अधिक आकर्षण माना गया है । वक्रोक्ति का लक्षण कुन्तक ने स्वयं एक प्रश्न उठाते हुये किया कि यह विचित्र कथन या वक्रोक्ति किस प्रकार की होती है ? उसमे विचित्रता का आधार क्या है ? और फिर वह स्वयं उत्तर देते हुये कहते हैं कि वैदग्ध्य का अर्थ है काव्य-रचना का कौशल । उस कौशल में जो एक विलक्षण भङ्गिमा है उसकी सहायता से कथन करना ही भाणिति है । कुल मिलाकर यह वैचित्र्यपूर्ण उक्ति है । कुन्तक के वाग्व्यवहार में जो विचित्राभिधा शब्द का प्रयोग हुआ है, यहाँ उसमें अभिधा का तात्पर्य इस नाम की विशिष्ट शब्द-शक्ति नहीं है । यहाँ यह उक्ति अर्थ में है।[1]

यह विचित्राभिधा भामह की अतिशयोक्ति का पर्याय लगती है।[2]

1- वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा । कीदृशी, वैदग्धाभङ्गीभणितिः । वैदग्ध्यं विदग्धभावः, कविकर्म-कौशलं, तस्य भङ्गीविच्छित्तिः तया भणितिः । विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरूच्यते ।

- हिन्दी वक्रोक्तिजीवितम्, पृ0 - 51

2- सा काप्यलौकिकातिशयोक्ति परिस्फुरति प्राप्यते ।

- हि0 व0 जी0, पृ0 144

भामह ने इस सन्दर्भ मं जो 'कॉऽपि' और अलौकिक शब्दों का प्रयोग किया है उनसे हमारी धारणा की पुष्टि हो रही है । अलौकिक का तात्पर्य है जो लौकिक अर्थात् ससार के जनसाधारण के भाषा व्यवहार से भिन्न है । यह भिन्नता किस प्रकार की हो इसका उत्तर काऽपि शब्द में निहित है, जो अनिर्वचनीय है, अनुभव गम्य है, जिसे दो टूक शब्दों मे स्पष्ट नहीं किया जा सकता - ऐसी कोई विलक्षण उक्ति ही अतिशयोक्ति है । कुन्तक की वक्रोक्ति भी इसी प्रकार की अलोक-सामान्य और विचित्र होती है । इसीलिये भामह की अतिशयोक्ति व कुन्तक की वक्रोक्ति मे अधिक अन्तर प्रती... नहीं होता । भामह की एक उक्ति जो काव्य-लक्षण विषयक है थोड़े से परिवर्तन के साथ आचार्य कुन्तक न भी प्रस्तुत की है।[1]

आचार्य कुन्तक ने कहा है कि जिसमे कवि का वक्र व्यापार हो अर्थात् वक्रतापूर्ण शब्दार्थ का प्रयोग हो, जो सहृदय को आनन्द या आह्लाद देता हो - ऐसे व्यवस्थित, श्रेयस्कर शब्दार्थों के बन्ध या संरचना को काव्य कहते हैं, भाव यह है कि यहाँ वक्र कथन के साथ 'आह्लाद' और 'हित' यह दो विशिष्टताएँ और संयुक्त हो गयी हैं । व्यवस्थित कहने से शब्द और अर्थ का अलङ्कृत गुम्फन इष्ट है । इससे काव्य की इस परिभाषा मे कुन्तक का वक्रता का तत्व और भामह का आह्लाद और हित का भाव समन्वित हो गया है । भामह ने अलग से भी 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' की बात कही थी ।

1- शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि ।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि ।।

- हि0 व0 जी0, 1/7

कविव्यापार की वक्रता के आचार्य कुन्तक ने छ भेद प्रस्तुत किये हैं और बताया है कि इन छः भेदों के बहुत से अवान्तर भेद है । वे छः भेद है -

1- वर्णविन्यासवक्रता

2- पदपूर्वार्द्धवक्रता

3- प्रत्ययाश्रयवक्रता

4- वाक्यवक्रता

5- प्रकरणवक्रता

6- प्रबन्धवक्रता

आचार्य कुन्तक ने इन छः प्रकार की वक्रताओं का सामान्य ढंग से विश्लेषण प्रथम उन्मेष में किया है । तदनन्तर उनका विशेष विश्लेषण द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ उन्मेषों में किया है । द्वितीय उन्मेष में उन्होंने वर्णविन्यासवक्रता पदपूर्वार्द्धवक्रता तथा प्रत्ययाश्रयवक्रता का, तृतीय उन्मेष में वस्तुवक्रता और वाक्यवक्रता का तथा चतुर्थ उन्मेष में प्रकरणवक्रता और प्रबन्धवक्रता का विशेष विश्लेषण प्रस्तुत किया है ।

प्रस्तुत अध्याय में हम आचार्य कुन्तक के प्रकरण-वक्रता सिद्धान्त का सम्पूर्ण विवेचन कर रहे हैं ।

1- प्रबन्धस्यैकदेशानां - - - - -

- हि0 व0 जी0, चतुर्थोन्मेष, 5 वीं कारिका

प्रकरण-वक्रता और प्रबन्ध वक्रता मे आचार्य कुन्तक ने वस्तुत प्रबन्ध काव्यों के कथानकों के सगठन और स्वरूप का मीमांसा की है । इनके शब्दों मे प्रकरण का अर्थ है - 'प्रबन्ध का एक देश' अर्थात् कथा का एक प्रसङ्ग।[1] समग्र कथा-विधान का नाम प्रबन्ध है और उसके अङ्ग अथवा प्रसङ्ग का नाम 'प्रकरण' है । प्रकरण पर आश्रित या निहित काव्य-चमत्कार का नाम 'प्रकरण-वक्रता' है । प्रकरण-वक्रता की परिभाषा मे आचार्य कुन्तक कहते है - 'जहाँ पर जड़ से ही लेकर असम्भावित अकुरण वाले कवि मनोरथ के प्रस्तुत किये जाने पर एक अनिर्वचनीय और असीम तथा निर्बाध उत्साह के स्फुरण के कारण सुशोभित होने वाली और अपने आशय की उद्भवना के कारण मनोहर लगने वाले व्यवहार करने वालों की प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है - उसे प्रकरणवक्रता कहते है।[1]

इसे थोड़ा और स्पष्ट करने की आवश्यकता है । यहाँ आरम्भ से ही जिस असम्भावित अंकुरण वाले कवि मनोरथ का उल्लेख हुआ है उसका तात्पर्य यह है कि ऐसा कुछ विलक्षण तत्व हो, जो आकस्मिक और अप्रत्याशित रूप से अङ्कुरित होकर सहृदय सामाजिक के मन को अभिभूत कर ले क्योंकि ऐसा होने पर ही मन में उस प्रकार के उत्साह या वेग की उत्पत्ति होगी जिसे यहाँ कुन्तक ने अनिर्वचनीय या असीम कहा है । इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि किसी विलक्षण भाव की कोई अनुभूति शब्दों मे न कही जा सके, केवल मन मे अबाध गति से सहृदय उसे अनुभव कर सके ।

1- यत्र निर्यन्त्रणोत्साहपरिस्पन्दोपशोभिनी ।
व्यावृतिर्व्यवहर्तॄणां स्वाशयोल्लेखशालिनी ।।
अन्यामूलादनाशक्यसमुत्थाने मनोरथे ।
काप्युनमीलति निःसीमा सा प्रबन्धांशवक्रता ।।

- हि0 व0 जी0, 4/1-2

यह मनोहर और मर्म अनुभूति जिस दिशा मे प्रवृत्त होती है वह प्रकरण में वक्रता उत्पन्न कर देता है। यहाँ कुन्तक ने आशय शब्द का प्रयोग हृदय में निहित तात्पर्य से लिया है । यहाँ पर वक्रता आचार्य मम्मट की 'सत्य परिनवृत्ति.' के बहुत समीप पहुँच जाती है । यहाँ तक कि प्रकरण-वक्रता के कुन्तक सम्मत जो नौ प्रकार है, उनमें भावपूर्ण स्थिति का प्रस्फुरण यह पहला प्रकार भी इसी मनोदशा पर आधारित है ।

इस प्रकरण-वक्रता के नौ विशिष्ट भेद ये है -

1- भावपूर्ण स्थिति की उद्भावना ।

2- उत्पाद्य लावण्य के लिये अविद्यमान की कल्पना और विद्यमान का सशोधन ।

3- प्रधान कार्य से सम्बद्ध प्रकरणों का उपकार्य-उपकारक भाव ।

4- विशिष्ट प्रकरण की अतिरन्जना ।

5- रोचक प्रसड्गों की अवतारणा ।

6- अड्गिरसनिष्यन्दनिकष ।

7- प्रधान वस्तु की सिद्धि के लिये सुन्दर अप्रधान प्रसड्ग की उद्भावना। (अवान्तर वस्तु की योजना)

8- प्रकरणान्तर वस्तु योजना ।

9- सन्धिविनिवेश ।

प्रकरण वक्रता के विषय में उसका स्वरूप स्पष्ट करने के लिये थोड़ा व्यापक रूप से कहना उपयुक्त होगा । वस्तुतः प्रकरण का अर्थ है प्रबन्ध का एक देश । प्रबन्ध का अर्थ है काव्य का सम्पूर्ण कथा विधान जब किसी प्रकरण से काव्य में चमत्कार उत्पन्न होता है, वह प्रकरण-वक्रता होती है ।

प्रबन्ध और उनके प्रकरण या प्रदेश को यहाँ अतिरिक्त स्पष्ट करने की आवश्यकता है क्योंकि कभी-कभी नाटका की मुख्य कथावस्तु और उसकी पताका व प्रकरी को क्रम से प्रबन्ध और प्रकरण मान लेने की भ्रान्ति हो जाती है। वस्तु कुन्तक का प्रबन्ध लक्षण तो आधिकारिक कथावस्तु पर लागू हो जाता है। परन्तु प्रकरण का अर्थ कोई दूसरा कथा प्रसड्ग या पताका आदि नही है। सच तो यह है कि मुख्य कथा हो अथवा गौण कथा-प्रसड्ग-इनमे से किसी का भी क्षेत्र या एकाश व प्रदेश उसका प्रकरण है। इस प्रकरण मे विचित्रता लाने से कथावस्तु का साधारण भाग भी उत्कृष्ट प्रतीत होने लगता है। जब किसी प्रकरण से काव्य मे कोई चमत्कार उत्पन्न होता है, तो प्रकरण पर आधारित होने के कारण उसे प्रकरण-वक्रता कहना उचित ही है. डा0 नगेन्द्र ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि-'सृजन के उत्साह से प्रेरित होकर कवि अपने वस्तुवर्णन मे जो अपूर्व उत्कर्ष उत्पन्न करता है, वह प्रकरण-वक्रता है।'[1]

यह सृजन का उत्साह ही कुन्तक का अनिर्वचनीय, असीम व निर्बाध उत्साह है। इसकी अपूर्वता ही यह है कि यह समग्र प्रकरण सामान्य भावों की तुलना मे कहीं अधिक आवेगमय भावों को प्रस्फुटित करता है।

कथानक के सम्यक विकास एव घटनाओं के संगठन को यूनानी आचार्य अरस्तू ने भी महत्वपूर्ण बताते हुये लिखा है- 'सबसे अधिक महत्वपूर्ण है घटनाओं का सगठन।'[2]

1- डा0 नगेन्द्र ,- हि0 व0 जी0, भूमिका, पृ0 94

2- डा0 सावित्री सिन्हा - पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा, पृ0 30

यही घटनाओं का सगठन नवोदित एवं प्रौढ रचनाकारों के बीच अन्तर स्पष्ट कर देता है। अरस्तू के अनुसार-'नवोदित कलाकार भाषा के परिष्कार तथा चरित्र-चित्रण की सार्थकता में तो पहले सिद्धि प्राप्त कर लेते है, पर कथानक का सफल निर्माण करने में उन्हे समय लगता है। आदि काल में लगभग सभी कवियों की यही स्थिति रहती है।'[1]

वैसे तो प्रबन्ध विधान के कई अड्ग है जैसे-कथानक, चरित्र-चित्रण, विचार-तत्व, पद-रचना आदि, परन्तु कुन्तक ने केवल कथानक के विषय में ही विचार किया है। क्योंकि कथानक में घटनाओं का संगठन ही वह निकष है जिससे कवि के आन्तरिक सामंजस्य की कोटि का ज्ञान हो जाता है। अर्थात् प्रकरण एक इकाई है, जिनके समुच्चय का नाम प्रबन्ध है।

डा0 विजयेन्द्र नारायण सिंह के शब्दों में-'कथानक का संगठन प्रबन्ध-शिल्प की वास्तविक रीढ है। इसके अभाव मे प्रबन्धकार का सारा कौशल ही बिखर जाता है। कथानक की अस्त-व्यस्तता और घटनाओं की विशृखला से प्रबन्ध उसी प्रकार खण्ड-खण्ड हो जाता है, जिस प्रकार इतस्तत जल के छींटे पडने से चित्र की रग-योजना। प्रकरण-वक्रता कथानक के इसी संगठन के अध्ययन का एक वैज्ञानिक प्रयास है।'[2]

आचार्य कुन्तक ने प्रकरण-वक्रता के जिन नौ भेदों का उल्लेख किया है, वे संस्कृत के

1- डा0 सावित्री सिन्हा - पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा, पृ0 30

2- डा0 विजयेन्द्र नारायण सिंह

-वक्रोक्तिवाद औा छायावाद

प्रबन्ध काव्यों पर आधारित हैं, इसलिये उन सभी क्षेत्रों के उद्धरण न केवल प्राचीन अपितु किसी भी संस्कृत के आधुनिक कवि के काव्य में ढूंढ निकालना सहज सम्भव नहीं है।

1- **भावपूर्ण स्थिति की उद्भावना**

प्रकरण-वक्रता का यह प्रथम भेद इस रूप में है कि जँहा पर कवि किसी पुरातन कथा का आश्रय लेते हुये इस प्रकार वस्तु को उपस्थिति करता है कि उसमें मूलभाव भी सुरक्षित रहता है और कवि की कल्पनाजन्य मौलिक सूझ भी उसमें सम्मिलित हो जाती है, ऐसे स्थल पर कवि यह प्रकरण-वक्रता होती है। इसी आधार पर कविगण प्राचीन इतिवृत्त में नये पात्र और प्रसङ्गजोड़ा करते है। ऐसा करने से ही दृश्य या श्रव्य काव्य का आकर्षण बढता है। यदि यह प्रकरण-वक्रता न हो, तो प्राचीन कथा पर आश्रित काव्य केवल इतिहास बनकर रह जायेगा।

आचार्य कुन्तक ने इस प्रकार की उद्भावना को कवियों की सुन्दर व्यावृत्ति कहा है। उन्होंने कहा है-'जहाँ अपने अभिप्राय को अभिव्यक्त करने वाली और अपरिमित उत्साह के व्यापार से शोभायमान कवियों की व्यावृत्ति होती है, वही प्रकरण की अपूर्व वक्रता प्रकाशित हो उठती है।'[1]

यहाँ स्वाशय शब्द में विशेष मन्तव्य दिया है। रचनाकार ने प्राचीन इतिवृत्त के मूलसूत्र तो स्वीकार किये ही है, पर यदि वह अपने हृदय में उठने वाले भावों की अभिव्यक्ति न करे, तो उसकी रचना-धर्मिता प्रभावित होती है। अपनी प्रतिभा और कल्पना से प्राच्य कहानी में नये रंग भरने के लिये

1- यत्र निर्यन्त्रणोत्साहपरिस्पन्दोपशोभिनी ।
व्यावृत्तिर्व्यवहर्तृणां स्वाशयोल्लेखशालिनी ।।
- कुन्तक हि0 व0, पृ0 481

उसका हृदय एक अनियन्त्रित उत्साह से उद्वेलित होने लगता है। इसे ही अभिव्यक्त करने के जो अभिनव द्वार वह उद्घाटित करता है, यही वह शोभायमान व्यावृत्ति है जिसे कुन्तक ने अभिहित किया है।

साधारण शब्दावली में हम कह सकते है कि प्रबन्धकार अपने प्रबन्ध में कभी-कभी इस प्रकार के सुन्दर प्रसङ्गों का निर्माण करता है जिनका उद्देश्य पात्रों के चरित्र का उत्कर्ष दिखाना होता है। डा0 विजयेन्द्र नारायण सिंह का मत है-'किन्तु इस चीज को पात्र की प्रवत्ति तक ही सीमित रखने को हम बाध्य नहीं है। यह एक महत्वपूर्ण सौन्दर्य-शास्त्रीय उद्भावना है जिसका परीक्षण व्यापक मानव स्थिति के प्रकार ने होना चाहिय।''[1]

वास्तव म यह भाव-प्रसार की ही स्थिति है जिसमें भावों की तीव्रता और विस्तार दोनों ही आ जाते है। इस प्रकार कवि की पूर्ण भावुकता वहाँ हो पाती है, जहाँ वह प्रत्येक मानव स्थिति में स्वयं को ढालकर उसके अनुरूप भाव का अनुभव करता है। प्रबन्धकार कवि की भावुकता का सबसे अधिक पता यह देखने से चल सकता है कि वह किसी आख्यान के अधिक मार्मिक स्थानों को पहचान सहा है या नहीं।

आचार्य कुन्तक रघुवंश महाकाव्य के पन्चम सर्ग से रघु तथा कौत्स के वृत्तान्त को प्रकरण-वक्रता के उदाहरण रूप में प्रस्तुत करते है। उन्होनें जिन श्लोकों को उद्धृत कर उनकी यात्रा

1- विजयेन्द्र नारायण सिंह

- वक्रोक्ति सिद्धान्त और छायावाद, पृ0 432

प्रस्तुत की वे इस प्रकार है। [1] यहाँ कुबेर के विषय मे सामन्तत्व की उत्प्रेक्षा करके जीतने का प्रयास किसी अपूर्व ही सहृदयों की मनोहारिता को प्राप्त करता हे और जो भी 'जनस्य साकेत' इत्यादि पद्य हैं, यहाँ भी गुरू की दातव्य दक्षिणा से अधिक स्वर्ण को न लेकर कौत्स की तथा याचित से सौगुना अथवा हजारगुना प्रदान करने वाले रघु की भी असीम निःस्पृहता एवं उदारता की सम्पत्ति ने अयोध्यावासियों का आश्रय ग्रहण कर किसी अपूर्व प्रसन्नता की भङ्गिमा को प्रस्तुत किया।

आश्रय यह है कि रघु और कौत्स के इस समग्र प्रसङ्ग मे यह दोनों पात्र कालिदास से उद्भूत नहीं हैं। पुरातन कहानी मे दोनों ही पात्रों का अस्तित्व है, किन्तु उनके चरित्र में महाकवि ने इस प्रकार का परिष्कार किया है कि यह दोनों पात्र अतिशय उदार, विलक्षण और निखरे हुये चरित्र के साथ उपस्थित होते है। इस चरित्र से काव्य का अध्येता चमत्कृत हो जाता है। रघु की दानशीलता और गुरूदक्षिणा से अधिक न लेने की कौत्स की निःस्पृहता उन्हे साधारण व्यक्तियों से पृथक कर देती है। रचनाकार ने अपने-अपने व्यक्तित्व में दोनों पात्रों की दृढता व प्रखरता का जो अपूर्व तथा उत्साह सम्पन्न चित्रण किया

1- एतावदुक्त्वा प्रतियातुकामं शिष्यं महर्षेर्नृपतिर्निषिध्य ।
किं वस्तु विद्वन् गुरवे प्रदेयं त्वया कियद्वेति तमन्वयुक्तं ।।
गुर्वर्थमर्थी श्रुतपारदृश्वा रघोः सकाशादनवाप्य कामं ।
गतो वदान्यान्तरमित्ययं मे मा भूत्परीवादनवावतारः ।।
तं भूपतिर्भासुरहेमराशिं लब्धं कुबेरादभियास्यमानात् ।
दिदेश कौत्साय समस्तमेव पादं सुमेरोरिव वज्रभिन्नम् ।।
जनस्य साकेतनिवासिनस्तौ द्वावप्य भूतामभिनन्द्यसत्वौ ।
गुरूप्रदेयाधिक निःस्पृहोऽर्थी नृपोऽर्थिकामादधिकप्रदश्च ।।
- हि0 व0 जी0, 4/4,5,6·7

है। उससे सहृदय विभोर हो उठते हैं। इस प्रकार यहाँ पूर्वकथा गौण हो जाती है। दोनों पात्रों के चरित्र से प्रकाशमान यह कथाप्रसङ्ग अधिक सजीव हो उठता है। जो कवि जितना अधिक मनो-जगत का ज्ञाता होता है, व्यापक अनुभवों से समृद्ध होता है और जिसकी कल्पनाशीलता सृजनात्मक होती है, वही ऐसी भावमय उद्भावनाओं का अवतरित करने मे समर्थ होता है। तात्पर्य यही है कि कुन्तक ने प्रकरण-वक्रता के इस प्रकार में कवि कल्पना जन्य भावमयी नवीन उद्भावनाओं को एक शास्त्रीय परिभाषा का नाम देकर स्पष्ट कर दिया है, ऐसा करने पर उन आलोचकों के मुँह बन्द हो जाते है, जो पुरातन गाथा में रोचक प्रसङ्गों पर भी नाक-भौं सिकोडते हैं। इस प्रकार रस को प्रवाहित करने वाला प्रकरण-वक्रता का यह सौन्दर्य महाकवियों के काव्यों मे सहृदयों को स्वयं समझ लेना चाहिये।

2- **उत्पाद्य लावण्य**

किसी प्रख्यात कथानक में जब कोई कल्पित कथाश जोड़ा जाता है, तो वहाँ उत्पाद्य-लावण्य कहा जाता है। इस प्रकरण-वक्रता के प्रकार तथा प्रथम प्रकार में थोडा सा अन्तर है। प्रथम प्रकार में हृदय की भावना अथवा भावमयी स्थिति और उसे अभिव्यक्त करने की रचनाकार की उत्साह भरी वृत्ति की प्रधानताएँ, जबकि प्रस्तुत प्रकार में केवल सुन्दर कल्पना की प्रमुखता है। इसलिये जब किसी प्रख्यात कथानक में कोई कल्पित कथाश जोडा जाता है, तो वहाँ उत्पाद्य लावण्य की स्थिति उत्पन्न होती है। वस्तुतः बहुत पहले से इतिवृत्त के प्रख्यात, उत्पाद्य और प्रख्यातोत्पाद्य इन तीन प्रकार के अभिधानों में से आचार्य कुन्तक ने उत्पाद्य शब्द का ग्रहण किया है। जो कथानक कवि के मस्तिष्क की उपज है, वह उत्पाद्य होता है। यदि यह उत्पाद्य अश प्रख्यात कथावस्तु के अङ्ग के रूप मे है, तो उसे किसी भी प्रकार से मूलकथा प्रवाह को क्षति पँहुचाने वाला नहीं होना चाहिये। यदि उसके उपस्थित होने से मूलकथा की शोभा बढती है, नीरस कथावस्तु सरस हो जाती है अथवा कल्पना के थोडे से स्पर्श से वस्तु अधिक जीवन्त हो उठती है, तो उसे कथांश का ऐसा लावण्य माना जा सकता है जिसकी तुलना युवती के शरीर के उस अङ्ग से की जा

सकती है जिसे बाहरी प्रसाधन से पूर्व की तुलना मे अधिक सुन्दर बना दिया गया हो ।

आचार्य कुन्तक कहते हैं - 'इतिवृत्त में वर्णित कथा की विचित्रता के मार्ग में तनिक से कल्पना प्रसूत अश के सौन्दर्य से कुछ और ही अपूर्व चमत्कार हो जाता है । उस तनिक से परिवर्तन से काव्य में इतना सौन्दर्य आ जाता है कि जिससे वह प्रकरण चरम सीमा को पहुँचते हुये रस से परिपूर्ण होकर समस्त प्रबन्ध का प्राण सा प्रतीत होने लगता है।' [1]

एक बात और इंगित करने योग्य है कि आचार्य कुन्तक से पहले आचार्य आनन्दवर्द्धन ने इस प्रकार की सौन्दर्य शास्त्रीय उद्‌भावना को अपने ध्वन्यालोक में स्थापित किया था। - 'इतिवृत्त के वश में आयी हुयी इसके प्रतिकूल स्थिति को छोड़कर कल्पना करके भी बीच में रस के अनुकूल उचित कथा का उन्नयन किया जाता है।' [2]

आचार्य आनन्दवर्द्धन के शब्दों में - 'सिद्ध-रस रूप में विख्यात रामायण आदि जो कथा के आशय है, उनमे रस के प्रतिकूल अपनी इच्छा से योजना नहीं करनी चाहिये।' [3] अपने कथन को स्पष्ट करने के लिये उन्होंने कालिदास आदि का उदाहरण दिया है कि काव्य का निर्माण करते समय कवि को रसाधीन बन जाना चाहिये । उस इतिवृत्त में यदि रस के विपरीत कोई स्थिति दिखायी दे तो उसे तोड़कर दूसरी कथा का निर्माण कर लेना चाहिये।' [4]

1- इतिवृत्तप्रयुक्तेऽपि कथावैचित्र्यवर्त्मनि ।
उत्पाद्यलावण्यादन्या भवति वक्रता ।।
तथा, यथा प्रबन्धस्य सकलस्यापि जीवितम् ।
भाति प्रकरणं काष्ठाधिरूढरसनिर्भरम् ।।
- हि0 व0 जी0, 4/3-4

2- इतिवृत्तवशायातां त्यक्त्वाऽननुगुणां स्थितिम् ।
उत्प्रेक्ष्याप्यन्तराभीष्ट-रसोचित-कथोन्नयः ।।
- हि0 ध्वन्यालोक, 3/11

3- सन्ति सिद्धरसप्रख्या ये च रामायणादयः।
कथाश्रया न तैर्योज्या स्वेच्छा रसविरोधिनी ।।

इससे प्रतीत होता है कि किसी रचनाकार को कथावस्तु में चाहे जितना परिवर्तन करना पड़े, रस को बनाये रखने के लिये ऐसा किया जाना चाहिये । आचार्य आनन्दवर्द्धन के कथन से सहमत होते हुये आचार्य कुन्तक भी कहते हैं कि निरन्तर रस को प्रवाहित करने वाले सन्दर्भों से परिपूर्ण होकर महाकवि की वाणी केवल प्रसिद्ध कहानी के आश्रय से ही जीवित वहीं रहती। [1]

यदि कुन्तक और आनन्दवर्द्धन दोनों के मन्तव्य पर गहराई से विचार करें, तो दोनों मे कोई तात्त्विक अन्तर प्रतीत नहीं होता । उत्पाद्य लावण्य के द्वारा जहाँ आचार्य कुन्तक ने प्रकरण को रसनिर्भर होना स्वीकार किया है, वहाँ आनन्दवर्द्धन ने यही बात निषेधात्मक शैली में कही है कि कथांश में जो भी परिवर्तन किया जाये वह रस-विरोधी नहीं होना चाहिये, क्योंकि रसविरोधी होने पर कल्पना जन्य-व्यापार एक निष्फल बौद्धिक व्यायाम बनकर रह जायेगा, जिससे सहृदयों में अरूचि का भाव उदय होगा। प्रकरण-वक्रता के इस प्रकार से कथाश की रसमयी स्थिति को ही परिवर्धित किया जाता है। इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि यदि शरीर का प्रसाधन भी अवसरानुकूल व स्वाभाविक न हो तो लावण्य की अभिवृद्धि होने के स्थान पर ह्रास ही होता है।

पाश्चात्य विद्वान अरस्तू ने उत्पाद्य-लावण्य के विषय में कहा है - 'कवि का कर्तव्य-कर्म जो कुछ हो चुका है उसका वर्णन करना नहीं है वरन् जो हो सकता है, जो सम्भाव्यता या आवश्यकता के अधीन सम्भव है, उसका वर्णन करना है। [2]

1- निरन्तररसोद्गर गर्भ सन्दर्भनिर्भरः।
गिरः कवीनां जीवन्ति न कथामात्रमाश्रिता ।।
- हि0 व0 जी0, पृ0 495

2- अरस्तू का काव्यशास्त्र, पृ0 ..

आचार्य कुन्तक ने उत्पाद्य-लावण्य की व्याख्या दो प्रकार से की है -

(क) अविद्यमान की कल्पना

आचार्य कुन्तक कहते हैं कि कहीं तो इतिवृत्त मे न विद्यमान रहने वाला ही प्रकरण उत्पाद्य या काल्पनिक प्रकरण होता है । इस अविद्यमान की कल्पना के उदाहरण रूप में उन्होंने 'अभिज्ञानशाकुनतलम्' मे दुर्वासा के शाप को उपस्थित किया है।[1] महाकवि ने अपने नाटक मे इस दुर्वासा-शाप के नवीन प्रकरण की अवतारणा कर नाटक में अभूतपूर्व लावण्य की उत्पत्ति की है। तात्पर्य यह है कि दुर्वासा-शाप की इस कल्पना में प्रकृति नाटक का सौन्दर्य-वर्धन केवल इतने मात्र से परिवर्धित हो गया कि नाटककार ने केवल एक नई घटना मूल-कथानक से संयुक्त कर दी है। इसके विपरीत यदि कोई नाटककार मूल कथावस्तु में पहले से अविद्यमान अभिनव-वस्तु उत्पन्न कर देता है तो कभी-कभी इतिवृत का सौन्दर्य क्षतिग्रस्त भी हो जाता है। इसलिये आचार्य कुन्तक ने उत्पाद्य-लावण्य के अन्तर्गत अविद्यमान कल्पना को लावण्य का अंग अथवा साधन बनाया है। इससे कोई कल्पना अनावश्यक, नीरस और अनावश्यक विस्तारोन्मुख तो नहीं है इसके लिये उन्होंने उसका लावण्यवर्धनकारी होना अनिवार्य बना दिया है। एक उदाहरण के रूप मे 'मृच्छकटिक' प्रकरण में मूलवस्तु बृहत्कथा से ली गयी है । उसके पञ्चमअङ्क मे बसन्तसेना के अभिसार की कल्पना नाटककार के मन की उपज है । परन्तु उससे नाटक के दृश्य-विधान मे किसी सौन्दर्य की वृद्धि

1- विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा
तपोधनं वेत्सि न मामुपस्थिताम् ।
स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि सन्
कथां प्रमत्तः प्रथम कृतामिव ।।
- अभिज्ञानशाकुन्तलम् 4/1

नहीं होती । पूरे अक में विट और बसन्तसेना बादलों, वर्षा और आयु का ही वर्णन करते रहते हैं, जिससे यह अङ्क अभिनव की दृष्टि से दुर्बल हो जाता है तथा रूपक का अङ्क न लगकर किसी महाकाव्य का सर्ग लगने लगता है । आचार्य कुन्तक जानते थे कि केवल अभिनव कल्पना ही पर्याप्त नहीं, उसका लावण्योत्पादक होना भी आवश्यक है ।

दुर्वासा-शाप की उक्त घटना में एक प्रेम - विभोर अल्पवयस्का मुग्धानायिका के प्रति इतने बड़े तपोधन को अनुदार होकर दण्ड घोषित करते हुये रंगमंच पर प्रत्यक्ष दिखाना कोमल हृदय कालिदास को इष्ट नहीं था इसीलिये उन्होंने बड़े कौशल से दुर्वासा-शाप को नेपथ्य में रखा है किन्तु नायिका शकुन्तला को दुष्यन्त के ध्यान मे खोये हुये मन्च पर रखा है जिसे देखकर दोनों सखियाँ कहती है कि पति मे चिन्तन मे लीन इस बेचारी को तो अपनी ही खबर नहीं यह किसी आगन्तुक को कैसे जानती? [1]

इस नये प्रकरण से दोनों सखियों के चरित्र में स्वभाव का अन्तर, दुर्वासा की परम्परागत क्रोधशीलता, शकुन्तला की भावुकता एवं भाग्य की विडम्बना ने मिलजुल कर नाटक मे एक अद्भुत लावण्य उत्पन्न कर दिया है ।

(ख) विद्यमान का संशोधन

इसी व्याख्या में आचार्य कुन्तक कहते हैं कि कहीं अनौचित्यपूर्ण ढंग से विद्यमान भी प्रकरण सहृदयों को आनन्दित करने के लिये दूसरे अङ्क से प्रस्तुत करने योग्य बनाने जाने पर

1- 'भर्तृगयता चिनतयात्मानमपि नैषा विभावयति। कि पुनरागन्तुकम्।'

- अभिज्ञानशाकुन्तलम् 4/विष्कम्भक

उत्पाद्य होता है । इसके उदाहरण के रूप मे वह उदातराघव से मारीचवध प्रकरण को उद्धृत करते है । जैसे - 'बाल्मीकि रामायण मे मारीचरूप मायानिर्मित माणिक्य मृग का पीछा करने वाले रामचन्द्र के करूण आर्तनाद को सुनकर अधीर हो गये हृदयवाली जनकराज पुत्री सीता ने रामचन्द्र के प्राण की रक्षा के लिये, अपने प्राणों को चिन्ता न कर, लक्ष्मण की भर्त्सना कर लक्ष्मण को भेजा था।' [1]

यह बात अत्यन्त ही अनुचित है क्योंकि लक्ष्मण रूप अनुचर के समीप रहने पर प्रधान राम के उस प्रकार माणिक्य-मृग का पीछा करने के व्यापार की सम्भावना ही नहीं की जा सकती। अत रामायण मे किया गया वर्णन सर्वथा अनुचित प्रतीत होता है । साथ ही सर्वातिशायी चरित्र से युक्त रूप मे वर्णित किये जाते हुये राम के प्राणों की रक्षा की सम्भावना उनके छोटे भाई लक्ष्मण के द्वारा की जाये - यह और भी अधिक अनुचित है । इस प्रकार इस प्रकरण के अनौचित्य का भली-भाँति विचार कर 'उदात-राघव' नाटक में कवि ने बडे ही कौशल के साथ 'मारीच रूपमाणिक्य मायामृग के मारने के लिये गये हुये लक्ष्मण की प्राणरक्षा के लिये उनके करूण-क्रन्दन को सुनकर सीता ने अधीरता से राम को भेजा था' - ऐसे प्रकरण की रचना किया है और इस ढङ्ग से रामायण से परिवर्तित प्रकरण में सहृदय-हृदयाह्लादकारिता ही प्रकरण की वक्रता है ।

पुरातन कहानी को औचित्यपूर्ण बनाने के लिये सशोधन करने की यह प्रवृत्ति संस्कृत के उन सभी ग्रन्थों मे देखी जा सकती है जिनकी कथावस्तु किसी पौराणिक कहानी पर आधारित है ।

1- यथा-रामायणे मारीचमायामयमाणिक्यमृगानुसारिणो रामस्य करूणाक्रन्दकर्णनकान्तरान्त· करणया जनकराजपुत्र्या तत्प्राणपरित्राणाय स्वजीवितपरिरक्षानिरपेक्षया लक्ष्मणो निर्भर्त्स्य प्रेषित ।

- उदात्तराघव

भास के नाटकों में भी ऐसा हुआ है । उन्होंने रामायण पर आधारित कथावस्तु मे छिपकर राम के द्वारा बालिवध की घटना को परिवर्तित कर दिया है । इसी प्रकार नागानन्द नाटक में श्रीहर्ष ने नायक के चरित्र में श्रृंगार और वीर के मध्य अनौचित्य निवारण करने के लिये शान्त रस को बीच में उपस्थित किया है, जिसके लिये उन्होंने जीमूतवाहन नायक के द्वारा शङ्खचूड नामक नाग के स्थान पर प्राण देते हुये दिखलाया गया है । वस्तुत· अविद्यमान कल्पना की तुलना मे वस्तु मे सशोधन करना अधिक कठिन है । उसमे अधिक प्रतिभा की आवश्यकता है पर कुन्तक ने औचित्य की कसौटी रखकर रचनाकारों का मार्ग सरल कर दिया है । केवल यह चिन्ता कि मूल कहानी के किसी अंश से नायकत्व, वस्तुत्व और रसत्व पर कोई विपरीत प्रभाव तो नहीं पड़ता, रचनाकार को करनी पड़ती है। क्योंकि आचार्य क्षेमेन्द्र ने माना है कि अनौचित्य के अतिरिक्त रसभङ्ग का और कोई बड़ा कारण नहीं है । उदाहरण के लिये यदि महाभारत के दुष्यन्त की तरह अभिज्ञानशाकुन्तल का दुष्यन्त भी लोकभय से जानबूझकर शकुन्तला का अपमान कर देता है, तो उसका धीरोदात चरित्र धूमिल हो जाता। इसी प्रकार यदि अपमान की प्रक्रिया में शाकुनतला उसको परित्यक्त करती, क्षमायाचना करने पर भी परिरूप में स्वीकार न करती तो उसका चरित्र भी वरेण्य न रहता । यही कारण है कि सातवें अङ्क में वह सारा दोष भाग्य को देती है, दुष्यन्त को नहीं । किसी भी रचनाकार के लिये ऐसे स्थलों की पहचान कर लेना सरल नहीं जिसमें उसे अपनी कल्पना के रग भरने है । औचित्य रक्षा के लिये किया जाने वाला संशोधन कोई भिन्न प्रकार का अनौचित्य न उत्पन्न कर दे इसे भी ध्यान में रखना आवश्यक है । इसीलिये कुन्तक का आग्रह किसी भी प्रकार के सशोधन में लावण्य को सुरक्षित रखना है ।

3- प्रकरणों का अनुग्राह्य-अनुग्राहक भाव

प्रकरण सौन्दर्य अपने आप मे नहीं होता है। उसका लक्ष्य होता है प्रबन्ध सौन्दर्य की वृद्धि। अतएव प्रकरणों मे उपकार्य-उपकारक भाव नहीं रहने पर प्रकरण-सौन्दर्य प्रबन्ध-सौन्दर्य का नियामक नहीं बन पाता है। प्रबन्ध सौन्दर्य में वृद्धिकारक न होने पर प्रकरण-सौन्दर्य निरर्थक प्रतीत होता है। प्रकरणों की परस्पर संश्लिष्टता से ही प्रबन्धकार कवि की प्रतिभा प्रगट होती है और उपर्युक्त विधान करती है। प्रबन्ध-काव्यों में प्रकरणों का परस्पर अनुग्राह्य-अनुग्राहक भाव होता है। वह प्रकरण एक-दूसरे से श्रृखलाबद्ध से होते है। उनका प्रत्येक का अस्तित्व विच्छिन्न रूप से नहीं रहता। आचार्य कुन्तक के शब्दों में [1]- 'सन्निवेश क्रम से शोभित प्रबन्ध के अवयवों का प्रधान कार्य के सम्बन्ध के अनुसार अनुग्राह्य-अनुग्राहक भाव स्वभावत सुन्दर प्रतिभा से प्रकाशित होकर वक्रता के चमत्कार से युक्त किसी विशेष कवि के काव्यादिकों मे वक्रभाव के किसी अपूर्व सौन्दर्य को अभिव्यक्त करता है।'

आचार्य अरस्तू के अनुसार कथावस्तु का आधारभूत गुण है एकान्विति। कथानक के ऐक्य का अर्थ है- कार्य का ऐक्य। उनके अनुसार -'ऐसे कार्य-व्यापार को कथानक की धुरी बनाया है,जो मेरे मंतव्य के अनुसार सही अर्थ में एक है। एक होने पर अनुकृति भी एक होती है, इसी प्रकार कथानक को, जो कार्य-व्यापार की अनुकृति होता है, एक तथा सर्वांगपूर्ण कार्य का अनुकरण करना चाहिये और उसके अङ्गों का सगठन ऐसा होना चाहिये कि यदि एक अङ्ग को भी अपनी जगह से इधर-उधर करें तो सर्वाङ्ग ही छिन्न-भिन्न और अस्त-व्यस्त हो जायेगा,क्योंकि ऐसी वस्तु जिसके होने न होने से कोई

1- प्रबन्धस्यैकदेशानां फलबन्धानुबन्धवान् ।
उपकार्योपकर्तृत्वपरिस्पन्दः परिस्फुरत् ।।
असामान्यसमुल्लेखप्रतिभाप्रतिभासिनः ।
सूते नूतनवक्रत्वरहस्यं कस्यचित्कवे. ।।
- हि0 व0 जी0, 4/5-6

विशेष अन्तर नहीं पड़ता, किसी पूर्ण इकाई का सहज अंग नहीं हो सकती ।'[1] तात्पर्य यह है कि कथानक की समस्त घटनाएँ एक दूसरे से जुडी हुयी होनी चाहिये । भारतीय नाट्यशास्त्र में भी पञ्चसन्धियों एवं पञ्चावस्थाओं के विवेचन द्वारा इस एकान्विति का ही प्रतिपादन किया गया है ।

इस प्रकार घटनाओं की अन्विति मे अनुग्राह्य-अनुग्राहक भाव का होना आवश्यक है । कवि जब कोई प्रबन्ध रचता है तो उसका लक्ष्य होता है प्रत्येक प्रकरण का उसकी आगे की घटना से सम्बद्ध होना । यदि कोई प्रकरण ऐसा है कि आगे की घटना उससे अनुभूत नहीं की जा सकती है, तो कवि उस घटना को छोड देता है । अरस्तू ने इसी को कार्यान्विति कहा है । अरस्तू के शब्दों में - 'एक व्यक्ति के जीवन मे नाना प्रकार की असंख्य घटनाएँ घटती हैं, जो एकान्वित नहीं की जा सकतीं । इसी तरह एक व्यक्ति के अनेक काय-व्यापार होते हैं जो एक ही कार्य में अन्वित नहीं किये जा सकते।'

आचार्य कुन्तक इस अनुग्राह्य-अनुग्राहक भाव का उदाहरण उतररामचरित मे देते हुये कहते हैं[2]

1- अरस्तू का काव्यशास्त्र, पृ0 24

2- यथा चोत्तररामचरिते पृथुगर्भरखेदितदेहाया विदेहराजदुहितुर्विनोदाय दाशरथिना चिरन्तनराज-चरितचित्ररूचि दर्शयता निर्व्याजविजयिविजृम्भकास्त्राण्युदिदश्य 'सर्वथेदानीं त्वत्प्रसूतिमुपस्थास्यन्ति' इति यदभिहित यत्पन्चमेऽङ्के प्रवीरचर्याचतुरेण चन्द्रकेतुना क्षणं समरकेलिमाकाङ्क्षाता(.) तदन्तरायकलितकलाडम्बराणां बरूथिनीनां सहजजयोत्कण्ठाभ्राजिष्णोर्जानकीनन्दनस्य जृम्भका - स्त्रव्यापारेण कमप्युपकारमुत्पादयति । तथा च तत्र -

लव - भवतु जृम्भकास्त्रेण तावत्सैन्यानि स्तम्भयामि। इति ।

सुमन्त्र - (ससंभ्रमम्) वत्स । कुमारेणानेन जृम्भकास्त्रमभिमन्त्रितम् ।

- उत्तररामचरितम्

कि गर्भवती सीता क विनोद हेतु प्राचीन राजचरित्र के चित्रों को देखते हुये राम ने कहा निर्व्याज विजयी के विजृम्भित होते हुये जृम्भकास्त्रों को लक्ष्य करके सीता से जो कहा था कि 'अब सब प्रकार से ये जृम्भकास्त्र तुम्हारी सन्तान क पास रहेगें' - यह प्रकरण पञ्चम अङ्क मे वीरव्यवहार मे निपुण चन्द्रकेतु के साथ क्षणभर के लिये समरक्रीडा की आकाक्षा करने वाले तथा उसमे विघ्न डालने के लिये कल-कल शोर मचाने वाली सेनाओं को स्वाभाविक रूप से जीतने की उत्कण्ठा वाले जानकीनन्दन लव के जृम्भकास्त्र - व्यापार के द्वारा किसी अपूर्व उपकार को उत्पन्न करता है ।

निष्कर्ष रूप मे कहें तो यहाँ कुनतक ने दो तथ्यों की ओर ध्यान आकर्षित किया है। प्रथम-प्रकरण सौष्ठव और समग्र प्रबन्ध सौष्ठव मे सम्बन्ध । इस सम्बन्ध में उपकार्य और उपकारक का जो भाव निहित है, उससे उन आचार्यों की धारणा का खण्डन हो जाता है जिनका विचार है कि यदि किसी कृति का एकदेश विकृत या दूषित हो जाये तब भी समग्र कृति में निहित सौन्दर्य क्षत-विक्षत नही होता । 'एको हि देशो गुणसन्निपाते निमज्जतिन्दो: किरणेष्विवाङ्क पर यह धारणा काव्य के विषय मे ठीक नहीं है । जिस प्रकार काणत्वादि दोष शेष समग्र सुन्दर आकृति को भी श्रीहीन कर देता है उसी प्रकार यदि प्रकरण का सौन्दर्य न्यून है तो वह पूरे प्रबन्ध को हानि पहुँचाता है । प्रकरणों के सौन्दर्य-बिन्दु इकट्ठे होकर ही प्रबन्ध सौन्दर्य बनते हैं इसलिये उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती । कथावस्तु का पूरा कार्य-व्यापार आदि से अन्त तक सौष्ठव के लक्ष्य से अन्वित होना ही चाहिये इसीलिये यदि इन कार्य-व्यापारों मे कोई अश समग्र सौन्दर्य को हानि पहुँचाता है अर्थात वह अनुग्राहक या उपकारक नहीं है तो उसे हटा देना ही श्रेयस्कर है । यहाँ कुन्तक ने जो उत्तररामचरितम् का उदाहरण दिया है वह विशेषतया ध्यान देने योग्य है । जहाँ प्रथम अङ्क मे चर्चित जृम्भकास्त्र पञ्चम अङ्क में लव के द्वारा प्रयुक्त होते हैं । इससे राम के उस वाक्य को अन्विति नाटक के सौन्दर्य को बढा देती है कि यह शस्त्र तुम्हारी सन्तान को मिलेगें ।

दूसरा तथ्य यह है कि कथानक मे जितनी घटनाएँ होती है उनमे निरन्तर सधान रहना चाहिये इसीलिये वह पंचसन्धि समन्वित होती है । इसे प्रत्येक नाट्याचार्य ने माना है पर कुन्तक की नयी देन यह है कि इसमे प्रधान कार्य ही ध्यान देने योग्य नहीं । वह जिन अवान्तर और प्रकरण मे निहित कार्यो से जन्य है तथा जो साधन रूप में विद्यमान है उन पर अधिक ध्यान दिया जाना चाहिये । यदि अवयव सुन्दर होंगे तो अवयवी के सौन्दर्य में आशङ्का नहीं हो सकती । कुन्तक से पूर्व दण्डी, भामह आदि आचार्यों ने साध्य को अधिक महत्त्व दिया था । आचार्य कुन्तक सौन्दर्य को साधन सापेक्ष बना देते है । प्रकरण - सौन्दर्य उपकारक है इसलिये प्रबन्ध सौन्दर्य उसके अधीन है । उसके सामने याचक की मुद्रा मे खडा है । इस परिधारणा से वृति का एक एक अंश मानो प्रसाधित हो जाता है । रचनाकार कहीं भी एक क्षण के लिये प्रमाद नहीं कर सकता और उपकारक तथा उपकार्य भाव से हर कार्य व्यापार को, वह प्रकरण का क्षेत्र हो अथवा समग्र प्रबन्ध का, अटूट सम्बन्ध मे बाँधे रखता है ।

4- विशिष्ट प्रकरण की अतिरञ्जना

कवि अपनी प्रतिभा से एक ही प्रसङ्ग का अनेक बार इस प्रकार वर्णन करता है जिससे उसमें पुनरूक्ति भी प्रतीत होती एव हर बार वह वर्णन नवीन और हृदयस्पर्शी बन जाता है । स्पष्ट है कि यह वक्रता किसी प्रौढ और प्रतिभाशाली कवि के काव्य मे ही हुआ करती है क्योंकि हर बार उसी प्रसङ्ग को नवीन रूप मे वर्णित करने के लिये कवि में प्रौढ-प्रतिभा और अभिनव अलङ्कारों का प्रयोग आवश्यक होता है । आचार्य कुन्तक के शब्दों में - 'प्रत्येक प्रकरण में कवि की प्रबुद्ध प्रतिभा की परिपूर्णता से सम्पादित, पूर्णतया नवीन ढंग से उल्लिखित रसों एवं अलङ्कारों से सुशोभित एक ही पदार्थ का स्वरूप बार-बार उपनिबद्ध होकर आश्चर्य को उत्पन्न करने वाले वक्रता की

दृष्टि से उत्पन्न सौन्दर्य को पुष्ट करता है।'[1] आचार्य कुन्तक ने कहा है कि ऐसे तो एक ही अर्थ के बार-बार वर्णन करने पर कवि पुनरूक्ति दोष का पात्र हो जायेगा । परन्तु अपनी शङ्का निवारण करते हुये वह स्वयं कहते हैं कि अभिनव प्रतीत होने वाले रस तथा अलङ्कारादि से उज्जवल अर्थात पूर्णतया नवीन रूप में उल्लसित श्रृगारादि और रूपकादि के व्यापार से प्रकाशमान वह बार-बार वर्णित होना चाहिये । पूर्णपक्ष को उठाते हुये वह कहते है कि ऐसा कैसे हो सकता है कि एक ही पदार्थ का वर्णन हर जगह नया सा प्रतीत हो । इसका समाधान वह यह देते है कि महाकवि की प्रौढ-प्रतिभा के प्रभाव से वह आयोजित होता है । ऐसा प्रयोग क्षण-क्षण नव्यता को प्राप्त रस-सचार का कारण हो जाता है ।

मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी यदि देखा जाये तो किसी प्रकरण की अतिरन्जना मन की अनुकूल प्रतिक्रिया के कारण ही होती है । दुखोत्पादक क्रिया की आवृति से हम बचना चाहते हैं । जो चीज हमें सुखद लगती है या कवि के मन को रम जाती है, तो कवि बार-बार उस भाव से उत्तेजित होता है और उसे अपने काव्य में बार-बार निबद्ध करता है व उस प्रसङ्ग का सविस्तार उल्लेख करता है । वह बार-बार वर्णन कर पुनरूक्ति नहीं करता वरन् उसका हर वर्णन नवीन और हृदयस्पर्शी हो जाता है ।

आचार्य कुन्तक विस्तृत रूप से 'तापसवत्सराजचरित' नाटक के प्रकरण-वक्रता के इस भेद से सम्बन्धित कुछ उदाहरण श्लोकों को उद्धृत करते है । वे हृदय को

प्रभावित करने वाली द्वितीय अङ्क के प्रारम्भ की राजा की उक्तियों को उद्धृत कर उनका विवेचन करते है।[1] इन तमाम श्लोकों को उद्धृत करते हैं। वे हृदय को प्रभावित करने वाली द्वितीय अङ्क के प्रारम्भ की राजा की उक्तियों को उद्धृत कर उनका विवेचन करते हैं।[1] इन तमाम श्लोकों को उद्धृत कर आचार्य कुन्तक व्याख्या करते है कि इस श्लोकों में वर्णित राजा की

---

1 - कुरवकतरुर्गाढाश्लेषं मुखासवलालनाम् ।
बकुलविटपी रक्ताशोकस्तथा चरणाहतिम् ।।
तव सुकृतिन सम्भाव्यैते प्रसादमहोत्सवा ।
ननुगतदशा सर्वे सर्वश्शणे न वय यथा ।।

धारावेश्य विलोक्य दीनवदनो भ्रान्त्वा च लीलागृहा -
न्निश्वस्यायातमाशु केशरलतावीथीषु कृत्वा दृश ।
किं मे पार्श्वमुपैषि पुत्रककृतैः कि चाटुभि क्रूरया
मात्रा त्व परिवर्जित सह मया यान्त्यातिदीर्घां भुवम् ।।

कर्णान्तस्थितपद्मरागकलिकां भूयः समाकर्षता ।
चञ्च्वा दाडिमबीजमित्यभिहता पादेन गण्डस्थली ।।
येनासौ तव तस्य नर्मसुहृद खेदान्मुहु. क्रन्दतो ।
नि शाङ्कन शुकस्य कि प्रतिवचो देवि त्वया दीयते ।।

सर्वत्र ज्वलितेषु वेश्मसु भयादालीजने विद्रुते ।
त्रासोत्कम्पविहस्तया प्रतिपंद देव्या पतन्त्या तदा ।।
हा नाथेति मुहु प्रलापपरया दग्ध वराक्या तथा ।
शान्तेनापि वयं तु तेन दहनेनाद्यापि दह्यामहे ।।

चक्षुर्यस्य तवाननादपगतं नाभूत क्वचिन्निर्वृतं ।
येनैषा सतत त्वदेकशयनं वक्षःस्थली कल्पिता ।।
येनोक्तासि त्वया बिना वत जगच्छून्यं क्षणज्जायते ।
सोऽय दम्भधृतव्रत. प्रियतमे कर्तुं किमप्युद्यत ।।

उन्मादावस्था करुण रस को अत्यधिक उद्दीप्त करती है । इस प्रकार प्रकरण - वक्रता के इस भेद के उदाहरण रूप मे 'तापसवत्सराज' से उद्धरणों को प्रस्तुत कर कुन्तक रघुवश के नवम् सर्ग मे वर्णित राजा दशरथ के मृगयाप्रकरण का निर्देश करते हुये विवेचन करते है कि 'प्रमादयुक्त राजा दशरथ ने वृद्ध अन्धे तपस्वी के बालक का वध किया' - यह अर्थ एक वाक्य के द्वारा भी प्रतिपादित किया जा सकता था फिर भी यह अर्थ वस्तुत सरस वाणी के सर्वस्वभूत महाकवि कालिदास की शक्ति के निर्माण के लेशमात्र से उस प्रकार के लोकोत्तर सौन्दर्य से प्रकाशित होकर सहृदयों के लिये

भ्रूभङ्ग रुचिरे ललाटफलके तार समारोपयन् ।
वाष्पाम्बुप्लुतपीतपत्ररचना कुर्यात्कपोलस्थलीम् ।।
व्याकृतैर्विनिबन्धचाटुमहिमामालोक्य लज्जानता ।
तिष्ठेत्कि कृतकोपभारकरूणैराश्वासयैना प्रियाम् ।।

कि प्राणा न मया तवानुगमन कर्तु समुत्साहिता ।
बद्धा कि न जटा न वा कपुरूदित भ्रान्त वने निर्जने ।।
त्वत्सम्प्राप्तिविलोभनेन पुनरप्यूनेन पापेन कि ।
कि कृत्वा कुपिता यदद्य न वचस्त्व मे ददासि प्रिये ।।

त्वत्सम्प्राप्तिविलोभनेन सचिवै प्राणा मया धारिता-
स्तन्मत्वात्यजत शरीरमिदं नैवास्ति नि स्नेहता ।
आसन्नोऽवसरो तथानुमने जाता धृति. किन्त्वय
खेदो यच्छतधा गतं न हृदयं तद्वत् तद्वत् क्षणे दारूणे ।।

- 'तापसवत्सराज'

चमत्कारजन्य हो गया है।' [1]

----

१ - व्याघ्रानभीभिमुखोत्पतितान्गुहाभ्य
फुल्लासनाग्रविटपानिव वायुरुग्णान् ।
शिक्षा विशेषलघुहस्ततया निमेषा
तूणीचकार शरपूरितवक्त्ररन्ध्रान ।।

अपि तुरगसमीपादुत्पतन्तं मयूरं
न स रुचिरकलाप बाणलक्ष्यीचकार ।
सपदि गतमनस्कश्चितमाल्यानुकीर्णे
रतिविगलितबन्धे केशपाशे प्रियाया ।।

लक्ष्यीकृतस्य हरिणस्य हरिप्रभावः ।
प्रेक्ष्य स्थितां सहचरीं व्यवधाय देहम् ।
आकर्णकृष्टमपि कामितया स धन्वी
बाणं कृपामृदुमनाः प्रतिसञ्जहार ।।

स ललितकुसुमप्रवालशय्या
ज्वलितमहौषधिर्दीपकासनाथाम् ।
नरपतिरतिबाहयाम्बभूव
क्वचिदसमेतपरिच्छदस्त्रियामाम् ।।

(इति) विसमृतान्यकरणीयमात्मनः
सचिवावलम्बितधुरं धराधिपम् ।
परिवृद्धरागमनुबन्धसेवया
मृगया जहार चतुरेव कामिनी ।।

अथ जातु रुरोर्गृहीतवर्त्मा
विपिने पार्श्वचरैरलक्ष्यमाण ।
श्रमफेनमुषा तपस्विगाढा
तमसां प्राय नदीं तुरङ्गमेण ।।
शापोऽप्यदृष्टतनयाननपद्मशोभे
सानुग्रहो भगवता मयि पातितोऽयम् ।
कृष्या दहन्नपि खलु क्षितिमिन्धनेद्धो
बीचप्ररोहजननीं ज्वलन करोति ।।

- रघुवशम्

दोनों के सहकार्य से कोई भी प्रकरण कितने ही रूपों में वर्णित हो, अभिनव ही प्रतीत होगा ।

आचार्य कुन्तक ने रस-संचार का कारण भी इस नवीन अतिरन्जना को ही माना है । हमारे विचार से यहाँ नवीनता और सरसता एक-दूसरे पर आश्रित हो जाते हैं । जैसे-पुष्प से गंध उदित होती है, वह पुष्प पर आश्रित है उसी पकार गंध पर पुष्प का आकर्षण आश्रित है । अन्य किसी भी आचार्य ने अलङ्कार और रस का ऐसा सतुलन नहीं किया । यदि जयदेव जैसे आचार्य अलङ्कारों को ही महत्व देते है, तो आचार्य मम्मट और विश्वनाथ जैसे रसवादी केवल रस को ही सब कुछ मान लेते है, परन्तु कुन्तक की उक्त नवीनता पुनरुक्ति का कलङ्क धोकर रस और अलङ्कार दोनों चरणों से गतिमान होती है । कुन्तक न 'रघुवश' और 'तापसवत्सराजचरितम्' के उदाहरण अपनी ओर से दिये हैं । यहाँ हम इसी सन्दर्भ में रघुवंश के ही चतुर्थ सर्ग के रति-विलाप की चर्चा करते हैं । इसमें कामदेव की पत्नी रति को बार-बार विलाप करते हुये एक ही करूण रस को बडी दूर तक खींचा गया है । इसे आचार्य मम्मट ने सातवे उल्लास रसदोषों के अन्तर्गत दीप्ति पुन गिना पुन. दिया है, [1] परन्तु ध्यान से देखें तो यह स्थल भी प्रकरण की अतिरन्जना का ही है। रति का हर बार का रूदन करूणा के नये रंग लेकर उपस्थित होता है । यह एक मनोवैज्ञानिक है जिसे आचार्य कुन्तक जानते है । इस प्रकार यह वक्रता का प्रकार भी सहृदयों के लिये चमत्कार का सन्धान करता है ।

----- ---

1- दीप्ति पुन पुनर्यथा कुमार संभवे रतिविलापे ।

-मम्मट, काव्यप्रकाश, सप्तम उल्लास, पृ0 387

विशिष्ट प्रकरण की अतिरन्जना - यहाँ आचार्य कुन्तक के समग्र विषय विवेचन की समाप्ति पर पुन. दो निष्कर्ष सामने आते है । प्रथम इस प्रकरण-वक्रता का स्वरूप कुछ इस प्रकार का है कि इसमे पुनरूक्ति से निर्वृत्त रहना बड़ा कठिन है । कोई कवि कितना भी घुमा-फिराकर एक ही कही हुयी बात को पुनरूक्त करें, तो यह पुनरूक्ति नामक दोष की सीमा का स्पर्श करने लगता है । कुन्तक इस तथ्य को स्वीकार करके ही इसका समाधान करते हैं । आशका का परिहार पक्ष यह है कि यदि कवि में अतिशय प्रौढ प्रतिभा है और वह एक ही तथ्य को भिन्न-भिन्न अलङ्कृत मार्ग से प्रस्तुत कर सकता है, तो हर बार वह तथ्य नवीन ही प्रतीत होगा । यह वक्रता केवल शैली पर ही आधारित नहीं है । ऐसा मानने पर तो वह काव्य के बाह्य स्वरूप की नवीनता बनकर रह जायेगी तथा वहाँ यह आपत्ति हो सकती है कि यदि आदमी एक ही है पर वह बार-बार भिन्न-भिन्न वेशभूषा, प्रसाधन और अलङ्कार पहनकर आता है तो थोड़ी बहुत नवीनता का अनुभव होते हुये भी कोई दृष्टा इस प्रकार चमत्कृत नहीं हो सकता कि जैसे उसने हर बार कोई नया व्यक्ति देखा हो इसीलिये काव्य के भीतरी रमणीयत्व के लिये प्रतिभा प्रयास भी अपेक्षित है । कालिदास ने भी नवीनता में ही नवीनता के दर्शन किये है । उनकी सौन्दर्य परिभाषा ही यह है कि यदि कोई हर क्षण नवीन प्रतीत होता है तो यही रमणीयता है । 'क्षणैकक्षणैयन्नवतामुपैति तदेवरूपमरमणीयतायाः' - इस स्थापना से कुन्तक की विशिष्ट प्रकरण की अतिरन्जना में पुनरूक्ति दोष का परिहार हो जाता है ।

आचार्य ने अतिरन्जना शब्द का प्रयोग बहुत सूझ-बूझ से किया है । केवल मात्र थोडा सा रंग-रूप बदल कर प्रस्तुत कर देना ही पर्याप्त नहीं है, उसे अति की सीमा तक रंजित किया जाना चाहिये, जिससे उसका पुरातनत्व पूर्णतः तिरोहित हो जाये । वैसे भी उन्होंने इसमें काव्य के भीतरी पक्ष रस और भाव को और बाहरी पक्ष अलङ्कारादि को बराबर का महत्व दिया है । इन

5- रोचक प्रसङ्गो की अवतारणा

प्रकरण-वक्रता के इस पाँचवे भेद में आचार्य कुन्तक ने ऐसे प्रसङ्गों की अवतारणा की है, जो प्रबन्ध-सौन्दर्य की अभिवृद्धि में सहायक होते हैं। किसी भी सर्गबन्धादि में जब कोई प्रसङ्ग विशेष काव्य का कारण होता है - तो वह भी इस प्रकरण-वक्रता को प्राप्त करता है । आचार्य कुन्तक के शब्दों मे - 'काव्य की विचित्रता का भाजन जो अङ्क अर्थात प्रकरण काव्य आदि की सुन्दरता के लिये उपनिबद्ध किया जाता है, वह प्रकरण वक्रता को प्राप्त करता है।' [1] अर्थात् प्रबन्ध-काव्यों मे समय और ऋतु-विषयक, कार्य-विषयक, स्थान-विषयक व सौन्दर्य-विषयक इत्यादि प्रसङ्ग कथा के अनुरूप वर्णित होकर सौंदर्य-सम्पत्ति के कोश बन जाते है ।

कवि अपने समग्र जीवन के किसी भी भाव विशेष का वर्णन कर सकता है । उसका यह प्रसङ्ग सरस होकर उत्पाद्य लावण्य से मण्डित हो उठता है । ऐसे रोचक प्रसङ्गों के अन्तर्गत कवि अनेक नवीन उद्भावनाओं की अवतारणा किया करता है ।

आचार्य कुन्तक के इस वक्रता प्रकार में केवल मात्र वक्रोक्ति के पक्ष विशेष का स्थापन ही नहीं है, अपितु उसके माध्यम से प्राचीन आचार्यों ने प्रबन्ध काव्य के अनतर्गत जो कुछ परम्परागत

1- कथावैचित्र्यपात्र तद्विक्रिभाणं प्रपद्यते ।
यदङ्गं सर्गबन्धादे सौन्दर्याय निबध्यते ।।

- व0 जी0

प्रसङ्ग आवश्यक बताये है तथा परम्परा पालन के लिये ही भारवि, माघ, श्रीहर्ष आदि ने अपने महाकाव्यों मे सूर्योदय, सूर्यास्त आदि प्रकृति-चित्रण के प्रसङ्ग रखे है । जलक्रीडा, अभिसार एवं मान और अननय के श्रृंङ्गार विलासपूर्ण घटनाक्रम अकित किये है । उन्हों आचार्य कुन्तक ने परम्परा निर्वाह मात्र की सीमा से निकालकर काव्य की अनिवार्य सुन्दरता प्रकरण-वक्रता के रूप मे स्वीकृति दी है । ऐसा लगता है कि इन वर्णनों की महता को बढाने के लिये ही प्रकृति, भाव-विलास आदि का वर्णन प्रकरण को कान्तिमान बनाने के लिये किया जाना चाहिये क्योंकि यदि इनका वर्णन केवल काव्य-शास्त्र अथवा नाट्यशास्त्र के अनुशासन को निभाने के लिये किया जाता है, तो मूल कथानक से इसका सम्बन्ध-विच्छेद हो जायेगा तथा यह कथावस्तु में अनावश्यक भरे हुये प्रतीत होने लगेगें, पर आचार्य ने बडे कौशल से इनके उपर्युक्त चार वर्ग बनाकर प्रसगानुकूल बना दिया है। दूसरे शब्दों मे कहे तो इन प्रसङ्गों के अनुसार ही शान्त, श्रृगार, करूण आदि भाव-वक्रता का रूप धारण करके महाकाव्य के अनिवार्य अग बन जाते है। इससे प्रकरण में रोचकता की अवतारणा हो जाती है। स्पष्ट है जब इनका सम्बन्ध प्रकरण की रोचकता से है तो ये नीरस व अनावश्यक हो ही नहीं सकते इसीलिये आचार्य ने इनके लिये, कथा के अनुरूप वर्णित होकर सौन्दर्य सम्पत्ति के कोश बन जाते हैं, यह उक्ति प्रस्तुत की है । यही 'सौन्दर्याय निबन्ध्यते' इन दो शब्दों का रहस्य है ।

किन्तु इसके लिये रचनाकार के पास शास्त्रीय परम्परा का ही आधार नहीं होता अपितु वह जीवन के किसी भी विशिष्ट भाव का अनेक नवीन और मौलिक उद्भावनाओं के साथ अवतारणा करता है । ऐसे ही स्थलों पर वस्तु मे उत्पाद्य-लावण्य का जन्म होता है । वस्तुतः किसी परम्परागत और एतिहासिक वस्तु में से यदि यह उत्पाद्य अश हटा दिया जाये तो वहाँ मात्र इतिहास अथवा परम्परागत वस्तु की इष्टपेक्षित इयता मात्र रह जायेगी । काव्यत्व अवशिष्ट नहीं रहेगा ।

ऐसे रोचक प्रसड्गों के अन्तर्गत कवि अनेक नवीन उद्भावनाओं की अवतारणा किया करता है । डा0 विजयेन्द्र नारायण सिंह के अनुसार - 'ऐसे रोचक प्रसड्गों को चार तरह से वर्गीकृत किया जा सकता है - समय और ऋतु-विषयक, विलास क्रीडा - विषयक, स्थान विषयक और कार्य-विषयक। समय और ऋतु-विषयक प्रसड्गों के अन्तर्गत प्रत्यूष, उषा, मध्यान्ह, सूर्यास्त, प्रदोष, अन्धकार, चॉदनी-चन्द्रोदय, सूर्योदय, रात-दिन और ऋतुएँ आदि आती है । विलास-विषयक के अन्तर्गत कुसुमावचय, उद्यान-विहार, जल-क्रीडा, मधु-सेवन और श्रृगार आते हैं । स्थान विषयक के अन्तर्गत आश्रम, नगर, पर्वत, नदियॉ, समुद्र तथा कार्य-विषयक के अन्तर्गत मत्र-पाठ, दूत-प्रेषण, मृगया, पुत्र-जन्म, अभ्युदय और सग्राम आदि के वर्णन आते है।'[1]

आचार्य विश्वनाथ ने बतलाया है कि महाकाव्य के अन्तर्गत संध्या, सूर्य, चन्द्र, रात्रि, प्रदोष, अन्धकार, दिन, मध्यान्ह, मृगया पर्वत, ऋतु, वन-उपवन, समुद्र, सम्भोग, विप्रयोग, मुनि स्वर्ग, नगर, यज्ञ, सग्राम, यात्रा, विवाह, रामाद्युपाय चतुष्टय, पुत्र-जन्म आदि का यथासम्भव वर्णन किया जाता है।[2]

आचार्य दण्डी के अनुसार महाकाव्यों में नगर का, समुद्र का, पर्वत का, ऋतुों का, चन्द्रोदय-सूर्योदय एव चन्द्रास्त-सूर्यास्त, उद्यान-विहार का, जलक्रीडा का, मधुसेवन का तथा सभोग का वर्णन

1- वक्रोक्ति सिद्धान्त और छायावाद

- डा0 विजयेन्द्र नारायण सिंह

2- हिन्दी साहित्य-दर्पण

- आचार्य विश्वनाथ

होना चाहिये।[1] आचार्य कुन्तक रोचक प्रसङ्गों की अवतारणा इस प्रकरण भेद के अन्तर्गत इन श्लोकों को उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत करते हैं।[2]

6- अङ्गिरसनिष्यन्दनिकष

आचार्य कुन्तक ने इसे भी प्रकरण-वक्रता के एक भेद के रूप मे माना है, क्योंकि प्रबन्ध काव्य का एक प्रधान रस अर्थात अङ्गीरस होता है । पूरे काव्य मे इस रस की प्रधानता बनाये रखी

1- हिन्दी काव्यादर्श, 1/16, आचार्य दण्डी

2- अर्थोमिलोलोन्मदराजहसे रोधोलतापुष्यवहे सरय्वाः।
विहर्तुमिच्छा वनिता सखस्य तस्याम्भसि ग्रीष्मसुखे वभूव ।।

अवैमि कार्यान्तरमानुषस्य विष्णोः सुताख्यामपरां तनु त्वाम्
सोऽहं कथन्नाम तवाचरेपमाराधनीयस्य धृतेर्विघातम् ।।

कराभिघातोत्थितकन्दुकेपमालोक्य बालातिकुतूहलेन ।।
हृदयात्पतज्ज्योतिरिवान्तरिक्षादादत्त जैत्राभरण त्वदीयम् ।।

तदेतदाजानुविलम्बिना ते ज्याघातरेखाकिणलाञ्छनेन ।
भुजेन रक्षापरिघेण भूमेरूपैतु योगं पुनरंसलेन ।।

इमा स्वसारञ्च यवीयसीं में
कुमुद्वती नार्हसि नानुमनतुम् ।
आत्मापराध नुदतीं चिराय
शुश्रूषया पार्थिव पादयोस्ते ।।

जाती है । आचार्य कुन्तक कहते हैं कि 'जहाँ पूर्व तथा बाद के (अड्कों) द्वारा सम्पादित न की जाने वाली अड्गीरस के प्रवाह की कोई कसौटी दिखाई पड़ती है, वह अड्क आदि (प्रकरण) की कोई लोकोत्तर वर्णना होती है ।

अर्थात पूरे प्रबन्ध में एक अड्गीरस अवश्य निहित होता है तथा रचनाकार बड़ी सजगता से अड्गिरस की प्रधानता सुरक्षित रखता है । इस तथ्य को आचार्य कुन्तक ने वक्रता का सन्दर्भ मानते हुये कहा है कि जहाॅ पूर्व और उत्तरवर्ती अंकों द्वारा अड्गी रस की धारा की कोई ऐसी कसौटी प्रतीति गम्य होती है, जिसकी अवगति अड्कों द्वारा नहीं होती, ऐसे स्थलों पर यह अड्क की लोकोत्तरवर्णना बन जाती है । यहाॅ लोकोतरवर्णना ही वक्रता है ।

अड्गीरसनिष्यन्दनिकष प्रकरण-वक्रता का छॅठा नियामक है । यह वस्तुतः अंगीरस की चरम प्राप्ति का ही दूसरा नाम है । यह प्रबंध रस के प्रवाह का जीवित ही है । आचार्य कुंतक की इस वक्रता का सादृश्य आचार्य भोज के 'रसभाव निरंतरत्व' नामक प्रबन्ध के अर्थगुण से है । आचार्य भोज के शब्दों मे 'रसभाव निरंतरत्व से रस ग्रहण होने पर भी रस के कारण-भूत भावों का परिग्रह होने पर पृथक भावों के ग्रहण से रसभावों का परस्पर कार्यकारण भाव कहते हुये रसों के भाव और भावों से रस और रसों से रस - इस प्रकार के नैरतर्य का रस-भाव बोध हो जाता है।'[2]

1- यत्राड्गिरसनिष्यन्दनिकष. कोऽपि लक्ष्यते ।
पूर्वोत्तरैरसम्पाद्यः साड्कादे. कापि वक्रता ।।

- व0 जी0

2- श्रृंगार-प्रकाश, द्वितीय भाग, एकादश प्रकाश, पृ0 47।

आचार्य कुन्तक इस प्रकार की वक्रता के सन्दर्भ में 'विक्रमोर्वशीय' नामक नाटक का उदाहरण देते है - जहाँ विप्रलम्भ श्रृगार अड्गीरस है।[1] जैसे कि उसके प्रारम्भ मे ही राजा (घबराहट के साथ) रे दुरात्मा । ठहर, ठहर । (मेरी) प्रियतमा को लेकर कहाँ जा रहा है? (देखकर) अरे, पहाड की चोटी से आकाश में उड़कर मुझ पर बाण बरसा रहा है । (समझ कर आँखों मे आँसू भरकर) कैसा ठगा गया हूँ मै ?

इस प्रकार आचार्य कुन्तक ने उपर्युक्त प्रकरण वक्रता का समग्र आधार अड्गीरस को बनाया है। उन्होंने जो नाटकों से उद्धरण दिये है, उनमे बड़ी सूक्ष्मता से यह सिद्ध किया गया है कि गौण रस कितने भी प्रखर हों, वह कहीं भी अड्गी-रस की तुलना मे अधिक उत्कृष्ट प्रतीत नहीं होते । इस वक्रता मे सारा चमत्कार ही इस तथ्य मे निहित है कि अड्गी-रस की प्रतिष्ठा अपनी समग्र प्रधानता के साथ बनी रहे । इसीलिये अड्गी-रस को प्रबन्ध-काव्य के जीवन के समान मानकर उन्होंने यह आभास दिया है कि काव्य में कहीं भी यदि प्रधान रस की क्षति होती है, तो उतने ही अंश मे काव्य निष्प्राण हो सकता है । इसलिये रस बहुलता के फेर मे पडकर प्रधान रस का वर्चस्व तिरोहित न हो पाये, कुन्तक की यह सजगता ही इस छठें प्रकार का आधार बनती है ।

1- विक्रमोर्वश्यामुन्मत्ताड्क: (यत्र) विप्रलम्भश्रृड्गारोऽड्गीरस.। तथा च तदुपक्रम एव राजा (ससम्भ्रमम्) - आ दुरात्मन्, तिष्ठ, तिष्ठ, क नु खलु प्रियतमादाय गच्छसि । (विलोक्य) कथ शैलशिखराद् गगनमुत्लुत्य बाणैर्मामभिवर्षति । (विभाव्य सवाष्पम्) कथं विप्रलब्धोऽस्मि।

- हि० व० जी०, चतुर्थ उन्मेष

6- अवान्तर वस्तुयोजना

अधिकारिक या प्रधान कथावस्तु के साथ प्राय सभी उत्कृष्ट रूपकों में प्रसङ्गिक इतिवृत्त, जिन्हें पताका और प्रकरा भी कहते हैं, प्रस्तुत किये जाते हैं । पताका और प्रकरी फलप्राप्ति की ओर अग्रसर अधिकारी नायक की सहायता करते हैं । उदाहरण के लिये [illegible] बाली वध के पश्चात् सुग्रीव की प्रसङ्गिक कथा सीता प्राप्ति में राम की सहायता करती है, परन्तु यहाँ तक अर्थात् मूलकथा के साथ उसके आश्रित कोई प्रासङ्गिक कथा लाना एक सामान्य बात है, जो प्रायः सभी नाटकों में उपलब्ध है । परन्तु आचार्य कुन्तक की इस क्षेत्र मे देन यह है कि उन्होंने साधारण समझे जाने वाली प्रासङ्गिक वस्तु को भी अधिक विचित्र और चमत्कारपूर्ण बना देने को अवान्तर वस्तुयोजना नामक प्रकरण-वक्रता की सज्ञा दी है । इसीलिये आचार्य कुन्तक के शब्दों मे - 'प्रधान (आधिकारिक) वस्तु की सिद्धि के लिये जहाँ अन्य प्रासङ्गिक वस्तु की उल्लेखपूर्ण विचित्रता उन्मीलित होती है, वह इस प्रकरण की अन्य (सातवीं) वक्रता होती है।' [1]

इस प्रकरण-वक्रता के उदाहरण रूप में कुन्तक ने 'मुद्राराक्षस' के षष्ट अङ्क के उस प्रकरण को प्रस्तुत किया है जिसमें कि [illegible] का मित्र बना हुआ एक रज्जुधारी पुरूष जिष्णुदास के अग्निप्रवेश को जानकर आत्महत्या करने के प्रयास में महाकाव्य राक्षस द्वारा अपनी आत्महत्या का

1- प्रधानवस्तुनिष्पत्त्यै वस्त्वन्तरविचित्रता ।
यत्रोल्लसति सोल्लेखा सापराप्यस्य वक्रता ।।
- व0 जी0, च0 अ0

कारण पूछने पर अपने मित्र जिष्णुदास के अग्निप्रवेश को बताता है तथा जिष्णुदास के अग्निप्रवेश का कारण उसके मित्र चन्दनदास (जो कि महामात्य राक्षस के परिवार की रक्षा करने के कारण मारा जाता है उस) को बताता है । इस प्रसङ्ग में कुन्तक ने 'छग्गुण' [1] आदि पद्य को उद्धृत कर उसकी व्याख्या प्रस्तुत की है, किन्तु पाण्डुलिपि के अत्यन्त भ्रष्ट होने के कारण वह पढ़ी नहीं जा सकी । उक्त श्लोक का भावार्थ इस प्रकार है - (इसके अनन्तर हाथ में रस्सी लिये एक पुरूष प्रवेश करता है) ।

पुरूष - (सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव तथा आश्रय रूप) षाड्गुण्य के संयोग से सुदृढ तथा (साम, दाम, दण्ड और भेद रूप) उपायों की परम्परा से निर्मित पाशमुख वाली चाणक्य की नीति छः रस्सियों के संयोग से सुदृढ अनेकों उपायों से निर्मित फन्देवाली रस्सी के समान शत्रु को वश में करने में बड़ी ही सरलता से समर्थ हैं (अतः) सर्वोत्कर्ष युक्त है ।

इस पद्य की आचार्य कुन्तक ने क्या आलोचना की यह पता नहीं, उसके बाद उन्होंने नीचे उद्धृत प्रकरण को उद्धृत किया है तथा उसकी भी प्रकरण-वक्रता को दिखाते हुये व्याख्या की है, जो

1- (तत प्रविशति रज्जुहस्तः पुरूषः)

पुरूष : छग्गुणसञ्जोअदिठा उवाअपरिवाडिदपासमुही ।
जाणक्कणीदिरज्जू रिऊसञ्जमणऽजुआ जआदि ।।
षड्गुणसयोगदृढा उपायपरिपाटीघटितपाशमुखी ।
चाणक्यनीतिरज्जू रिपुसंयमनऋजुका जयति ।।

- 'मुद्राराक्षस'

पढी नही जा सकी । वह प्रकरण इस प्रकार है । -

राक्षस - अच्छा महाशय जी, आपके मित्र के अग्नि मे प्रवेश करने का क्या कारण है? क्या औषधिपथ का अतिक्रमण करने वाली (दवाओं से असाध्य) महाव्याधियों के द्वारा उत्पीड़ित हैं ?

पुरूष - श्रीमान् जी, नहीं, नहीं (ऐसी बात नहीं है)

राक्षस - (तो) क्या अग्नि और विष के समान (भयकर) राजा के क्रोध से प्रताड़ित किये गये हैं (जो मरना चाहते हैं) ।

पुरूष - श्रीमान् जी, पाप शान्त हो, पाप शान्त हो । चन्द्रगुप्त की अपने प्रयोजन पर ऐसी नृशंस बुद्धि कहाँ (हो सकती है) ?

राक्षस - तो फिर क्या ये किसी अप्राप्य पराई स्त्री मे अनुरक्त हो गये थे (जिसके न मिलने पर मिलने जा रहे हों)

पुरूष - (दोनों कान बन्द करके) महाशयजी, पाप शान्त हो, अरे यह तो विनम्रता के आगार वाणिग्जन के लिये सर्वथा असम्भव (अभूमि) है । विशेषकर फिर जिष्णुदास के लिये (तो इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती) ।

राक्षस - तो फिर क्या इसके भी विनाश का जहर (तुम्हारी ही तरह) मित्र का विनाश है ?

पुरूष - हाँ महोदय, तब क्या (सुहृदविनाश ही तो इसकी मृत्यु का कारण है) ?

इस प्रकार इन प्रस्तुत प्रकरणों [1] को आचार्य कुन्तक ने अपने प्रकरण-वक्रता के सातवे भेद अवान्तर वस्तुयोजना के उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया है ।

1- राक्षस - भद्र । अथाग्निप्रवेशे तव सुहृद. को हेतु ? किमौषधिपथातिगैरूपहतो महाव्याधिभि ।

पुरूष - अज्ज । णहि णहि । (आर्य! नहि, नहि) ।

राक्षस - किमग्निविषकल्पया नरपतेर्निरस्त. क्रुधा ?

पुरूष - अज्ज! सन्तं पावं सन्तं पावं । चन्दउत्तस्य जणपदेसु अणिससा पहिवक्षी । (आर्य । शान्त पापं शान्तं पापं। चन्द्रगुप्तस्य जनपदेष्वनृशसा प्रतिपत्तिः ।

राक्षस. - अतभ्यमनुरक्तवान् किमयमन्यनारीजनम् ?

पुरूष - (कर्णौ पिधाय) अज्ज । सन्तं पाव, सन्तं पावं । अभूमी क्खु एसो विणअणिधाणस्स सेट्ठिजणस्य, विसेसदो जिष्णुदासस्स । (आर्य शान्तं पापं, शन्तं पापं । अभूमि. खल्वेष विनयनिधानस्य वणिग्जनस्य, विशेषतो जिष्णुदासस्य ।

राक्षस - किमस्य भवतो यथा सुहृद् एव नाशो विषम् ।

पुरूष - आर्य । अथ किम् (अज्ज । अध इ)

8- प्रकरणान्तर वस्तुयोजना

आचार्य कुन्तक प्रकरण-वक्रता के अष्टम् भेद की व्याख्या करते हुये कहते है कि - 'कहीं (किसी एक) प्रकरण के अन्तर्गत, सामाजिक लोगों के आनन्द को उत्पन्न करने मे सिद्धहस्त नटों द्वारा, उन (सामाजिकों) की भूमिका में स्थित होकर (अर्थात् सामाजिक बनकर), दूसरे नटों का निर्माण कर उपस्थित किया गया (स्मृत) अन्य प्रकरण सम्पूर्ण प्रबन्ध की प्राणभूत वक्रता को पुष्ट करता है।' [1]

यहाँ आशय यह है कि कहीं-कहीं पर ही असीम कौशल वाले नट अपनी भूमिका के निर्वाह से रगमच को अलंकृत करते हुये अन्य नर्तकों द्वारा प्रस्तुत किये जाने वाले एव प्रस्तुत पदार्थ के प्राणसद्वृश तथा वक्रता के माहात्म्य को उल्लसित करने वाले मध्यवर्ती दूसरे प्रकरण म सामाजिक से होकर नाना प्रकार की भावनाओं के वैचित्र्यों से साक्षात् सामाजिकों के किसी अपूर्व चमत्कार की विचित्रता को प्रस्तुत किया है । जैसे - बालरामायण के चतुर्थाङ्क (वस्तुत प्राप्त संस्करण) में यह तृतीय अक में ही आता है) में प्रहस्त का अनुकरण करने वाले नट से अनुसरण किया जाता हुआ रावण का अनुवर्तन करने वाला नट (गर्भाङ्क मे प्रस्तुत सीतास्वयम्बर) नाटक को

1- सामाजिकजनाह्लादनिर्माणनिपुणैर्नटैः ।
तद्भूमिकां समास्थाय निर्वर्तितनटान्तरम् ।।
क्वचित्प्रकरणस्यान्तः स्मृत प्रकरणान्तरम् ।
सर्वप्रबन्धसर्वस्वकलांपुष्णाति वक्रताम् ।।
- व0 जी0, च0 उ0

सामाजिक रूप मे स्थित होकर देखते हुये वैचित्र्य की सृष्टि करता है।[1] उस 'सीतास्वयवर' नामक गर्भाङ्क नाटक का नान्दी इस प्रकार है -

कर्पूर के समान जला दिये गये भी जो जन-जन मे शक्तिमान (रूप से विद्यमान) है, उस फूलों का धनुष धारण करने वाले श्रृगार के बीजभूत (कामदेव) को नमस्कार है ।[2]

यह 'सीतास्वयवर' नामक नाट्य आप लोगों के लिये ही विरचित है। इसकी (सगीत-सुधा आप लोगों) के श्रवणों के द्वारा पान करने योग्य है और इसकी (अभिनयरमणीयता) आपके अनेकानक विशाल लोचनों के द्वारा दर्शनीय है।[3]

तात्पर्य यह है कि यह ऐसी वक्रता है जो अपनी सीमाओं में एक स्वतन्त्र प्रबन्धोत्कर्ष भी उत्पन्न करती है साथ ही एक ओर सहृदय सामाजिकों और दूसरी ओर नटों अर्थात् अभिनय करने वाले पात्रों मे निहित होकर आनन्द की सृष्टि करती है । दूसरे शब्दों में कहें तो सिद्धहस्त नट अपनी अभिनय-क्षमता से सामाजिकों मे आनन्द उत्पन्न करते है । द्वितीय दर्शक, श्रोता अथवा

1- यथा - बालरामायणे चतुर्थेऽङ्के लङ्केश्वरानुकारी प्रहस्तानुकारिणा नटों नटेमानुकर्त्र्यमान ।

2- कर्पूर इव दग्धोऽपि शक्तिमान यो जने-जने ।
नम श्रृगारबीजाय तस्मै कुसुमधन्वने ।।

3- श्रवणै पेयमनेकैर्दृश्यं दीर्घैश्च लोचनैर्बहुभि: ।
भवदर्थमिव निबद्धं नाट्य सीतास्वयवरणम् ।।

पाठक उन नटों में अपना प्रतिरूप देखकर उनके द्वारा प्रदर्शित सुख, दुख और हर्ष - विषाद को अपने से सम्बन्धित समझकर चमत्कृत हो जाता है । तृतीय को आदि से अन्त तक पुष्ट करती है। इस प्रकार प्रधानतया वस्तुगत होकर भी यह अन्य वक्रताओं की तुलना मे अधिक व्यापक है।

9- सन्धिविनिवेश

आचार्य कुन्तक प्रकरण-वक्रता के अन्य नवम् भेद को प्रस्तुत करते हैं -

'मुखादि सन्धियों की मर्यादा के अनुरूप, कथानक से शोभित होने वाला, पूर्व तथा उत्तर के समन्वय से अङ्गों (अर्थात् प्रकरणों) का विन्यास वक्रता की सृष्टि से अपूर्व सौन्दर्य को प्रकट करता है, न कि अनुचित मार्ग रूपी ग्रह से ग्रस्त ग्रहण के अवसर से कदर्थित प्रकरण।'[1] अर्थात कहने का अभिप्राय यह है कि प्रबन्धों में पूर्व-पूर्व प्रकरण उतरोतर अन्य प्रकरणों की सरस ढङ्ग से सम्पादित की गयी (मुख आदि) सन्धियों के सम्बन्ध के संविधान द्वारा की गयी प्राणप्रतिष्ठा वाली प्रौढि से उत्पन्न होने वाला वक्रता विधान आह्लादित करता है ।

इस प्रकरण-वक्रता के उदाहरण रूप में आचार्य कुन्तक 'पुष्पदुषितक' के कुछ प्रकरण प्रस्तुत करते हैं - पुष्पदूषितक में प्रथम प्रकरण अत्यन्त दारूण, नई वेदना के कारण आनन्दहीन

1- मुखादिसन्धिसन्धापि संविधानकबन्धुरम् ।
पूर्वोत्तरादिसाङ्गत्यादङ्गानां विनिवेशम् ।।
न त्वमार्गग्रहग्रस्तग्रहकाण्डकदर्थितम् ।
वक्रतोल्लेखलावण्यमुल्लासयति नूतनम् ।।

- व0 जी0, च0 उ0

और समुद्र के किनारे आये हुये समुद्रदत्त की उत्कण्ठाविशाष का प्रकाशन किया गया है । दूसरा प्रकरण भी - यात्रा से वापस लौटते हुये तथा रात मे घूँस रूप मे (अँगूठी रूप) आभूषण ... कर द्वारपाल कुवलय को मूक कर देने वाले उस समुद्रदत्त का पुष्पवाटिका मे असम्भावित सहचरी के साथ समागम ही प्रस्तुत करता है । तीसरा प्रकरण भी - सम्भावित धृष्टता वाले होने पर भी नयदत्त की पुत्री के निर्वासन की विपत्ति एव उसके समाधान का वर्णन प्रस्तुत करता है । चतुर्थ प्रकरण भी - मथुरा से लौट आये हुये कुवलय के द्वारा दिखायी जाती हुयी अँगूठी से सूचित विमल सुखसम्पदा ... अत्यन्त परिपक्व गर्भ के भार से खिन्न पुत्रवधूविषयक निष्कारण निष्पादन के कारण प्रवृत्तिहीन और अपने को महापापी मानने वाले व्यापारी सागरदत्त के तीर्थयात्रा की प्रवृत्ति को प्रस्तुत करता है । पञ्चम अङ्क भी - वन के मध्य से कुछ लोगों द्वारा समुद्रदत्त के कुशल वृत्तान्त का निवेदन प्रस्तुत करता है । षष्ठ प्रकरण भी - सभी के विचित्र बोध की प्राप्ति कराने वाले उपाय को सम्पादित करता है । इस प्रकार इन रसनिष्यन्द मे लगे हुये सभी प्रकरणों की परम्परा किसी अनिर्वचनीय रमणीयता की सम्पत्ति को प्रस्तुत करती है। [1]

1- यथा 'पुष्पदूषितके' प्रथम प्रकरणं । अतिदारूणाभिनव ---- वेदनानिरानन्दस्य ----- समागतस्य समुद्रतीरे समुद्रदत्तस्योत्कण्ठाप्रकाशनम् । द्वितीयमपि - प्रस्थानात् प्रतिनिवृत्तस्य निशीथिन्यामुत्कोचालङ्कारदानमूकीकृतकुवलयस्य कुसुमवाटिकायामनाकलितमेव तस्य सहचरीसङ्गमनम् । तृतीयमपि - सम्भावितदुर्विनयेनऽपि नयदत्तनन्दिनीनिर्वासनव्यसनतत्स-माधाननिबन्धनम् ।• चतुर्थमपि - मथुराम्प्रतिनिवृत्तस्य कुवलयप्रदृश्यमानाङ्गुलीमकसम्भावेदित-विमलसम्पद. । कठोरतरगर्भभारखिन्नायां सनुषाया निष्कारणनिष्कासनादनाहितप्रवृत्ते-महापातिकनमात्मान मन्यमानस्य सार्थवाहसागरदतस्य तीर्थयात्राप्रवर्तनम् । पञ्चमपि-वनान्त-समुद्रदत्तकुशलोदन्तकथनम् । षष्ठमपि - सर्वेषां विचित्रसख्यासम्भागमाम्युपायसम्यादकमिति। एवमतषां रसनिष्यन्दतत्पराणां तत्परिपाटी. कामपि कामनीयकसम्पदमुद्भावयति ।

- पुष्पदूषितक,
प्र0 अङ्क

दूसरे उदाहरण के रूप में आचार्य कुन्तक 'कुमारसम्भव' को प्रस्तुत कर कहते हैं कि जैसे 'कुमारसम्भव' मे - पहले पार्वती के पहले पहल यौवन के प्रारम्भ का वर्णन फिर तारकासुर के पराजय रूप दुस्तर सागर के पार उतरने की बीज शङ्कर की सेवा है । ऐसा कमलोद्भव ब्रह्मा का उपदेश का वर्णन । तदनन्तर इन्द्र देव के निवेदन एवं पार्वती के सौन्दर्य बल से शङ्कर पर प्रहार करते हुये वसन्त के सखा कामदेव के शङ्कर के तृतीय नेत्र की अद्भुत आग से जलाये जाने के दुःखावेश से विवश रति का विलाप वर्णन ------- । उसके अनन्तर विह्वल हृदय मेनकात्मजा पार्वती के विवक्षित तपश्चर्या का वर्णन । फिर विचित्र मयूरों द्वारा अध्युषित विशृंखल ढलाने से परिमुपित मनोवृत्ति वाले पर्वतराज हिमालय के द्वारा वरण कराया गया हुआ विवाह वर्णन।[1] ये प्रकरण पौर्वापर्य के कारण सुन्दर संविधान में परिणत होकर मनोहारी है और सुन्दरता की चरम सीमा को पहुँच गये हैं ।

1- यथा वा कुमारसम्भवे - पार्वत्याः प्रथमतारूण्यावतारवर्णनम् । हरशुश्रूषा दुस्तरतारकपराभवपारावारोत्तरणकारणमित्यरविन्दसूतेरूपदेश.। कुसुमाकरसुहृद कन्दर्पस्य पुरन्दरोद्देशात् गौर्याः सौन्दर्यवलाद्विप्रहरतो हरिविलोचनविचित्रभानुना भस्मीकरणदुःखावेशविवशाया रत्याः विलपनम् । विवक्षितं विमलमनासो मेनकात्मजायास्तपश्चरणम् । - - - - - - - - निरर्गलप्राग्भारपरिमृष्टचेतसा विचित्रशिखण्डिभि. शिखरिनाथेन वारणम्, पाणिपीडनम् इति प्रकरणानि पौवापर्यवसितसुन्दरसंविधानबन्धुराणिरामणीयकधारामधिरोहन्ति ।

कुमारसम्भव

विवाह प्रकरण तक की ही कथा को प्रस्तुत करता था । इससे सिद्ध होता है कि कालिदास की रचना निश्चित रूप अष्टमसर्गान्ता थी । बाद के सर्ग प्रक्षिप्त हैं और वे कालिदासकृत नहीं माने जा सकते ।

नाट्यशास्त्र पर आश्रित सभी लक्षण ग्रन्थों मे सामान्य रूप से पाँच सन्धियों की व्याख्या मान्य की गयी है । मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श और निर्वहण । सन्धियों की योजना ही इसलिय की गयी है कि कथानक के विभिन्न प्रसङ्गों में एक वैज्ञानिक क्रम और समन्वय बना रहे । ऐसा न होने पर प्रबन्ध की कथावस्तु विच्छिन्न अथवा बिखरी हुयी सी बनकर प्रबन्ध का अपकर्ष कर सकती है। इसीलिये आचार्य कुन्तक की यह वक्रता मुखादि सन्धियों की योजना पर आधारित है और इससे कथानक के पूर्व और उत्तर अङ्गों में एक सहज वक्रता उदित हो जाती है, जो प्रबन्ध मे अद्वितीय सौन्दर्य को जन्म देती है । इस वक्रता में कवि की कल्पना-शक्ति को महती भूमिका है, क्योंकि उसके अभाव मे रोचक प्रसङ्गों की अवतारणा नहीं हो सकती । नायक या नायिका के जीवन के विविध पक्ष नहीं आ सकते और कहानी केवल घटनाओं का वर्णन भर बनकर रह जाती है। इसलिये सन्धिविनिवेश नामक प्रकरण-वक्रता का सम्बन्ध इतिवृत्त के आदि से अन्त तक बना रहता है ।

इस प्रकार आचार्य कुन्तक ने अपने वक्रोक्ति सिद्धान्त के विवेचन में प्रकरण-वक्रता के नौ भेदों का वर्णन किया है । महाकवियों के अन्य प्रबन्धों में भी प्रकरण-वक्रता की विचित्रता ही समझना चाहिये ।

कालिदास की नाट्यकृतियों में

प्रकरण - वक्रता

कालिदास की नाट्यकृतियों में प्रकरण-वक्रता

दीर्घकाल से भारत का सस्कृतज्ञ समाज महाकवि कालिदास की रचनाओं के लिये विशेष आकर्षण रखता आ रहा है । महर्षि बाल्मीकि और महर्षि वेदव्यास के राष्ट्र निर्माणकारी आर्षकाव्यों के पश्चात् सर्वाधिक आदर इसी महाकवि की रचनाओं को मिला ।

कालिदास के हाथों मे नाट्यकला उस समय आई जब कि वह दिनों-दिन समृद्धि की ओर अग्रसर हो रही थी और उसे किसी उत्कृष्ट कलाकार के अन्तिम स्पर्श की ही आवश्यकता अवशिष्ट रह गयी थी । महाकवि कालिदास द्वारा इस अन्तिम स्पर्श को प्राप्त कर नाट्यकला पूर्ण विकसित स्वरूप को प्राप्त हुयी। [1] इसी कारण महाकवि कालिदास की गणना सस्कृत साहित्य के सर्वोत्कृष्ट नाटककार के रूप मे की जाती है । भारतीय नाट्यकला का पूर्ण-परिपाक सर्वप्रथम उन्हीं की रचनाओं में उपलब्ध होता है । अपनी अनुपम कल्पना-शक्ति तथा विलक्षण नाट्य-चातुर्य के कारण ही उनको सर्वोत्कृष्ट स्थान प्राप्त हो सका है । उन्होंने अपने नाटकों में भारतीय सस्कृति का उत्कृष्ट, मनोरम तथा सुन्दर चित्र उपस्थित किया है । उनकी प्रतिभा अलौकिक तथा सर्वतोमुखी थी। वे ही सस्कृत साहित्य क्षेत्र के एक ऐसे उत्कृष्ट एव प्रसिद्ध कलाकार है कि जिन्होंने श्रव्य तथा दृश्य दोनों ही प्रकार के काव्यों की रचना कर अपनी अपूर्व प्रतिभा का परिचय दिया है । उनका एकांकी अभिज्ञानशाकुन्तलम्' ही विश्व-साहित्य के एक अमूल्य रत्न के रूप मे स्वीकृत किया जा चुका है ।

1- इसीलिये कालिदास ने नाट्य को 'चाक्षुस् ऋतु' कहकर इसकी श्रेष्ठता सिद्ध की है -

देवानामिमिदमामनन्ति मुनय. शान्त क्रतुं चाक्षुषं
रूद्रेणेदमुमाकृतव्यतिकरेस्वाङ्गे विभक्तं द्विधा ।
त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारस दृश्यते
नाट्यं भिन्नरूचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधकम् ।।

- 'मालविकाग्निमित्र' 1/4

महाकवि कालिदास द्वारा विरचित तीन नाटक हमे उपलब्ध होते है - (1) मालविकाग्निमित्रम्, (2) विक्रमोर्वशीय, और (3) अभिज्ञानशाकुन्तलम् ।

कालिदास ने अपने प्रथम नाटक का कथानक कहाँ से लिया ? इस विषय मे कोई निर्णयात्मक बात नहीं कही जा सकती है, फिर भी यह तो कहा ही जा सकता है कि इस नाटक के नायक आदि ऐतिहासिक हैं । इसका नायक अग्निमित्र, उसके पिता पुष्यमित्र और पुत्र वसुमित्र- तीनों ऐतिहासिक पात्र हैं । अपने स्वामी बृहद्रव्य मौर्य को मारकर पुष्यमित्र ने मगध के सिहासन पर अधिकार किया था और भारत में प्रथम ब्राह्मण राजवश की स्थापना की । इसकी पुष्टि बाण के कथन से भी होती है।[1] अग्निमित्र उसी का पुत्र था जो कुल के मूलस्थान विदिशा में साम्राज्य के दक्षिणी-पश्चिमी प्रान्तों पर शासन करता था । पुष्पमित्र ने अश्वमेघ यज्ञ किया जिसके अश्व की रक्षा करते हुये उसके पौत्र वसुमित्र ने यवनों को परास्त कर उन्हें देश से बाहर निकाल दिया । विदर्भराज का पराभव, उसके राज्य का विभाजन तथा उसके वंश की राजकन्याओं का अग्निमित्र के साथ विवाह - ये सभी बातें ऐतिहासिक तथ्य प्रतीत होती है । और उनका घटना चक्र ईसापूर्व दूसरी शताब्दी ठहरता है । अग्निमित्र के पुत्र वसुमित्र की मृत्यु नटों की सभा मे होने का 'हर्षचरित' में उल्लेख है।[2] 'पुष्यमित्र' के शासनकाल में किसी यूनानी सेनापति ने भारत पर आक्रमण किया था ऐसा सङ्केत पातञ्जल महाभाष्य मे पाया जाता है।[3]

1- प्रज्ञादुर्बलं च बलदर्शनव्यपदेशदर्शिताशेषसैन्यः सेनानीरनार्यो मौर्यं बृहद्रथं पिपेष पुष्यमित्रः स्वामिनं च ---
- हर्षचरित - 6

2- अतिदयितलास्यस्य च शैलूषमध्यमध्यास्य मूर्धानमसिलतया मृणालमिवालुनाद् अग्निमित्रात्मजस्य सुमित्रस्य मित्रदेवः ।
- हर्षचरित - 6

3- अरूणद् यवनः साकेतम्, अरूणद् यवनो माध्यमिकाम् ।
- महाभाष्य - 3,2,111

पुष्यमित्र के अश्वमेघ की बात तो उसके अभिलेख से भी ज्ञात थी, पर 'मालविकाग्निमित्रम्' से उसकी पुष्टि हो गयी है । किन्तु वाल्टर रूबेन ने अपने नाटक 'कालिदास' में अश्वमेघवाली बात के सम्बन्ध में संशय व्यक्त किया है । वह कहते हैं - 'यह प्रसिद्ध कथा है कि राजा सागर के विदर्भदेशीय राजकुमारी केशिनी से असमंज नामक पुत्र था । वह इतना निर्दय था कि नगर के शिशुओं को हँसते-हँसते नदी में फेंक देता था । इसस क्रुद्ध होकर सागर ने उसे राज्य से बहिष्कृत कर दिया । असमंज का पुत्र अशुमान था जिसने अपने पितामह सगर के अश्वमेघ के घोड़े को बंधन से छुडाया । यह अशुमान दिलीप का पिता बना और दिलीप से ही 'रघुवंश' महाकाव्य आरम्भ होता है । कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्र' के पंचम अक में अशुमान द्वारा घोड़े के छुडाये जाने तथा उसके उपलक्षा मे सगर द्वारा किये जाने वाले यज्ञ का जो संक्षिप्त उल्लेख किया है, उसका अभिप्राय यही है कि पाठक, इस पुरानी पौराणिक कहानी तथा प्रस्तुत नाटक की कहानी में, साम्य अथवा सामानन्तर्य की कल्पना कर सके । मालविका के समान केशिनी का भी सम्बन्ध विदर्भ से था। उस प्रसङ्ग में सगर के अश्वमेधीय घोडे का रक्षक उसका पौत्र था क्योंकि उसका पुत्र असमंज राज्य से निर्वासित हो गया था । प्रस्तुत प्रसंग में पुष्पमित्र के अश्वमेघवाले घोडे को उसके पौत्र वसुमित्र ने बचाया है क्योंकि उसका पुत्र अग्निमित्र युद्ध करने की अपेक्षा प्रमदवन में प्रमदाओं के साथ झूला झलने का आनन्द लेता था । असमंज का यह प्रच्छन्न सकेत नाटक के संबद्ध दृश्य मे अत्यन्त महत्वपूर्ण है । पुष्पमित्र के अश्वमेघ यज्ञ में क्या ऐतिहासिक तथ्य है, इसका निर्णय इस उल्लेख से नहीं किया जा सकता।

कथानक के सम्यक् संघटन के लिये, विद्वानों का अनुमान है, कालिदास ने गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' से सहायता ली होगी जिसके दो संक्षिप्त रूपान्तर सोमदेव के 'कथासरित्सागर' तथा क्षेमेन्द्र की 'बृहत्कथामञ्जरी के रूप में सम्प्रति उपलब्ध है ।

मूलकथा

'कथासरित्सागर' में निम्नलिखित कथा आती है - राजा महिसेन उज्जयिनी के अधिपति थे। उनकी पुत्री का नाम वासवदत्ता था, जिसका विवाह उन्होंने वत्सदेश के राजा उदयन से किया था। वासवदत्ता का भाई पालक बंधुमती नामक राजकन्या को स्वय जीतकर लाया था और उसने उसको अपनी बहिन के पास भेंट के रूप मे भेजा था तथा उसका नाम भी बदलकर मजुलिका रख दिया था। एक दिन महाराजा उदयन ने बसतक नामक अपने प्रिय मित्र विदूषक के साथ उद्यानलतागृह मे घूमते हुये उसे देखा तथा उससे गन्धर्व विवाह भी कर लिया। इस सम्पूर्ण क्रिया कलाप को छिपे हुये रूप मे वासवदत्ता देख रही थी अत उसे क्रोध आया, परिणामस्वरूप वह बसन्तक को बाँधकर ले गयी। तब राजा उदयन उसके माँ के घर की साकृत्यायनी नामकी परिव्राजिका मैत्रिणी की शरण में गये और उसकी सहायता से उसने बसन्तक को छुडा लिया। रानी की अनुमति लेकर उस परिव्राजिका के बंधुमति को राजा की सेवा मे समर्पित कर दिया।

'मालविकाग्निमित्रम्' नाटक का कथानक

प्रथम अङ्क

ईसवी शताब्दी से पूर्व विदिशा नगरी में सेनापति पुष्यमित्र के आत्मज महाराज अग्निमित्र राज्य करते थे। उनकी दो रानियाँ थीं - धारिणी और इरावती। विदर्भ के राजा माधवसेन भी अपनी छोटी बहन मालविका का विवाह अग्निमित्र से ही करना चाहते थे तथा शीघ्र ही इस विवाह कार्य के सम्पादन के लिये अग्निमित से मिलना चाहते थे। माधवसेन के चचेरे भाई यज्ञसेन भी वहीं राजा थे। वे अग्निमित्र से बैर रखते थे। माध्वसेन के साथ भी उनकी अनबन हुयी और उन्होंने

माधवसेन को राजच्युत करके बन्दी बना लिया।[1] उनके मन्त्री सुर्पात ने स्वामी की इच्छापूर्ति के लिये मार्लावका का अग्निमित्र के पास पहुँचा देना चाहा। तदनुसार वह मालविका और अपनी बहन कौशिकी को साथ लेकर राजधानी से बाहर आकर विदिशा जाने वाले यात्री-दल में सम्मिलित हो गया। मार्ग में चलने से श्रान्त हाकर उन लोगों ने एक जंगल में डेरा डाला। वहाँ दस्युओं ने आक्रमण करके उन्हे तितर-बितर कर दिया। माधवसेन के मन्त्री सुयति उस युद्ध में मारे गये।

उनकी बहन कौशिकी मूर्च्छित हो गयी। कुछ देन के बाद चेतना आने पर उसने मालविका को नहीं देखा। शोकाभिभूत होकर भाई की अग्निक्रिया करने के बाद विदिशा में आकर कौशिकी ने सन्यास ग्रहण कर लिया। कालक्रम से उसका प्रवेश अग्निमित्र के अन्तःपुर में हुआ। वह रानी धारिणी की कृपा से वहीं सम्मानित होकर जीवन व्यतीत करने लगी।[2] इधर दस्युओं ने मालविका को बन्दी बनाकर वीरसेन नामक धारिणी के भाई और अग्निमित्र के सीमान्त रक्षक को समर्पित कर दिया। वीरसेन ने देखा कि मालविका को संगीत की रूचि है, इसलिये उसे अपनी बहन धारिणी देवी के पास इस संवाद के साथ भेज दिया कि इसे सगीत तथा अभिनय की शिक्षा दिलाई जाये।

1- सोदरा पुनरस्य ग्रहणविप्लवे विनष्टा। तदन्वेषणाय प्रयातव्ये।
अथवा, अवश्यमेव माधवसेनो मया पूज्येन मोचयितव्यः
- 'मालविकाग्निमित्रम्' प्र0 अ0, पृ0 16

2- मंगलालंकृता भाति कौशिक्या यतिवेषया।
त्रयी विग्रहवत्येव सममध्यात्मविद्यया ।।
- मालविकाग्निमित्रम्, पृ0, अ0, श्लोक-14

धारिणी देवी ने भी मालविका की कला पटुता से प्रभावित होकर उसे नाट्याचार्य गणदास से शिक्षा प्राप्त

विशेष कारण वश उसका परिचय किसी को नहीं दिया ।

एक दिन धारिणी ने अपना चित्र बनवाया, जिसमे उसके परिजन के रूप में मालविका का भी चित्रण किया था । वह चित्र रगा गया था कि चित्रशाला मे बैठी धारिणी उस चित्र को देख रही थी, पीछे से आकर राजा वहाँ खडे हो गये चित्र मे एक अपरिचित सुन्दरी को देखकर राजा ने उत्सुकता से उसके विषय में पूछना प्रारम्भ किया।[1] रानी ने जानबूझकर उत्तर नहीं दिया । वहीं कुमारी वसुलक्ष्मी भी थी, बालसुलभ चन्चलता से उसने कहा - इसका नाम मालविका है । राजा द्वारा किये गये कुतूहल प्रश्नों से उनकी उत्सुकता का अनुमान करके रानी क हृदय मे खटका पैदा हो गया और मालविका को राजा की दृष्टि से बचाये रखने की व्यवस्था कर ली गयी । चित्र मे मालविका को देखकर राजा उसकी रूप माधुरी पर मोहित हो गये, उन्होंने विदूषक से अपनी मनोदशा बता दी और मालविका को दिखा देने तथा उसे मिलाकर सगम करा देने के लिये उपाय करने को कहा।[2] विदूषक ने उस दरबार के दोनों नाट्याचार्य गणदास तथा हरदत्त मे - झूठी बातें फैलाकर विरोध का

1- चित्रशाला गता देवी यदा प्रत्यग्रवर्णरागा चित्रलेखामाचार्यस्यालोकयन्ती तिष्ठति । भर्ता चोपस्थितः ------ भर्ता चित्रगताया देव्या. परिजनमध्यगतामासन्नदारिकां दृष्ट्वा देवी पृष्टा - अपूर्वेयं दारिका देव्या आसन्ना आलिखिता किन्नामधेयति ।
- मालविकाग्निमित्रम, प्र0अ0 पृ010

2- अपि कच्चिदुपेमोपायदर्शने व्यापृतं ते प्रज्ञाचक्षु. ।
- मालविकाग्निमित्रम् प्र0 अ0, पृ0 20

वाताभरण पैदा कर दिया । उन लोगों ने राजा से यह निर्णय कर देने को कहा कि उनमें कौन अधिक विद्वान है राजा ने उसमें कौशिकी को मध्यस्थ बनाया, कौशिकी ने राजा से भी यह मध्यस्थता मे रहने के लिये कहा । किस आधार पर विशेषज्ञता निर्धारित की जाय, इस प्रसड में कौशिकी ने निर्णय दिया कि दोनो आचार्य अपनी-अपनी शिष्याओं को स्वाभाविक वेश मे छलिक अभिनय प्रदर्शित करने को कहे, जिसकी शिष्या प्रथम होगी, वह विशेषज्ञ माना जायेगा।[1] दोनों आचार्य इस बात को मान गये । विदूषक का प्रथम उपाय सफल रहा । धारिणी ने बहुत प्रयत्न किया कि यह बात किसी प्रकार दब जाय, प्रदर्शन न हो, लेकिन सभी मिले हुये थे, अत· उसे हताश होना पड़ा। प्रदर्शन होना निश्चित हो गया और रंगशाला में तैयारी होने लगी ।

द्वितीय अड्क

वृद्ध होने के कारण गणदास को पहले प्रयोग का अवसर दिया गया । राजा, धारिणी, कौशिकी, विदूषक और परिजन सभी उपस्थित थे । राजा मालविका को देखने के लिये अधीर हो रहा था[2] पर्दा उठने पर मालविका सीधे-सादे वेश में सामने आयी । उसके लावण्य ने राजा को

1- शर्मिष्ठाया· कृतिं चतुष्पादोत्थं छलिकं दुष्प्रयोज्यमुदाहरन्ति तत्रैकार्थसंश्रयमुभयो· प्रयोग पश्याम । तावता ज्ञायत एवात्र भवतोरूपदेशान्तरम् ।
- 'मालविकाग्निमित्रम्' द्वि0 अ0

2- राजा (जनान्तिकम्) वयस्य,
नेपथ्यपरिगतायाश्चक्षुर्दर्शनसमुत्सुकं तस्या· ।
सहर्तुमधीरता व्यवसितमिव में तिरस्करिणीम् ।।
- 'मालविकाग्निमित्रम्' अ0, पृ0 42

चकित कर दिया । अब तक राजा की धारणा थी कि चित्रगत मालविका की शोभा चित्रकार की कुशलता प्रसूत है, वह इतनी सुन्दर नहीं होगी किन्तु साक्षात् मालविका को देखकर उसने स्थिर किया कि चित्रकार मालविका के रूप को सम्पूर्णभाव से चित्र में नहीं ला सका है, यह चित्र से कहीं अधिक सुन्दरी है।[1] नृत्य प्रारंभ हुआ । शर्मिष्ठा प्रवर्तित चतुष्पद सगीत मे भावप्रदर्शन द्वारा मालविका ने राजा के प्रति आत्मनिवेदन किया । राजा मत्रमुग्ध की तरह देखते रहे । नृत्य समाप्त हुआ । हरदत्त को यह कहकर विरत कर दिया कि आपका प्रयोग फिर कभी देखा जायेगा, अभी प्रयोजन का समय उपस्थित है । सभी लोग भोजन करने के लिये उठकर चले गये । राजा ने विदूषक से कहा - वयस्य। सचमुच यह अतीव सुन्दरी है । विधाता मे सौन्दर्य सृष्टि की जितनी क्षमता थी, वह सब इसमे लगा दी गयी है । अब तुम शीघ्र ऐसा उपाय करो जिससे इसके साथ मेरा मिलन हो जाये।[2]

राजा की विरह-वेदना दिन-दिन बढती गया । वह बराबर उसी से मिलने की चिन्ता म रहने लगा । विदूषक ने राजा के कथनानुसार राजा की स्थिति से वकुलावलिका को अवगत कराया, वह मालविका की सखी तथा स्नेहपात्र थी ।

तृतीय अङ्क

अग्निमित्र के अनत पुर की चहारदीवारी मे रमणियों के आनन्द एव मनोरंजन के लिये एक बाग लगाया था - जिसका नाम प्रमदवन था । उसमे धारिणी द्वारा लालित एक अशोक वृक्ष था।

1- राजा -
चित्रगतायामस्यां कान्तिविसंवादशङ्कि मे हृदयम् ।
संप्रति शिथिलसमाधि मन्ये येनेयमालिखिता ।।
- 'मालविकाग्निमित्रम्, द्वि0 अ0, श्लोक-2

2- सर्वान्त पुरवनिता व्यापारप्रतिनिवृत्तहृदयस्य।
सा वामलोचना मे स्नेहस्यैकायनीभूता ।।
- 'मालविकाग्निमित्रम्' दि0अ0, श्लोक - 14

उसके पत्ते सुनहले रग के थे, इसी से उसका नाम तयनीयालोक रखा गया था। उसके दोहद के लिये किसी तरूणी को उस पर नूपुर युक्त चरणों से प्रहार करना था। धारिणी के पैर पीड़ा थी, अतः उन्होंने मालविका को यह कहकर उस कार्य के लिये भेजा कि यदि पाँच रात्रि के बीच अशोक वृक्ष के फूल निकल आये, तो वह उसका मनोरथ पूर्ण करेगी।[1] मालविका अपनी सखी वकुलावलिका को साथ लेकर प्रमदवन पँहुची। वकुलावलिका ने उसके चरणों को रँगकर नूपुर पहनाया, अशोक के दोहद पूरे हुये।[2] इसी समय घूमते-फिरते राजा वहाँ पहुँचे। उनके वहाँ पहुँचने से पहले ही वकुलावलिका ने राजा का अभिप्राय मालविका को बताया। राजा ने स्वयं भी अपना अनुराग प्रकट किया।[3] उसके और वकुलावलिका के बीच जो बातचीत हुयी थी, उससे राजा को मालविका की मानसिक स्थिति का पता चल गया था। उन्होंने स्पष्ट शब्दों मे प्रणय याचना की।[4] जिस समय राजा, मालविका और वकुलावलिका के बीच बातें हो रही थी, उसी समय एक अन्य कार्य से राजा को ढूँढती हुयी राजा की द्वितीय पत्नी इरावती वहाँ आ गयी, उसके आने से प्रणयवार्ता का रग उतर गया।

1- 'तुम दाव गदुअ तवणीआसाअस्स दोहलं णिवट्टेहि त्ति। जइ सो पञ्चरत्तब्भन्तरे कुसुमं दंसेसि तदो अहं अहिलालपूरइत्तअं पसादं दावइस्स त्ति।' (त्वं तावद्गव्या तपनीयाशोकस्य दोहद निवर्तय। यद्यसौ पञ्चरात्राभ्यन्तरे कुसुम दर्शयति, ततोऽहमभिलाषपूरयितृकं प्रसादं दापयिष्यामीति।'

- मा0मि0,तृ0 अ0, पृ0 72

2- (मालविका रचितपल्लवावतंसा पादमशोकाय प्रहिणोति)

- मालविका0, तृ0 अं0, पृ0 93

3- भावज्ञानानन्तरं प्रस्तुतेन प्रत्याख्याने दत्तयुक्तोत्तरेण
वाक्येनेय स्थापिता स्वे निदेशो स्थाने प्राणा. कामिना दूत्याधीनः।।

- मालविका0, तृ0 अंक, श्लोक-14

4- धृतिपुष्पमयमपि जनो बहनाति न तादृशं चिरात्प्रभृति।
स्पर्शामृतेन पूरय दोहदमस्याप्यनन्यरूचे:

- मालविका0, तृ0 अं0, 19

राजा ने तुरन्त अपने को संभालते हुये इरावती से कहा - देवि ! तुम्हारा ही अन्वेषण करता हुआ मैं यहाँ आया और देर से तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा था, किन्तु जब तुम नहीं आ रही थीं, तब तक इससे बातें कर मैं अपना दिल बहला रहा था।[1] इन बातों का इरावती पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा । वह क्रोध मे भरी हुयी राजा की उपेक्षा करके वहाँ से चली गयी । जाने से पहले वह वकुलावलिका को भी फटकार सुना गयी । इरावती इस बात की उपेक्षा नहीं करना चाहती थीं। वह धारिणी के पास जाकर राजा के इस अविनय की सूचना कुछ विस्तार के साथ दे आयीं । इस बात के सुनने से धारिणी को इरावती की बात रखने के लिये कठोर व्यवस्था करनी पड़ी । मालविका और वकुलावलिका को कारावास का कठोर दण्ड दिया गया । उनकी रखवाली के लिये धारिणी ने अपनी एक विश्वासपात्र परिचारिका को वहाँ बैठा दिया और उसको आज्ञा दी कि बिना धारिणी की मुहर देखें दोनो बन्दियों को किसी प्रकार मुक्त न करें।[2]

चतुर्थ अङ्क

मालविका तथा वकुलावलिका के कारावास से राजा को अत्यन्त चिन्ता हुयी ।[3] उनके खेद तथा प्रार्थना से परवश होकर विदूषक ने एक उपाय सोचा और तदनुसार राजा को धारिणी के

1- राजा - सुन्दरि, न में मालविकया कश्चिदर्थः। मयां त्वं चिरपसीति यथाकथंचिदात्मा बिनोदितः ।

- माल0, तृ0 अंक, पृ0 100

2- (ममाङ्गुलीयकमदृष्ट्वा न मोक्तव्या त्वया हताशा मालविका वकुलावलिका चेति) मह अङ्गुलीअमुद्दिअं अदेक्खिअण मोत्तव्वा तुए हदासा मालविआ वउलावलिआ अत्ति ।

- मालविकाग्निमित्रम्, च0 अं0 पृ0 110

3- राजा-कष्टम् कष्टम् ।

मधुरस्वरा पराभृता भ्रमरी च विवुद्धचूतसङ्गिन्यौ ।
कोटरमकालवृष्ट्या प्रबलपुरोवातया गमिते ।।

- मा0 का0, च0 अं0, श्लोक-2

पास उनकी खबर लेने के लिये भेजा । इधर विदूषक ने एक षड्यन्त्र रचा । उसने अपने हाथ में केतकी कण्टक से सर्प-दंशन का दाढ़ बना लिया और मिथ्या सर्प-दंशन की बात फैलाकर सबको चिन्तित कर दिया । उसने यह प्रचार किया कि रानी को उपहार में देने के लिये मैं फूल लेने गया था कि मुझे कालसर्प ने डस लिया । रानी को इससे बड़ी चिन्ता हुयी कि संयोगवश यदि इस सर्पदंशन से इसकी मृत्यु हो गयी, तो यह ब्राह्मणहत्या का कलङ्क मेरे ही ऊपर लगेगा। [1] विदूषक विषवेग से सन्तप्त का स्वाँग बनाकर दरबार में उपस्थित हुआ, जहाँ राजा, रानी, कौशिकी इत्यादि उपस्थित थे । विदूषक ने विष-वेग का ऐसा प्रदर्शन किया कि सभी चिन्तित हो उठे । राजा ने विदूषक की विष-चिकित्सा के लिये अपने वैद्य ध्रुवसिद्धि को आदेश भेजा । विदूषक ध्रुवसिद्धि के पास गया। ध्रुवसिद्धि के उसकी चिकित्सा में 'नागमुद्रा' की आवश्यकता बताई। [2] सभी के समक्ष एक ब्राह्मण के जीवन का प्रश्न था ।

किसी को कुछ सोचने का अवसर नहीं था । धारिणी के पास नागमुद्रा वाली अँगूठी थी। रानी ने तत्क्षण वह अँगूठी जयसेना को दे दी । अँगूठी देखते ही विदूषक का कृत्रिम विष-वेग उतर गया। [3] उसने वही अँगूठी दिखाकर मालविका और वकुलावलिका को कारावास से मुक्त कराया ।

1- धारिणी - हा धिक् हा धिक् । अहमेव ब्राह्मणस्य जीवितसंशयनिमितं जातास्मि ।
- मा० का०, च० अ०, पृ० ।।4

2- (ध्रुवसिद्धि विज्ञापयति उद्कुम्भविधानेन सर्पमुद्रितं किमपि कल्पयितव्यम्) जेदु जेदु भट्टा। ध्रुवसिद्धी विण्णावेदि उदकुम्भविहाणेण सप्पमुद्दिअं किंपि कप्पिदव्वं ।
- मालविकाग्निमित्रम्, च०अ० पृ० ।।7

3- णिवुत्तविसवेगो गोदमो मुहुत्तेण पकिदित्थो संवुत्तो ।
(निवृत्तविषवेगो गौतमो मुहूर्तेण प्रकृतिस्थः संवृत्त.) ।

वहाँ की रक्षिका से कह दिया कि राजा की कुण्डली देखकर दैवज्ञों ने बताया कि ग्रहसिथिति कुछ मन्द इसीलिये उसके शान्त्यर्थ सभी बन्दी छोडे जा रहे हैं। इसमें देवी का कोई हाथ नही है। [1] संकेतानुसार राजा, विदूषक, मालविका और बकुलावविका - सभी समुद्रग्रह में मिले। मालविका और राजा दोनों एक दूसरे दिल खोलकर मिले। मालविका ने देवी का भय पात्र अपने मिलन का प्रतिबन्धक बताकर आत्मनिवेदन कर विदूषक और बकुलावविका आस-पास छिपे बैठे रहे। यह प्रणय-लीला चल रही थी कि इरावती वहाँ आ गयी। उसके साथ उसकी परिचायिका निपुणिका भी थी। समुद्रग्रह के द्वार पर बैठा विदूषक स्वप्न में रहा था मालविका राजप्रिया होओ। इरावती को राजप्रणय से जीत लो। [2] निपुणिका को यह अप्रिय लगा, वहीं का कोई कुटिल काष्ठ दण्ड उठकार विदूषक के ऊपर चला दिया, जिससे विदूषक को पुनः सर्प भय आया। राजा विदूषक के समय शब्दों को सुनकर बाहर आया, स्नेहाधीन मालविका भी उसके पीछे वकुलावलिका भी वहाँ आ गयी।

इरवती इस दृश्य को देखकर तमक उठी। उसने एक-एक को फटकार सुनवाई। राजा ने कितना समझाया कि इसमे कुछ और बात नही है, केवल कारामुक्ति की कृतज्ञता सूचित करने के लिये यहाँ मेरे आयी है। वकुलावलिका के ऊपर इरावती बहुत बिगड़ी, क्योंकि इरावती की धारणा थी कि सारे फसाद की वकुलावलिका का ही है। [3] वकुलावविका ने भी यह कह दिया कि जब राजा ही आकृष्ट हो रहे है,

---

1- तं सुणिअ देवीए इरावदीए चित्तं रक्खन्तीए राआ। किल मोएदि त्ति अहं संदिट्ठे त्ति। तदो जुज्जदि ति ताए एव्वं संपादिदो अत्थो। (तच्छ्रुत्वा देव्या इरावत्याचित्त रक्षन्त्या राजा किल मोचयतीत्यहं संदि इति। ततो युज्यत इति तवैवं संपादितोऽर्थः)

- मालविकाग्निमित्रम्, च0 अंक, पृ0 12।

2- भोदि मालविए। इरावदीं अदिक्कमन्ती होहि(सवति मालविके। इरावतीमतिक्रामन्ती भव)

- 'मालविकाग्निमित्रम्' चतुर्थ अङ्क, पृ0 138

3- इरवती - बउलावलिए, दिट्ठिया भटाहिआरविसआ संपुण्णा दे पइण्णा। (बकुलावलिके, भर्त्रभिसारविषया संपूर्णा ते प्रतिभा) ।

- 'मालविकाग्निमित्रम्', च0 अंक पृ0 140

इसमें मेरा क्या दोष है? सभी स्म्भित भाव में खडें रहे। इरावती अन्ध में भरी थी। राजा उसे प्रसन्न करने की चेष्टा कर रहे थे, लेकिन वह क्यों मानती? उसने अपनी परिचायिका से कहा जाकर देवी से कह दो- 'आपका पक्षपात देखा गया, अब हमारे हृदय में विश्वास हो गया कि आपने जानकर इन लोगों को मिलाने का प्रयत्न किया है।[1] इस संवाद से सभी चिन्ता में पड गये क्योंकि धारिणी इसे पाकर बिगड़ उठेगी, तब तो यह कार्य और सविघ्न हो जायेगा। इसी समय अन्त·पुर की ओर से एक दासी दौड़ती हुयी वहाँ आकर कहने लगी - पिंगल वानर ने कुमारी वसुलक्ष्मी को इस तरह डरा दिया कि उसकी घिग्घी बँध गयी है। महारानी गोद में रखकर आश्वासन दे रही है फिर भी उसे होश नही हो रहा है।' राजा ने सुनते ही कहा - चलो, मैं होश कराता हूँ। इधर यह खबर फैलने लगी कि तपनीयाशोक में फूल लग गये है।[2] मालविका को इस पर आधा बँधी। वकुलावलिका ने भी कहा - देवी सत्यप्रतिज्ञ है, वह आपके मनोरथ अवश्य पूर्ण करेगी।

पञ्चम अङ्क

राजा के पास विदर्भ से सूचना आई कि सैनिको ने यज्ञसेन को परास्त करके माधवसेन को बन्दीग्रह से मुक्त करके आधे राज्य पर अधिकार करा दिया है।[3] बन्दियों चारणों ने राजा की स्तुति की। राजा और विदूषक तपनीयाशोक की कुसुम समृद्धि देखने के लिये प्रमदवन चले गये। धारिणी ने मालविका को प्रसाधन निपुण कौशिकी

1- इरावती - णिउणिए, गच्छ। देवीं विण्णावेहि दिट्ठे भवदीए पक्खवादो णं अज्ज त्ति। (निपुणिके, गच्छ। देवीं विज्ञापय। दृष्टो भवत्याः पक्षपातो नन्वद्येति ।

- 'मालविकाग्निमित्रम्' च0 अ0, पृ0 143

2- अपुण्णे एव्व पञ्चरत्ते दोहलस्य मुउलेहिं संणद्धो तवणीआसोअके जाव देवीए णिवेदेमि । (अपूर्ण एव पञ्चरात्रे दोहदस्य मुकुलैः संनद्धस्तपनीयाशोक. यावद्देव्यै निवदेयामि)।

- मालविकाग्निमित्रम्, च0 अङ्क, पृ0145

3- वसीकिदो क्खु वीरसेणप्पमुहेहिं भत्तुओ विजउदण्डेहिं विदम्भणाहो । मोइदो से दाआदो माहवसेणो । (वशीकृतः किल वीरसेनप्रमुखैर्भर्तुर्विजयदण्डैर्विदर्भनाथः । मोचितोऽस्य दापाओ माधवसेनः ।)

- मा0 का0, पं0 अं0, वृ0 153

की सहायता से वैवाहिक वेश से अनलङ्कृत करके उसे पण्डित कौशिकी और परिजनों को साथ लेकर प्रमद वन में वर्तमान राजा का दर्शन किया। विदूषक ने इस साज-सज्जा को देखकर राजा से कहा - आपके मनोरथ अब पूरे होगें।[1]

इसी समय अग्निमित्र के पिता पुष्यमित्र ने, जो उन दिनों अश्वमेध यज्ञ में दीक्षित थे, दूत के साथ एक पत्र भेजा, जिसमें यह सूचना थी कि 'कुमार वसुमित्र ने यज्ञाश्व की रक्षा में बडी वीरता दिखायी है। समुद्र के किनारे यवन सैनिकों ने उस अश्व को घेर लिया था। किन्तु धनुर्धर वसुमित्र ने उन सबको परास्त कर यज्ञ को निर्विघ्न बना दिया है। आप सपरिवार यज्ञ में सम्मिलित हों।'[2] पुत्र-विजय-वार्ता से रानी को बडा आनन्द हुआ इसकी सूचना तत्काल अन्तःपुर मे दी गयी और अन्य रानियों ने भी सवाद देने वाली दासी को पुरस्कार दिये।

तत्तश्चात् धारिणी ने राजा से कहा - 'आपने ही प्रियसवाद सुनाया है अतः अनुरूप पारितोषिक को स्वीकार करें।' इसी समय माधवसेन द्वारा उपहारस्वरूप भेजी गयी दो शिल्पिकाऍं वहाँ उपस्थित की गयी। उन बालिकाओं ने मालविका को देखकर आश्चर्य प्रकट किया और बरबस उनके मुख से ये शब्द निकल पडें - 'यह तो राजकुमारी है।'[3] उन बालिकाओं को देखकर पूर्व परिचयवश मालविका की आँखों से आँसू निकल पडें।

1- ताए सविसेसालंकिदा मालविआ। तत्होदी कदापि पूरस भवदोहि मणोरहं। (तया सविशेषालंकृता मालविका। तत्रभवती कदाचित्पूरयेद्भवतोऽपि मनोरथः)।

- मा0 का0, पं0 अं0, पृ0 153

2- राजा - सोऽहमिदानीमंशमता सगरपुत्रेणव प्रत्याहृताश्वो यक्ष्ये। तदिदानीमकालहीनं बिगतरोषचेतसा भवता वधूजनेन सह यज्ञसेवनायागन्तव्यमिति ।

- मालविकाग्निमित्रम्, पं0 अं0, पृ0 175

3- उभे - (मालविकां दृष्ट्वा) अम्हो भट्टदारिआ। जेदु जेदु भट्टदारिआ। (अहो भर्तृदारिका। जयतु जयतु भर्तृदारिका)।

- मालविकाग्निमित्रत्, पं0 अं0, पृ0 162

बालिकाओं ने रूप-परिवर्तन हो जाने पर भी स्वर से कौशिकी को पहचान लिया। इस पर चकित होकर राजा ने जिज्ञासा प्रकट की। तदनुसार उन बालिकाओं ने और शेषाश में कौशकी ने मालविका का कुल-क्रम, यहाँ आना प्रभृति वृतान्त सुनाया। तत्पश्चात् प्रमाणित हो गया कि मालविका राजकुमारी है।[1]

सभी लोगों को तो प्रसन्नता हुयी किन्तु मालविका को चिन्ता होने लगी कि कहीं ऐसा न हो कि इतने दिनों तक आपने मालविका का परिचय न देकर उसका मेरे द्वारा जो अपमान कराया, वह क्या उचित हुआ? कौशिकी ने इसका उत्तर दिया कि यह जान-बूझकर ही किया गया है। आप सुनिये - 'जिस समय मालविका के पिता भी जीवित थे, उसी समय तीर्थयात्रा में आये हुये एक सिद्ध पुरूष ने कहा था कि 'मालविका एक वर्ष तक दासी का कार्य करके योग्य पुरूष के साथ ब्याही जा सकेगी। यहाँ मैने आपके आश्रय में देखा कि यह अनायास पूरा हो रहा है, इसलिये मैं चुप रही। यदि मैं उस समय इसका परिचय दे देती, तो उसे यह विधि-विधान किसी और स्थान पर भोगना पड़ता, जो अच्छा नहीं होता। इसके पश्चात् धारिणी ने इरावती की भी अनुमति से कौशकी से पूछकर राजा से कहा - 'आप पूर्वोक्त पारितोषिक में मालविका को स्वीकार करें। राजा ने कहा कि जब आप इसे स्वतुल्य मानकर देवी शब्द दे रही हैं और घूँघट दी है, तो मैं आपकी इस आज्ञा को स्वीकार करती हूँ।

'मालविकाग्निमित्रम्' में कालिदास की प्रकरण-वक्रताएँ

'मालविकाग्निमित्रम्' में कालिदास ने बाद के नाटकों की भाँति इसके लिये भी कोई पौराणिक कथानक न चुनकर समवर्ती या पूर्ववती घटनाचक्र को ही, जो कि उस समय समाज में विशेष चर्चा का विषय रहा होगा,

---

1- सुणादु भट्टा। जो सो भट्टिणा बिजअदण्डेहिं विदब्भणाहिं वसीकरिआ बन्धणादो मोइओ कुमारो माहवसेणो णाम, तस्स इअं कणीअसी भदूषी मालविआनाम (श्रृणातु भर्ता । य· स भर्ता विजयदण्डैविर्दर्भनाथ वशीकृत्य बन्धनान्मोचित् कुमारो माधवसेन नाम। तस्येयं कनीयसी भगिनी मालविका नाम)

- मा0 का0, पं0 अं0, पृष्ठ. 162

कथावस्तु के रूप में चुना और उसमें परिवर्तन व परिवर्द्धन किये क्योंकि कवियों की प्रायः यह प्रवृत्ति ही हुआ करती है कि वे किसी भी कथानक ज्यों का त्यों चित्रण कभी भी नहीं किया करते है। कलात्मक सौन्दर्य की दृष्टि से उसमें कुछ परिवर्तन एवं परिवर्द्धन का करना आवश्यक हो जाया करता है।

इस नाटक की मूलकथा तथा 'मालविकाग्निमित्रम्' के कथानक मे बहुत कुछ साम्य है। दोनों में नायिका प्रारम्भ में गुप्त रूप में ही चित्रित की गयी है। दोनों में विदूषक की सहायता से नायिका का उद्यानलताग्रह में सम्मिलन दिखलाया गया है। इसके अनन्तर विदूषक का रानी द्वारा बन्दी बना लिया जाना भी दोनों में वर्णित है। अन्त में परिव्राजिका की सहायता से ही नायिका का विवाह राजा के साथ सम्पन्न कराया जाता है। इस साम्य के होने पर भी दोनों के कथानको में वैषम्य भी उपलब्ध होता है। किन्तु इस वैषम्य के आधार पर यह स्वीकार कर लेना कि 'मालविकाग्निमित्रम्' नाटक का मूलभूत आख्यान उपर्युक्त कथा से सम्बद्ध नहीं है, कुछ उचित नहीं प्रतीत होता क्योंकि कवियों की प्रायः यह प्रवृत्ति ही हुआ करती हे कि वे कभी भी कथानक का ज्यों का त्यों चित्रण कभी भी नहीं किया करते है। कलात्मक सौन्दर्य की दृष्टि से उसमें कुछ परिवर्तन एवं परिवर्द्धनों का करना आवश्यक हो जाया करता है।

इस नाटक के तृतीय अङ्क में धारिणी द्वारा मालविका को अशोक के दोहद के लिये पादप्रहारार्थ इस शर्त पर भेजा गया था कि यदि पाँच रात्रि के बीच अशोकवृक्ष में फूल निकल आये, तो वे उसका मनोरथ पूर्ण कर देगी।[1] इस प्रकार की शर्त की कल्पना कालिदास की अपनी कल्पना है। इस प्रकार प्रकरण-वक्रता द्वारा कालिदास ने कथानक में एक विचित्र सौन्दर्य का समावेश किया है।

1- तुमं दाव गदुअ तवणीआसोअस्स दोहलं णिवट्टेहि त्ति। जइ सो पञ्चस्तब्भन्तरे कुसुमं दसेदि तदो अहं अहिलासपूरइत्तअं पसादं दावइस्सं त्ति। (त्वं तावद् गत्वा तपनीयाशोकस्य दोहदं निवर्तय। यद्यसौ पञ्चरात्राभ्यन्तरे कुसुमं दर्शयति, ततोऽहमभिलाषपूरमित्रृकं प्रसादं दापयियामिति।)

- 'मालविकाग्निमित्रम्', तृ0 अंक पृ0 72

प्रथम एवं द्वितीय अंकों में नाट्यचार्यों में जो परस्पर कलह की उत्पत्ति होने तथा मालविका द्वारा नाटक के प्रयोग के प्रदर्शन की नवीन कल्पना भी कालिदास की अपनी सूझ है । इसी प्रकार मालविका को बन्दीगृह से छुड़ाने के लिये विदूषक ने सर्पदंश का बहाना कर महारानी धारिणी से नागमुद्रा की अँगूठी प्राप्त कर लेना तथा उसे दिखलाकर मालविका को बन्दीगृह से मुक्त कराना[1] यह भी 'कथासरित्सागर' के कथानक की अपेक्षा एक नवीन कल्पना है ।

इस प्रकार इस नाटक में कालिदास ने अनेक प्रकरण वक्रताओं के प्रयोग से कथानक में एक विचित्र सौन्दर्य का समावेश किया है । साथ ही नाटकीय संविधान में वैशिष्ट्य भी आ गया है।

'मालविकाग्निमित्रम्' की कथावस्तु में अर्थ-प्रकृतियाँ

वस्तुत· अर्थ-प्रकृतियाँ कथावस्तु के उपादान या समग्री प्रतीत होती है। ये [2] पाँच हैं- (1) बीज, (2) बिन्दु, (3) पताका, (4) प्रकरी और (5) कार्य ।

(1) 'मालविकाग्निमित्रम्' के प्रथम अंक में दो दासियों के परस्पर वार्तालाप में यह बतलाया गया है कि एक दिन चित्रशाला में बैठकर रानी धारिणी अपने बनवाये चित्र को देख रही थी कि इतने में राजा अग्निमित्र भी आकर वहाँ खडे होंगे, इस चित्र में परिजन के रूप में मालविका का भी चित्र अङ्कित किया गया था । चित्र में एक अपरिचित नवयौवना को देखकर राजा ने उसके विषय

1- न खलु मुद्रामधिकृत्य ब्रवीमि । एतयोर्द्वयो. कि निमित्तो मोक्षः ।

- मालविकाग्निमित्रम्, च0 अ0, पृ0 120

2- दशरूपक - 1/18, नाट्यशास्त्र (भरतमुनि) 19/21

पूछना प्रारम्भ किया।[1] रानी ने जानबूझकर कोई उत्तर न दिया। चित्र में मालविका को देखकर राजा उसके रूपमाधुर्य पर मोहित हो गये।

राजा द्वारा इस प्रकार मालविका को देख लेना ही कथावस्तु का बीज[2] है। इसी बीज ने अनेक रूपों में पल्लवित होकर कथानक को विकसित किया है।

(2) प्रथम अक में विदूषक द्वारा नाट्यचार्यो मे विरोध का वातावरण उत्पन्न कर दिये जाने पर मूलकथा विच्छिन्न हो जाती है। द्वितीय अंक में मालविका के नृत्य के समाप्त होने के पश्चात् विदूषक द्वारा भोजन के समय हो जाने की सूचना मिलती है। हरदत्त भी अपनी स्वीकृति दे देते है तथा हरदत्त को यह कहकर कि 'आपकी शिष्या का नृत्य हम कल देखेगें' टाल दिया जाता है।[3] इसके अनन्तर पुनः मुख्य कथानक प्रारम्भ हो जाता है तथा राजा द्वारा मालविका की प्राप्ति के लिये विदूषक की सहायता से पुनः प्रयत्न प्रारम्भ हो जाता है। यही अंश बिन्दु[4] है।

(3) प्रथम एवं द्वितीय अंक में गणदास एवं हरदत्त की शिष्याओं के नृत्य देखने का प्रासंगिक कथानक मुख्य कथानक के उपकार के लिये ही किया गया है। इसी प्रकार चतुर्थ अंक में विदूषक द्वारा असत्य सर्पदंशन सम्बन्धी कथानक का उल्लेख आता है और वह राजवैद्य ध्रुवसिद्धि के समीप भेजा

1- अपुब्बा इअं दारिआ देवीए आसण्णा आलिहिदा किंणामहे एत्ति (अपूर्वेयं दारिका देव्या आसन्ना आलिरिवता किन्नामधेयेति)।

- 'मालविकाग्निमित्रम्', प्र0 अं0, पृ0 9

2- साहित्यदर्पण - 6/65

3- 'एवमेव भवान् सुहृदर्थेऽपित त्वरताम् ।

- मालविकाग्निमित्रम्, द्वितीय अं0

4- नाट्यशास्त्र 19/22 तथा साहित्यदर्पण - 6/65

जाता है। राजवैद्य उसकी चिकित्सा में 'नागमुद्रा' की आवश्यकता बतलाते है। [1] नागमुद्रा वाली अँगूठी धारिणी के पास थी । वह उस अँगूठी को ब्राहमण विदूषक की रक्षार्थ दे देती है। विदूषक अँगूठी प्राप्त कर उसके द्वारा मालविका को बन्दीग्रह से छुडा लेता है। यह प्रासंगिक कथानक भी मुख्य कथा में सहायक है। अतः यही 'पताका' है। [2]

(4) पंचम अंक मे विदर्भराज माधवसेन की विजय का वृत्तान्त सुनने को प्राप्त हुआ हे। दूतों के साथ दो बालिकाएँ भी आई है। वे मालविका एवं कौशकी को पहचान लेती है। इसी समय मालविका के राजकुमारी होने का पूरा वृत्तान्त भी सुनने को मिल जाता है। इधर अशोक वृक्ष भी पुष्पित हो गया था। अत. महारानी धारिणी रानी इरावती की सम्मति लेकर मालविका को राजा अग्निमित्र को समर्पित कर देती है। इस प्रकार मालविका के राजकुमारी होने का यह छोटा सा कथानक [3] मुख्य कथानक का पूर्णरूप से उपकारक होने के कारण (प्रधान नायक की फलसिद्धि में पूर्ण सहायक होने के कारण) प्रकरी [4] की श्रेणी में आ जाता है।

(5) नाटक के अन्त में राजकुमारी मालविका तथा राजा अग्निमित्र पति-पत्नी के बन्धन मे बँध जाते है।

1- ध्रुवसिद्धि विण्णावेदि उदकुम्भविह्यणेण सप्यमुद्दिदअं किंपि कप्पिदव्वं । तं अण्णेसीअदु त्ति । (ध्रुवसिद्धिविज्ञापयति उदकुम्भविधानेन सर्पमुद्रितं किमपि कल्पयितव्यम् । तदन्विष्यतामिति)।

- मालविकाग्निमित्रम्, च0 अं0, पृ0 117

2- दशरूपक - 1/13 का उत्तरार्द्ध

3- धारिणी - कहं। राअदारिआ इअं। (कथम्। राजदारिकेयम्) ।

- मालविकाग्निमित्रम् पं0 अंक पृ0 163

4- दशरूपक 1/13 का उत्तरार्द्ध

इस प्रकार उनका स्थायी सम्बन्ध नाटक का मुख्य कार्य [1] है।

कार्यावस्थाओं का विवेचन

अवस्थाये नाटकीय कथावस्तु की गति को व्यक्त करती है। हम देखते है कि मानव का जीवन एक सीधी रेखा की भाँति अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँचा करता है। वह टेढा-मेढा चलता हुआ अपने उद्देश्य तक पहुँचा करता है। नाटक का इतिवृत्त भी मानव-जीवन का प्रतिबिम्ब ही है। अतः इतिवृत्त भी गतिशील हुआ ।

कार्यावस्थायें भी पाँच प्रकार की होती है:-

(1) आरम्भ, (2) यत्न, (3) प्राप्त्याशा, (4) नियताप्ति और (5) फलागम । 'मालविकाग्निमित्रम्' की कथावस्तु की गति में इन पाँचों को क्रमश देखना है -

(1) प्रथम अक के प्रारम्भ में विदूषक राजा की आज्ञा का बखान करता हुआ उन्हीं के शब्दों को दुहराता है। [2] इन शब्दों के द्वारा राजा अग्निमित्र में मालविका की प्राप्ति की इच्छा के द्वारा 'आरम्भ' [3] अवस्था व्यक्त की गयी है।

(2) तदनन्तर वह उसकी प्राप्ति के लिये विदूषक की सहायता द्वारा द्वितीय तथा चतुर्थ अंकों में निरन्तर प्रयत्नशील है। यहाँ 'प्रयत्न' [4] नामक अवस्था है।

1- नाट्यशास्त्र (भरतमुनि) 19/26

2- राजा - अपि कच्चिदुपेयोपायदर्शने व्यापृतं ते प्रज्ञाचक्षु.।

- 'मालविकाग्निमि:, प्र0 अं0, 20

3- दशरूपक, 1/20 का पूर्वार्द्ध

4- नाट्यशास्त्र - 19/9

4- साहित्यादर्पण - 6/7।

4- दशरूपक - 1/20 का उत्तरार्द्ध

(3) तृतीय अंक में रानी इरावती मालविका तथा राजा का मिलन देखकर अत्यन्त क्रोधित होती है तथा इसकी सूचना रानी धारिणी को जाकर देती है । रानी धारिणी मालविका को बन्दी बना लेती है तथा उसे कारावास का दण्ड देती हैं । उसकी रखवाली के लिये अपनी एक अत्यन्त विश्वस्त दासी को वहाँ नियुक्त करती है।[1] इस प्रकार राजा की लक्ष्यपूर्ति में विघ्न उपस्थित होता है, किन्तु चतुर्थ अंक में विदूषक के प्रयत्न से मालविका के मिलन की आशा पुनः हो जाती है । इस दृश्य को देखने से सामाजिक के हृदय में नायक अग्निमित्र की मालविकामिलन की सम्भावना हो जाती है । अतः यहाँ 'नियताप्ति'[2] नामक अवस्था है ।

(4) पंचम अंक के अन्त में नायक एवं नायिका स्थायी मिलन के बन्धन में बँध जाते हैं । इस प्रकार नायक को फल की प्राप्ति हो जाती है । यही 'फलागम'[3] नामक अवस्था है।

पञ्चसन्धियों का विवेचन

ये सन्धियाँ पाँच अर्थ प्रकृतियों एवं पाँच अवस्थाओं के मिश्रण से बनती है । ये भी पाँच हैं - (1) मुख, (2) प्रतिमुख, (3) गर्भ (4) विमर्श तथा (5) उपसंहृति अथवा निर्वहण संधि ।

(1) प्रथम अङ्क के प्रारम्भ सें लेकर अग्निमित्र द्वारा विदूषक को अपने मन्तव्य की पूर्ति के लिये जो आज्ञा प्रदान की गयी है, तक 'मुखसंधि'[4] है ।

1- 'मह अङ्गुलीअमुद्दिअं अदेक्खिअण मोत्तब्वा तुए हदासा मालविका वउलावलिआ अत्ति। (ममाङ्गुलीयकमुद्रिकामदृष्ट्वा न मोक्तव्या त्वया हताशा मालविका वकुलावलिका चेति।)
- मा0का0, च0 अं0, पृ0 110

2- नाट्यशास्त्र-19/11, साहित्यदर्पण - 6/72, दशरूपक - 1/21

3- नाट्यशास्त्र - 1/12, साहित्यदर्पण-6/73, दशरूपक-1/22

4- दशरूपक - 1/22-24, नाट्यशास्त्र - 19/37

(2) प्रथम अंड में वर्णित गणदास एवं हरदत्त के कलह वृतान्त से लेकर चतुर्थ अड्क्मे विदूषक द्वारा नागमुद्रा से अंकित अँगूठी प्राप्त कर लेने तक 'प्रतिमुख' [1] सन्धि है ।

(3) चतुर्थ अङ्क के अन्त में मालविका की कारावास-मुक्ति से लेकर इरावती द्वारा समुद्रगृह में पुनः राजा एवं मालविका का मिलन देखने तक 'गर्भ' [2] सन्धि है ।

(4) चतुर्थ अंक के अन्त में कुमारी वसुलक्ष्मी के बन्दर से डरकर घिग्घी बँध जाने के समाचार से लेकर पंचम अंक में मालविका का राजकुमारी के रूप में पूर्ण परिचय प्राप्त करने तक 'विमर्श' [3] सन्धि है ।

(5) मालविका वस्तुतः एक राजकुमारी है, ऐसा ज्ञात हो जाने से लेकर पचम अंक के अन्त तक 'निर्वहण' [4] संधि है।

कालिदास का द्वितीय नाटक 'विक्रमोर्वशीय' है, जिसमें पुरूरवा तथा उर्वशी के प्रेम का वर्णन है।

विक्रमोर्वशीय की मूलकथा

पुरूखा तथा उर्वशी की प्रेमकथा अत्यन्त प्राचीन है। ऋग्वेद में पुरूखा एवं उर्वशी का संवाद आता है। [5] ऋग्वेद के इस सम्वाद से सम्बन्धित सूक्त सन्दर्भ और कुछ ऋचाओं का स्पष्टीकरण

1- दशरूपक - 1/30 का उतरार्द्ध
नाटयशास्त्र - 19/40
साहित्यदर्पण - 6/76
2- दशरूपक - 1/36, नाट्यशास्त्र - 19/41
साहित्यदर्पण - 6/79
3- दशरूपक - 1/48
नाट्यशास्त्र - 19/43
4- दशरूपक - 1/34/5
नाट्यशास्त्र - 19/42
5- पृ0 61-62/8,9-डी0 कीथः दी संस्कृत ड्रामाः, पृ0 156

शतपथ ब्राहण में भी मिलता है । यह कथा निम्न है -

उर्वशी नाम की एक अप्सरा का प्रेम पुरूरवा से हो गया । वह कुछ समय तक पुरूरवा के सहवास में भी रही । प्रारम्भ में ही राजा पुरूरवा से उसने दो अभिसन्धान निश्चित कर ली थीं। प्रथम-यह कि उसके दोनों मेष (मेढे) निरन्तर उसके शयनागार में बँधे रहेगें तथा द्वितीय - यह कि पुरूरवा नग्नावस्था में उसके समक्ष कभी नहीं आयेगा । राजा ने इन दोनों ही शर्तो की स्वीकृति प्रदान कर दी थी । कुछ समय के व्यतीत हो जाने पर उर्वशी गर्भवती हुयी । उधर उर्वशी के चले जाने पर स्वर्ग सूना हो गया, अत. उसे वापस लाने के निमित गन्धर्वो ने एक उपाय सोचा और तदनुसार उन्होंने एक रात्रि को मेषा को ले जाकर मारना प्रारम्भ कर दिया । उनके कष्ट भरे उच्च स्वर को सुनकर उर्वशी बोली कि क्या मेरे इन प्रिय बच्चों की रक्षा करने वाला इधर कोई नहीं है । तब राजा पुरूरवा शीघ्रता के कारण नग्नावस्था में ही उनकी रक्षा के निमित्त दौड पड़े । गन्धर्व यह चाहते थे कि राजा उर्वशी को भली-भाँति दृष्टिगोचर हो जाये, अत· उन्होंने विद्युत का तीव्र प्रकाश उस ओर कर दिया । जब उर्वशी ने यह दृश्य देखा तो वह अपने अभिसन्धान के अनुसार राजा को छोडकर चलने लगी। उस समय राजा ने अनेक प्रकार से उसकी अनुनय-विनय की और कहा कि यदि वह चली गयी तो वह उसके प्रेम मे पागल होकर, इधर उधर भटक-भटक कर अपने प्राण त्याग देगा तथा अपना शरीर शृंगाल एवं कुत्तों को खिला देगा । इस पर उर्वशी ने उत्तर दिया कि हे पुरूरवा आप अपना सर्वनाश न करें तथा प्राण भी न खो दें । आपके शरीर को शृगाल तथा कुत्ते कुछ भी हानि न पँहुचावेगें, अतः आप लौट जाइये । स्त्रियों का प्रेम स्थिर नहीं होता । उनके हृदय शृंगाल के सदृश होते हैं। पुरूरवा में उर्वशी को राजा पर अत्यन्त दया आ जाती है और वह दया के वशीभूत होकर वर्ष के अन्त में एक रात भर उसके साथ रहने की प्रतिज्ञा करती है । इसके पश्चात् पुरूरवा ने गंधर्वो को सन्तुष्ट कर लिया तथा उनके कथनानुसार स्वर्गीय अग्नि को लाकर उसमें यज्ञ कर गन्धर्व रूप को प्राप्त कर लिया।

ऋग्वेद से सम्बन्धित शतपथ ब्राह्मण की यह कथा थोड़े से अन्तर के साथ 'मत्स्य-पुराण'[1], 'विष्णु-पुराण'[2] तथा भागवतपुराण [3] और हरिवंशपुराण [4] (महाभारत) में भी आयी है । उसमें ऐसा वर्णन आता है कि उर्वशी को मित्रावरूणों का शाप होने से मनुष्य लोक में निवास करना पड़ा।

इसके अतिरिक्त इसी कथा का कुछ विचित्र स्वरूप 'कथासरित्सागर [5] में भी आता है । इससे ज्ञात होता है कि अपने काल में विद्यमान 'बृहत्कथा' से कालिदास अवश्य ही परिचित रहे होगें । 'कथासरित्सागर' से यह ज्ञात होता है कि पुरूरवा विष्णु भक्त था । विष्णु ने उर्वशी को देने के लिये इन्द्र को आज्ञा दी थी । एक दिन राजा इन्द्र के साथ सभा में बैठा हुआ था कि रम्भा ने नृत्य में कुछ त्रुटि कर दी । इस पर राजा को हँसी आ गयी । यह देखकर नृत्याचार्य तुम्बुरू को क्रोध आ गया और उन्होंने राजा को उर्वशी से वियोग का शाप दे दिया । तदनन्तर तपश्चर्या द्वारा राजा ने विष्णु को सन्तुष्ट किया और उर्वशी को पुन. प्राप्त कर लिया ।

विक्रमोर्वशीय' नाटक का कथानक

प्रथम अङ्क

अप्सराओं के साथ उर्वशी शिवपूजन को समाप्त कर कुबेरभवन से आकाशमार्ग से निकल रही

1- मत्स्य-पुराण, अध्याय-25

2- विष्णुपुराण, अध्याय-4

3- भागवतपुराण, स्कन्ध 9, अध्याय 24

4- रूबिनः कालिदासः पृष्ठ-62

5- कथासरित्सागर, लम्बक-3

है । इतन मे केशी दैत्य उर्वशी को पकड़ रहता है । अप्सरायें रक्षार्थ आर्तनाद करती हैं।[1] सूर्योप्रस्थान से वापस लौट रहे राजा पुरूरवा आर्तनाद सुनकर अप्सराओं से रोने-चिल्लाने का कारण ज्ञात कर अप्सराओं को हेमकूट पर्वत पर उसकी प्रतीक्षा करने के लिये कहकर उर्वशी की रक्षा करने के लिये चले जाते हैं । राजा पुरूरवा उर्वशी को मुक्त कर हेमकूट पर्वत पर पँहुच जाता है । उर्वशी पुरूरवा के पराक्रम को देखकर उस पर आसक्त हो जाती है । अप्सरायें राजा को धन्यवाद देती हैं।[2] इतने मे गन्धर्वराज चित्ररथ आकर महेन्द्र की ओर से कृतज्ञता ज्ञापन कर उर्वशी को साथ लेकर महेन्द्र से मिलने के लिये निवेदन करता है, परन्तु राजा तदर्थ असमर्थता प्रकट करता है । उर्वशी स्वर्गलोक जाती हुयी पुन राजा के दर्शन करना चाहती है।[3] वह चित्रलेखा के साथ महेन्द्र लोक को चली जाती है तथा राजा अपनी राजधानी को लौट जाता है ।

1- उरूद्‌भवा नरसखस्य मुनेः सुरस्त्री -
कैलासनाथमनुसृत्य निवर्तमाना ।
बन्दीकृता विबुध शत्रुभिरर्धमार्गे
क्रन्दत्यतः करूणअप्सरां गणोऽयम् ।।
- 'विक्रमोर्वशीय', प्र0 अं0, पृ0 7

2- मेनका- (साशंसम्) सव्वहामहाराओ कप्पसद पुहावि
पालअन्ती होदु। (सर्वथा महाराज. कल्पशतं पृथिवीं पालयन् भवतु।)
- 'विक्रमोर्वशीय', प्र0अं0, पृ0 27

3- उर्वशी - (सस्पृहं राजानमवलोकयन्ती) अवि णाम पुणो वि उअआरिणं एदं पेक्खिस्सम् ।
(अपि नाम पुनरपि उपकारिणमेनं प्रेक्षिष्ये)
- 'विक्रमोर्वशीय', प्र0 अं0, पृ0 36

द्वितीय अङ्क

प्रवेशक द्वारा राजा के उर्वशी पर मुग्ध होने की सूचना दी जाती है । इधर राजमहल में राजा की अन्मनस्कता देखकर महाराज्ञी निपुणिका दासी को विदूषक के पास इसका कारण जानने के लिये भेजती है तथा चतुरता से राजा का उर्वशी पर आसक्त होना जान लेती है।[1] विदूशक राजा को मन बहलाने के लिये प्रमद वन को लिवा ले जाता है, वहीं चित्रलेखा के साथ उर्वशी आ जाती है तथा छिपकर विदूषक से आत्म-प्रेम-विषयक राजा के संल्लाप को सुनती है । उर्वशी भोजपत्र पर अपनी व्याकुल स्थिति लिखकर राजा के सामने फेंक देती है।[2] राजा प्रेम-पत्र पाकर प्रसन्न हो उठता है। उर्वशी चित्रलेखा सहित राजा के समक्ष आती है । राजा दोनों का स्वागत करता है । इतने में ही देवदूत की नभोवाणी सुनकर दोनों अप्सराएँ स्वर्गलोक को चल देती हैं । इसी अवसर पर देवी औशीनरी आ जाती है तथा वह पत्र उनके हाथ लग जाता है । वृद्ध रानी की राजा अनुनय-विनय करता है।[3] वह दासियों सहित वहाँ से राजभवन को वापस चली जाती है ।

1- चेटी - (स्वगतम्) उव्वादिदो मए भेओ भट्टिणो रहस्स-दुग्गस्स । (प्रकाशम्) किं दाव देवीए णिवेदमि ? (उत्पादितो मया भेदो भर्तृरहस्य दुर्गस्य । तत् किं तावत् देव्यै निवेदयामि?)

- 'विक्रमोर्वशीय', द्वि0 अ0, पृ0 43

2- उर्वशी - ता पहावमिम्मिदेण मुज्जवत्तेण लेहं संपादिअ अंतरा खिविधुं इस्सामि । (तत् प्रभावनिर्मितेन भूर्जपत्रे लेखं सम्पाद्यान्तरा क्षेप्तुमिच्छामि।)

- 'विक्रमोर्वशीय', द्वि0 अं0, पृ0 71

3- राजा - अपराधी नामाहं प्रसीद रम्भोरू विरभ संरम्भात्
सेव्यो जनश्च कुपितः कथं नु दासो निरपराधः

- 'विक्रमोर्वशीय', द्वि0 अं0, पृ0 94

तृतीय अङ्क

भरतमुनि के दो शिष्य गालव तथा पेलव विष्वम्भक द्वारा भरतमुनि द्वारा प्रदर्शित नाटक में लक्ष्मी का अभिन्य उर्वशी के करने उससे यह पूछे जाने पर कि त्रिभुवन में तुम्हें सर्वाधिक सुन्दर पुरूष कौन लगता है और उर्वशी द्वारा पुरूरवा का नाम लेने पर [1] भरतमुनि के उसे पृथ्वीलोक पर रहने का शाप देने की सूचना देते है, परन्तु इन्द्र उसे औरस पुत्र का सुख देखने पर्यन्त पृथ्वीलोक में रहने की आज्ञा देते है। [2] महारानी कञ्चुकी को मणिहर्म्य पर रोहिणी तथा चन्द्रमा के पूजन के लिये राजा को उपस्थित रहने के लिये सन्देश देकर भेजती हैं । वह परिजनों सहित मणिहर्म्य की दत पर पँहुच कर प्रियानुप्रसादन व्रत का संकल्प करती है कि आज से आर्यपुत्र जिस स्त्री पर आसक्त हों, उससे मैं भी प्रेमपूर्ण व्यवहार करूँगी। [3] इतने में चित्रलेखा सहित उर्वशी आ जाती है तथा महारानी के इस संकल्प को सुनकर प्रसन्न हो जाती है । रानी के राजभवन चले जाने पर सम्मुख आई उर्वशी को अपने आसन पर बिठला लेता है । चित्रलेखा के वापस लौट जाने के उपरान्त उर्वशी राजा के साथ

1- ताए पुरिसोत्तमेत्ति भणिदब्बे पुरूरवासि त्तिणिग्गदा वाणी ।
(तस्याः पुरूषोतम इति भणितव्ये पुरूरवसीति निर्गता वाणी।)
- 'विक्रमोर्वशीय', तृ0 अं0, पृ0 101

2- ता दाव तुम पुरूरवसं जहाकामं उवचिट्ठ जाव सो पडिदिट्ठसंतापो भोदि ति ।
(ततावद् त्वं पुरूरवसं यथाकाममुपतिष्ठस्व यावत्स परिदृष्टसन्तानो भवति-इति।)
- 'विक्रमोर्वशीय', तृ0 अं0, पृ0 102

3- देवी - अज्जपहुदि अज्जउत्तो जं इत्थिअं कामेदि जा अज्जउत्तं समागमप्पणइणी ताए सह अप्पदिबंधेण वत्तिदब्वं। (अद्यप्रभृति आर्यपुत्रो यां स्त्रियं कामयते, याऽर्यपुत्रसमागम-प्रणयिनी तया सहाप्रतिबन्धेन वर्तितव्यम् ।
- 'विक्रमोर्वशीय', तृ0 अं0, पृ0 131

शयन कक्ष को चली जाती है।[1]

चतुर्थ अङ्क

इसमे प्रवेशक द्वारा सहजन्या के चित्रलेखा से उसके दुखी रहने का करण पूछे जाने पर वह विहार के लिये गन्धमादन पर्वत पर राज सहित उर्वशी के जाने तथा मन्दाकिनी तट पर गन्धर्वबाला को खेलती देखकर राजा द्वारा अपलक निहारने से खिन्न होकर उर्वशी के कुमारवन को चले जाने एवं वहाँ शापवश उर्वशी के लतारूप में परिणत हो जाने की बात सूचित करती है।[2] राजा प्रिया विरह में विलाप करता है। वह विक्षिप्त सा होकर बादल को राक्षस मानकर फटकारता है । उस वन में मयूर, कोयल, हस, चक्रवाक, गजराज तथा मृगादि पशुओं एव पक्षियों से प्रियतमा का समाचार पूछता है। इतने में उसे संगमनीय मणि मिल जाती है । इसी मणि के प्रभाव से लता बनी हुयी उर्वशी पुनः अपने प्रकृत-रूप मे हो जाती है।[3] उर्वशी को देखकर राजा प्रसन्न हो उठता है । तदनन्तर उर्वशी सहित राजा प्रतिष्ठानपुर पहुँचता है ।

1- विदूषक - भो, सेविदा पदोस-रामणीआ चंदवादा ।
समओ खु दे वासधर-पवेसस्स ।
(भो । सेविताः प्रदोष - रमणीयाश्चन्द्रपादाः ।
समय. खलु ते वासगृहप्रवेशस्य।)
- 'विक्रमोर्वशीय', तृ0 अं0, पृ0 145

2- पवेसाणतरं च काणणोवतं - वति - लदा - भावेण परिणदं से रूवं प्रवेशानन्तरं च काननोपान्तवर्ति-लता-भावेन परिणतमस्या रूपम् ।
- 'विक्रमोर्वशीय', च0 अं0, पृ0 152

3- उर्वशी-अम्मो सङ्गमणीओ । अदो खु महाराएणं आलिंगिदिमेत्व पाकिदिथ्थम्हि संवुत्ता। (अहो सङ्गमनीय. । अतः खलु महाराजेन आलिङ्गतमात्रेव प्रकृतिस्थाऽस्मि संवृत्ता: ।)
- 'विक्रमोर्वशीय', च0 अं0 पृ0 215

पञ्चम अङ्क

प्रतिष्ठानपुर राजधानी में रहते हुये एक दिन राजा संगमस्नान के लिये जाता है । वहाँ दैवयोग से संगमनीय मणि को माँस समझकर गीध उठा ले जाता है । राजा नगर के पक्षिणों के निवासस्थानों पर मणि की खोज कराता है । इतने में कञ्चुकी राजा को बाण से बिंधकार मणि सहित गीध के गिरने का समाचार सुनाता है। [1] वह नामांकित बाण राजा के समक्ष रखता है । राजा बाण पर अंकित नाम पढकर जान लेता है कि यह उर्वशी पुत्र आयुष्कुमार का बाण है । पुरूरवा उर्वशी के पुत्र उत्पन्न होने की बात से नितान्त अनभिज्ञ होने के कारण आश्चर्य करता है । इतने में एक तापसी आयुष्कुमार को साथ लेकर राजा के पास आती है तथा कुमार के जनम लेते ही उर्वशी द्वारा उसे छोड दिये जाने का समाचार बतलाती है। [2] वह यह भी कहती है कि इस बालक के समस्त क्षत्रियोचित संस्कार च्यवन ऋषि द्वारा किये गये हैं । आज इसने एक गीध को मारकर आश्रम-विरूद्ध आचरण किया है । अतः महर्षि ने इसे उर्वशी को सौंपने के लिये भेजा है । तापसी यह कहकर पुरूरवा के समक्ष ही कुमार को उर्वशी को सौंपकर चली जाती है । उर्वशी रोती हुयी राजा से कहती

1- कुञ्चुकी - अनेन निर्मिन्नतनुः स बध्यो
बलेन ते मार्गणतां गतेन ।
प्राप्यायराधोचितमन्तरिक्षात्
समौलिरत्न· पति. पतत्री ।
- 'विक्रमोर्वशीय', पं0, अं0, 6 श्लोक

2- तापसी - ततो उवलध्ध-उत्तंणे भवअदा चवणेण अह
समादिट्ठा । णिज्जादेहि हथ्थणासं ति । ता
इच्छामि देवीं उव्वासिं पेक्खिदुं। (तत् उपलब्ध-
कृतान्तेन भगवता च्यवनेनाहं समादिष्टा । निर्यातय
हस्तन्यासमिति । तदिच्छामि देवीमुर्वशीं प्रेक्षितुम्।)
- 'विक्रमोर्वशीय', पं0 अ0, 237 पृ0

है कि अभिनय में मेरी त्रुटि जो जाने पर भरतमुनि ने मुझे भूलोक में रहने का शाप दे दिया था, किन्तु इन्द्र ने राजा पुरूरवा को पुत्र का मुख देखने तक धरती पर रहकर पुनः स्वर्गलोक को वापस आने का संशोधन कर दिया था । अतः पुत्र उत्पन्न होते ही मैने आपसे छिपाकर इसे महर्षि चयवन के आश्रम पर आर्या सत्यवती को सौंप दिया था । आज आपने पुत्र का मुँह देख लिया है, अतः मैं अब स्वर्ग वापस जा रही हूँ।[1] यह सुनकर खिन्न होकर राजा ने कहा कि तुम स्वर्ग को जाओ तथा मैं भी तुम्हारे पुत्र को राज्यभार सौंप कर वन को जा रहा हूँ । इसी समय नारद मुनि आकर राजा को इन्द्र का सन्देश सुनाते हैं कि देवासुर संग्राम में महेन्द्र को आपकी सहायता की अपेक्षा है, अतः आप शस्त्रत्याग न करें । उर्वशी जीवन पर्यन्त आपके पास बनी रहेगी । इस समाचार से पुरूरवा प्रसन्न हो जाते हैं । राजकुमार आयुष का राज्याभिषेक कर दिया जाता है।[2] भरत-वाक्य द्वारा नाटक समाप्त हो जाता है ।

1- उर्वशी - अज्ज पिदुणो आराहण-समत्थो
संकुतोति कलअंतीए णिज्जादिदो में दीहाऊ ।
ता एत्तिओ में महाराएण सवासो । (अद्य पितुराराधनसमर्थः संवृत्तः इति कल्पयन्त्या निर्यातितो मे दीर्घायुः तदेतावान्मे महाराजेन संवासः ।)

- 'विक्रमोर्वशीय', पंचम अंक, पृ0 248

2- नारद -

आयुषो यौवराज्यश्रीः स्मारयत्यात्मजस्य ते
अभिषिक्तं महासेनं सैनापत्ये मरूत्वता ।।

'विक्रमार्वशीय', 5/23

'विक्रमोर्वशीय' में कालिदास की प्रकरण-वक्रताऐं

'विक्रमोर्वशीय के कथानक पर विचार करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मूलकथा तो ऋग्वेद तथा शतपथ-ब्राह्मण से ही ली गयी होगी तथा 'वृहत्कथा' की भी दो एक बातों को कवि ने अपनी रचना 'विक्रमोर्वशीय' मे स्थान प्रदान किया गया । इसके अतिरिक्त कथावस्तु को आकर्षक एवं कलात्मक रूप प्रदान करने हेतु कुछ उनकी अपनी निजी कल्पनायें भी रही होंगी । उर्वशी को शाप लगने पर थोडे दिनों तक मर्त्यलोक में निवास करना पड़ा । उसकी शर्तों का पालन राजा न कर सका, अतः वह स्वर्ग को वापस चली गयी । यह वर्णन शतपथ एवं पुराणों में आया है । 'वृहत्कथा' में यह बतलाया गया है कि तुम्बरू के शाप के कारण दोनों का वियोग हुआ । 'विक्रमोर्वशीय' की कथावस्तु का निर्माण करते समय उपर्युक्त घटनाओं का कालिदास ने अपनी प्रकरण-वक्रताओं द्वारा मार्मिकता के साथ उपयोग किया है ।

प्रथम अङ्क में राजा पुरूरवा को जो उर्वशी का प्रथम दर्शन होता है [1] वह महाकवि की अपनी निजी प्रतिमा का परिणाम है । किसी भी कथानक में इस प्रकार का प्रसङ्ग नहीं आया है, परन्तु कवि ने इस प्रथम दर्शन के रम्य प्रसङ्ग को अत्यन्त मनोरम और अभिनव ढंग से चित्रित किया है।

1- राजा - (प्रकृतिस्थामुर्वशीं निर्वर्ण्यात्ममतम्) स्थाने खलु नारायणमृषिं विलोकयन्त्यस्तदूरुसम्भवामिमां विलोक्य व्रीडितः सर्वा अप्सरस इति । अथवा नेयं तपस्विनः सृष्टिर्भवितुमर्हति।

'विक्रमोर्वशीय', प्र0 अं0, पृ0 9

तृतीय अङ्क के प्रारम्भ में कवि ने भरतमुनि के द्वारा उर्वशी को दिये गये शाप का वर्णन, भरतमुनि ने दो शिष्यों के परस्पर वार्तालाप में किया है।[1] इससे यह कल्पना की जा सकती है कि इस प्रकार की कल्पना कवि को 'वृहत्कथा' में वर्णित तुम्बरू के शाप के आधार पर ही सूझी होगी। इसी अङ्क मे अभिशप्त एवं लज्जावनत उर्वशी को अभिनय के अन्त में जब इन्द्र ने देखा तो उन्होंने कहा कि तुम जिसे चाहती हो, वह राजा हमारा युद्ध मे सहायक है । हमे उसका प्रिय करना है। तुम यथेच्छ पुरूरवा के साथ रह सकती हो जब तक कि वह तुमसे उत्पन्न सन्तान को देख न ले।[2] यहाँ पर महाकवि कालिदास ने पुत्रदर्शन का अभिसन्धान प्रस्तुत किया है । शतपथ ब्राह्मण एवं पुराणों में वर्णित उर्वशी के अभिसन्धान नाटकीय कलात्मक-सौन्दर्य एवं शिष्टाचार की दृष्टि से उचित प्रतीत नहीं होते । इसी कारण कवि को उपर्युक्त पुत्रदर्शन की कल्पना करनी पड़ी होगी ।

चतुर्थ अङ्क में वर्णित 'कार्तिकस्वामी का नियम', उसके कारण उर्वशी का रूप परिवर्तन तथा पुरूरवा का शोक इत्यादि प्रसङ्ग तथा समस्त पंचम अंक ये कवि की स्वकीय कल्पना शक्ति के ही परिणाम हैं ।

1- जेण मम तुए उवदेसो लङ्घिदो तेन ण दे दिव्वं ठाणं धविस्सदि ति उवज्झाअस्स सआसादो सावो। (येन मम त्वयोपदेशो लङ्घितस्तेन न ते दिव्यं स्थानं भविष्यति इति उपाध्यायस्य सकाशत् शाप ।)

- 'विक्रमोर्वशीय' तृ0 अं0, पृ0 102

2- जस्सि बद्धभावासि तुमं, तस्स में रणसहाअस्स राएसिणो पिअ करणिज्जं । ता दाव तुमं पुरूरवासम् जहाकामं उवचिट्ठ जाव सो पडिदिट्ठसतापो भोदि ति । (यस्मिन् बद्धभावासि त्व, तस्य मे रणसहायस्य राजर्षेः प्रियं करणीयम् । ततावत् त्व पुरूरवारा यथाकाममुपतिष्ठस्व यावत्स परिदृष्टिसन्तानो भवति इति ।

- 'विक्रमोर्वशीय', तृ0 अं0, पृ0 102

पञ्चम अङ्क में उर्वशी का पुत्र-दर्शन प्राप्त होता है। इन्द्र के आदेशानुसार पुत्र-दर्शन के पश्चात् ही उर्वशी को चला जाना चाहिये था। यदि उर्वशी स्वर्ग को चली गयी होती, तो राजा भी तपश्चर्या हेतु आश्रम चले गये होते।[1] ऐसी स्थिति में भारतीय नाट्यशास्त्रकारों की प्राचीन परम्परा के अनुसार नाटक सुखान्त न होकर दुःखान्त ही हो जाता। परन्तु महाकवि को प्राचीन परम्परा के अनुसार नाटक को सुखान्त ही बनाना था अतः उन्होंने अंक के अन्त में नारद के द्वारा इन्द्र के नूतन सन्देश को राजा के समीप भिजवाने की नई कल्पना की है।

'विक्रमोर्वशीय' की कथावस्तु में अर्थ-प्रकृतियाँ

इस नाटक की मूलकथा को 'मिश्र'[2] कहना अधिक उपयुक्त है, इसका कुछ भाग ऐतिहासिक तथा कुछ कविकल्पित है।

(1) 'विक्रमोर्वशीय' के प्रथम अङ्क में आता है कि राजा पुरूरवा केशी नामक राक्षक द्वारा बन्दी बनाकर ले जायी जाती हुई उर्वशी को जब छुडाकर ले आये, तब वह मूर्च्छावस्था में थी । उसकी सखी चित्रलेखा ने उसे आश्वस्त कर मूर्च्छाविहीन किया। चैतन्यावस्था को प्राप्त हुयी उस उर्वशी के लौकिक सौनदर्य का देखकर राजा का हृदय मोहित हो गया[3] उर्वशी भी राजा पर आसक्त हो गयी। हेमकूट पर जब राजा का रथ उतर रहा था, रथ के पहिये

1- अहमपि तव सूनावापुषि न्यस्तराज्यो ।
विरचित - मृगयूथान्याश्रमिष्ये वनानि ।।

- 'विक्रमोर्वशीय', 5/17

2- मिश्रं च संकारात्ताभ्यां दिव्यमर्त्यादिभेदतः ।

- 'दशरूपक' 1/16 का पूर्वार्द्ध

3- मुञ्चति न तावदस्या भयकम्पः कुसुमकोपलं हृदयम् सिचयान्तेन कथन्चित् स्तनमध्योच्छवासिना कथितः ।।

निम्नोन्नत भूमि पर चलने से रथ को हिला रहे थे, जिसके कारण राजा का कन्धा उर्वशी के कन्धे से टकरा गया।[1] इस स्पर्श ने उनके प्रेम के लिये अग्नि में घृताहुति का कार्य किया।

यहाँ राजा के हृदय मे उर्वशी के प्रति तथा उर्वशी के हृदय में राजा के प्रति प्रेमाङ्कुर उत्पन्न हो गया है। इसका कारण परस्पर एक-दूसरे का दर्शन तथा स्पर्श ही है। यही कथावस्तु का 'बीज' है। इसी बीज ने विकसित होकर कथानक को जन्म दिया है।

(2) द्वितीय अङ्क के अन्त में राजा पुरूरवा की पत्नी औशीनरी आती हे तथा लता में छिपकर राजा एवं विदूषक को देखती है। उसी समय राजा के हाथ से उर्वशी द्वारा प्रेषित भूर्जपत्र उड़ जाता है तथा वह औशीनरी के हाथ पड़ जाता है।[2] उसे पढकर औशीनरी को दुख होता है तथा क्रोध मे आकर वह राजा की ओर चल देती है। इधर राजा भूर्जपत्र के लिये व्याकुल है तथा इतस्तत. खोज रहा है। इतने में औशीनरी वहाँ पहुँच जाती है और भूर्जपत्र राजा को देते हुये कहती है कि आर्यपुत्र, अधिक उद्विग्न न हों, यही तो है वह भूर्जपत्र? ऐसा कहकर राजा के हाथ में भूर्जपत्र दे देती है। राजा के मन में यह आशंका उत्पन्न हो गयी कि देवी ने सब बातें जान ली है। अत· राजा देवी को प्रसन्न करने हेतु प्रत्येक उपाय करता है। यहाँ तक कि उसके पैरों पर गिर पड़ता है, किन्तु रानी उसकी एक न सुनकर

1- यदिदं रथ - सङ्क्षोभादङ्गेनाङ्गममायतेक्षणया ।
स्पृष्ट सरोमकण्टकमङ्कुरितं मनसिजेनेव ।।

- 'विक्रमोर्वशीय', 1/13

2- देवी - (परिक्रम्य पुरस्तादवलोक्य च) णिउणिए । किं णु एदं वत्तं णवचीअरं विअ इदो दक्खिणमारूदेण आणीअदि? (निपुणिके। किं नु एतत् पत्रं नवचीवरमिवेता दक्षिणमारूतेनानीयते।)

उसी क्रोधावस्था मे वहाँ से चली जाती है।[1]

मुख्य कथानक के अन्तराल मे इस प्रकार की घटना आ जाने से मुख्य कथानक की गति अवरूद्ध हो जाती है और फिर तृतीय अड्क में उर्वशी राजा के समीप आकर 'जयतु जयतु महाराजः' कहती है। तब पुनः कथानक की गति यथापूर्व हो जाती है। यही 'बिन्दु' नामक अर्थ-प्रकृति है कि जिसके द्वारा विच्छिन्न कथावस्तु की गति पुन. प्रारम्भ हो जाती है।

(3) चतुर्थ अड्क में राजा एव उर्वशी का विहारार्थ गन्धमादन पर्वत पर जाना, वहाँ राजा द्वारा बालुकारिश मे एक गन्धर्व वाला को देखने से क्रोधित हुयी उर्वशी का चला जाना और लता हो जाना तथा साधु द्वारा यत्न प्राप्त करके उसके स्पर्श से लता से पुनः उर्वशी के स्वरूप प्राप्त कर लेने का प्रासगिक कथानक आता है।[2] इस कथानक द्वारा मुख्य कथानक का उपहार किया गया है। अत· यह प्रासंगिक कथानक 'पताका' कहा जा सकता है।

(4) पचम अक से नारद इन्द्र का सन्देश लेकर आते है तथा उस कथानक से पुरूरवा एवं उर्वशी का शीघ्र ही विच्छेद हो जाने का भय समाप्त हो जाता है और स्थायी मिलन का निश्चय हो जाता है। यह छाटा सा प्रासंगिक कथाश मुख्य कथानक का अत्यन्त उपकारक है। अत. यही 'प्रकरी' है।

1- राजा -
अपराधी नामाहं प्रसीद रम्भोरू विरम सरम्भात् सेव्यो जनञ्च कुपितः कथं नु दासो निरपराध. ।।

- 'विक्रमोर्वशीय, 2/20

2- उर्वशी - अम्भो सड्मणीओं । अदो खु महाराएण आलिंगिदमेतव्व पकिदिथ्थम्हि सकुता ।
(अहो सड्मनीयः । अत. खलु महाराजेन आलिड्तिमात्रेव प्रकृतिस्थाऽस्मि संवृत्ता · ।)

- 'विक्रमोवशीय', च0 उ0, पृ0 215

(5) नाटक के अन्त मे राजा पुरूरवा को उर्वशी का आजीवन सहधर्मिणी के रूप में निवास प्राप्त हो जाता है। यही मुख्य कथानक की 'कार्य' नामक अर्थप्रकृति है।

'विक्रमोर्वशीय' में कार्यावस्थायें

(1) द्वितीय अक के प्रारम्भ में राजा द्वारा उर्वशी की प्राप्ति की इच्छा का बखान विदूषक से किया जाता है।[1] यही 'आरम्भ' नामक अवस्था है।

(2) द्वितीय अड्क मे ही राजा उसकी प्राप्ति के लियशे प्रयत्नशील है। वह प्रमदवन में जाकर बैठता है, जहाँ भूर्जपत्र पर लिखित उर्वशी उसके समीप आ जाती है, किन्तु चतुर्थ अड्क मे पुन. लता के रूप मे परिणत हो जाती है। किन्तु उसके लता रूप मे परिणत हो जाने का भ्रम राजा को नहीं है। अत वह उसे प्राप्त करने के लिए अत्यधिक प्रयत्नशील है। द्वितीय तथा चतुर्थ अको मे राजा उर्वशी की प्राप्ति के लिये पूर्णरूपेण प्रयत्नशील है। यहाँ 'प्रयत्न' नामक अवस्था है।

(3) द्वितीय अड्क के अन्त मे तथा चतुर्थ अक में विघ्न उपस्थित होते है। किन्तु तृतीय अंक के वातावरण से तथा चतुर्थ अंक में साधु द्वारा रत्न की प्राप्ति होने से सामाजिक को राजा पुरूरवा की उर्वशी प्राप्ति की संभावना हो जाती है, यही 'प्राप्त्याशा' नामक अवस्था है।

(4) चतुर्थ अड्क के अन्त में साधु से प्रिय को मिलाने वाले रत्न की प्राप्ति हो भी जाती है। अतः यहाँ 'नियताप्ति' नामक अवस्था है।

1- आदर्शनात् प्रविष्टा सा मे सुरलोकसुन्दरी हृदयम् ।
बाणेन मकरकेतोः कृतमार्गमबन्ध्यपातेन ।।

- 'विक्रमोर्वशीय', 2/2

(5) पाँचवे अङ्क के अन्त में नारद द्वारा इन्द्र का सन्देश प्राप्त करने पर नायक को उर्वशी के आजीवन साथ रहने रूप फल की प्राप्ति हो जाती है। यहाँ 'फलागम' नामक अवस्था है।

पञ्चसन्धियाँ

(1) 'विक्रमोर्वशीय' के प्रथम अङ्क से लेकर द्वितीय अङ्क में राजा द्वारा प्रमदवन जाने के स्थल तक - 'मुखसन्धि' है।

(2) तदन्तर तृतीय अङ्क में उर्वशी के स्वयं आगमन से पूर्व तक 'प्रतिमुख' सन्धि है।

(3) चतुर्थ अङ्क में प्रारम्भ से लेकर रत्न प्राप्ति के पूर्व तक गर्भ सन्धि है।

(4) तत्पश्चात् (चतुर्थ अंक के अन्त से) पंचम अंक में नारद जी द्वारा इन्द्र के सन्देश को जताने तक 'विमर्श' सन्धि है।

(5) तदनन्तर पंचम अंक के अन्त तक 'निर्वहण' सन्धि है।

महाकवि कालिदास ने अपने 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' नाटक का कथानक महाभारत [1] के आदिपर्व में वर्णित शकुन्तलोपाख्यान से ग्रहण किया है। अभिज्ञानशाकुन्तल के कथानक का मूल आधार महाभारत है। महाभारत के आदिपर्व 69 वें अध्याय से 74 वें अध्याय तक 6 अध्यायों के शकुन्तलोपाख्यान में राजा दुष्यन्त तथा महर्षि कण्व की पुत्री शकुन्तला के कथानक का वर्णन है। पञ्चपुराण [2] के स्वर्ग खण्ड में भी दुष्यन्त और शकुन्तला की कथा लिखी गयी है। किन्तु पञ्चपुराण की कथा अपेक्षा महाभारत

1- महाभारत - आदिपर्व (सम्भव पर्वणि) अ0 69-74

2- पञ्चपुराण - स्वर्ग खण्ड - अध्याय 1/5

का कथानक प्राचीन, सीधा-सादा तथा स्वाभाविक प्रतीत होता है। कविवर कालिदास ने महाभारत के सीधे-सादे आख्यान को अपनी कला से परिष्कृत करके नया सा रूप दे दिया है। उन्होंने अपनी उद्भावनाओं व नाटकीय तत्वों से उसमे मनोहरता ला दी है।

पञ्चपुराण की कथा में 'महाभारत' तथा 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्' का मिश्रण है। समालोचकों का कहना है कि अभिज्ञानशाकुन्तल के अशो को जोड़-जोड़कर पञ्चपुराण की कथा बनयी गयी। इसके अन्त का भाग कालिदास के शाकुन्तल का सार-मात्र है। यह कथा 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' से लेकर अपनी शैली में लिख दी गयी है। अत, पञ्चपुराण का अधिकांश बाद का रचा प्रतीत होता है। इस प्रकार, अभिज्ञानशाकुन्तल के कथानक का आधार महाभारत मानना अधिक संगत है।

महाभारत के आख्यान का संक्षेप

महाभारत के आदिपर्व में वर्णित शकुन्तलोपाख्यान का सार इस प्रकार है - एक बार चन्द्रवंशी राजा दुष्यन्त शिकार खेलते-खेलते कुलपतिकण्व के आश्रम मे जा पहुँचे।[1] परन्तु उस सयम महर्षि कण्व आश्रम मे उपस्थित नहीं थे, वे फल लाने के लिये वन में गये हुये थे। उनकी अनुपस्थिति में उनकी

1- प्रेक्षमाणो वनं तत् तु सुप्रहृष्टविहङ्गमम् ।
आश्रमप्रवरं रम्यं ददर्श च मनोरमम् ।।

नानावृक्षसमाकीर्णं सम्प्रज्वलितपावकम् ।
तं तदाप्रतिमं श्रीमानाश्रमं प्रत्यपूजयत ।।

- महाभारत, सम्भव पर्व, अ0 - 7, 18-19

पोष्यपुत्री शकुन्तला राजा का स्वागत करती है।[1] उसके अपूर्व सौन्दर्य का अवलोकन कर राजा दुष्यन्त के मन में काम भी भावना अङ्कुरित हो उठती है। उनके पूछने पर उसने विश्वामित्र से अपना उत्पत्ति वृत्तान्त कह सुनाया[2] जब राजा को यह मालूम हुआ कि वह क्षत्रिय कन्या है, तब उन्होंने उसके प्रति अपना प्रेम व्यक्त किया और प्रलोभनों के साथ विवाह का प्रस्ताव रखा। इस पर शकुन्तला ने शर्त रखी कि आपके बाद मेरे पुत्र को ही राजसिंहासन मिलना चाहिये।[3] राजा यह शर्त स्वीकार कर लेता है, परिणामतः दोनों गान्धर्व विधि से प्रणय-सूत्र में आबद्ध हो जाते है। राजा ने उसका पाणिग्रहण कर उसके साथ सहवास किया, जिससे वह गर्भवती हो गयी। राजा उसके साथ कुछ देर रहा और उसे आश्वासन देकर, कि मैं नगर पहुँचते ही तुम्हे ले जाने के लिये किसी विश्वासपात्र व्यक्ति को भेजूँगा, हस्तिनापुर वापस लौट

1- सा तं दृष्टवैव राजानं दुष्यन्तमसितेक्षणा ।
विस्पष्टं मधुरां वाचं साब्रवीज्जनमेजय ।।

स्वागतं त इति क्षिप्रमुवाच प्रतिपूज्य च ।
आसनेनार्चयित्वा च पाद्येनार्घ्येण चैव हि ।।
पप्रच्छानामयं राजन् कुशलु च नराधिपम् ।

- महाभारत, सम्भव पर्व, अ0 77, 4-5

2- एतदाचष्ट पृष्ट· सन् मम जन्म महर्षये ।
सुतां कण्वस्य मामेवं विद्धि त्वं मनुजाधिय ।।

कण्वं हि पितरं मन्ये स्वमजानती ।
इति ते कथितं राजन् यथावृत्तं श्रुतं मया ।।

- महाभारत, अ0 73, 18-19

3- सत्यं मे प्रतिजानीहि यथा वक्षाम्यहं रहः ।
मयि जायेत य· पुत्रः स भवेत् त्वदनन्तरः ।।

युवराजो महाराज सत्येमेतद्ब्रवीमि ते ।
यद्येतदेवं दुष्यन्त अस्तु मे सङ्गमस्त्वया ।।

- महाभारत, 73 अ0, 16-17

आता है। मार्ग में वह सोचता है कि ऋषि की आज्ञा के बिना मैंने उसकी कन्या का पाणिग्रहण कर लिया है, जब यह समाचार उन्हें मालूम होगा, न जाने वह क्या करेगें?

राजा के चले जाने के बाद महर्षि कण्व आश्रम में आये और उन्होंने अपने तपोबल से दुष्यन्त के साथ शकुन्तला के गान्धर्व विवाह का वृत्तान्त जान लिया और उस पर अपनी स्वीकृति दे दी है।[1] इस घटना के बाद शकुन्तला को एक पुत्र पैदा हुआ, जिसका विधिवत् जातकर्म आदि संस्कार कण्वजी ने किया और शिशु का पालन-पोषण किया। 6 वर्ष की अवस्था मे ही उस बालक में बल और पराक्रम स्पष्ट दिखायी देने लगे। वह शेर के बच्चों को पकड़-पकड़कर उनके साथ खेलता था, उनका दाँत गिनता था और बलपूर्वक वन्यपशुओं को पकडकर उन्हें पेडों में बाँध देता था। इस अद्‌भुत पराक्रम को देशकर ऋषि ने उसका नाम सर्वदमन रख दिया। इस प्रकार नौ वर्ष के काल तक शकुन्तला तपोवन में रही। उसे तपोवन में रखना ऋषि को उचित नहीं प्रतीत हुआ। अतः वे पुत्र सहित शकुन्तला को पपस्वियों के साथ राजा के पास हस्तिनापुर भेज देते है।[2]

जब शकुन्तला राजा के सामने पँहुचती है, तो राजा पहचानते हुये भी कह देता है कि मैं तुम्हें नहीं जानता। यह पुत्र मेरा नही है, तुम स्वतन्त्र हो, जहाँ भी चाहे जाओं।[3]

1- विज्ञायाथ च तां कण्वो दिव्यज्ञानो महातपाः ।
उवाच भगवान प्रीतः पश्यन् दिव्येन चक्षुषा ।।

- महाभारत, अ0 73, 25

2- नारीणां चिरवासो हि बान्धवेषु न रोचते ।
कीर्तिचारित्रधर्मघ्नस्तस्मान्नयत मा चिरम् ।।

- महाभारत, अ0 74, 12

3- धर्मकामार्थसम्बन्धं न स्मरामि त्वया सह ।
गच्छ वा तिष्ठ वा कामं यद् वापीच्छसि तत् कुरू ।।

- महाभारत, अ0 74, 20

राजा की बात सुनकर शकुन्तला अवाक् रह गयी । उसने सत्य और धर्म की दुहाई दी, किन्तु राजा ने एक न मानी । अन्त में निराश होकर वह लौटने लगती है । इतने में आकाशवाणी होती है - राजन् । शकुन्तला सत्य कहती है यह तुम्हारी भार्या है और यह सर्वदमन तुम्हारा ही पुत्र है । तुम इन्हें रख लो और धर्मपूर्वक इनका भरण-पोषण करो।[1] इस आकाशवाणी को सुनकर पुरोहित तथा मन्त्रियों से सवाल कर राजा ने उन दोनों को अपना लिया । इस प्रकार आकाशवाणी के द्वारा देवताओं की स्वीकृति मिल जाने पर शकुन्तला निर्दोष सिद्ध हो गयी । बाद में शकुन्तला को पटरानी पद पर प्रतिष्ठित करता है । सर्वदमन का भरत नाम रखकर युवराज पद पर आसीन कर देता है।[2]

पदम् पुराण के कथानक का सारांश

पदम्पुराण मे भी राजा दुष्यन्त के द्वारा गान्धर्व-विवाह तक की कथा वैसी ही है जैसी महाभारत में । अन्तर केवल इतना ही है कि महाभारत के अनुसार शकुन्तला ने अपने जन्म की कथा

1- भस्त्रा माता पितु पित्रो येन जातः स व स. ।
भरस्व पुत्रं दुष्यन्त मावमंक्स्थाः शकुन्तलाम् ।।
सर्वेभ्यो ह्यङ्गमङ्गेभ्य. साक्षादुत्पद्यते सुतः ।
आत्मा चैष सुतो नाम तथैव तव पौरव ।।

- महाभारत, अ0 74ण 220

2- ततो ग्रमहिषीं कृत्वा सर्वाभरणभूषिताम् ।
ब्राह्मणेभ्यो धनं दत्वा सैनिकानां च भूपतिः ।।
दुष्यन्तस्तु तदा राजा पुत्र शकुन्तलं तदा ।
भरतं नामतः कृत्वा यौवराज्येऽयषेचयत् ।।

- महाभारत, अ0 74, 126

उसकी सखी प्रियम्वदा ने बतायी है । महाभारत के अनुसार राजा ने शकुन्तला को अपना कोई अभिज्ञान नहीं दिया है, परन्तु पद्मपुराण के अनुसार जाते समय राजा ने शकुन्तला को अपनी अँगूठी दे दी है। पुन पद्मपुराणके अनुसार सात माह का गर्भ होने तक शकुन्तला महर्षि कण्व के तपोवन में ही रही, जबकि अभिज्ञानशाकुनतल नाटक के अनुसार कुलपति कण्व को दुष्यन्त के साथ शकुन्तला का प्रेम-सम्बन्ध और गान्धर्व-विवाह एवं गर्भवती हो जाने का पता लगतेही उन्होंने तत्काल ही उसे राजा के पास भेज दिया ।

पद्मपुराण में भी राजा के पास जब शकुन्तला हस्तिनापुर जाने लगी तो उसके साथ शार्ङख, शारद्वत तथा गौतमी के साथ प्रियम्बदा भी जाती है । मार्ग में सरस्वती नदी में स्नान करते समय अँगूठी को शकुन्तला ने प्रियम्वदा को दे दिया । वह अँगूठी प्रियम्वदा के हाथ से गिर गयी । उसने भय के कारण यह बात प्रियम्वदा से नहीं बतायी और शकुन्तला भी उससे पूछना भूल गयी । राजा के पास पहुँचने पर जब उनको विश्वास दिलाने के निमित आवश्यकता पड़ी, तब शकुन्तला ने प्रियम्वदा से अँगूठी माँगी । प्रियम्वदा ने धीरे से उसके कान मे कहा कि वह तो नदी में गिर गयी । यह सुनकर शकुन्तला बेहोश हो गयी । इसके अतिरिक्त पद्मपुराण का कथानक अभिज्ञानशाकुन्तल के समान ही है । इस प्रकार महाभारत तथा पद्मपुराण के कथानक मे अन्तर दिखाई पड़ता है, किन्तु पद्मपुराण की कथा में महाभारत तथा अभिज्ञानशाकुन्तल का मिश्रण है । इस आधार पर कहा जाता है कि यह कथा शकुन्तला से लेकर उसे अपनी शैली में लिख ली गयी है ।

'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' का कथानक

नाटक के आरम्भ में मङ्गलाचरण के बाद सूत्रधार अपनी पत्नी नटी से कहता है कि आर्ये! कविवर कालिदास द्वारा रचित "अभिनव 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' नामक नाटक का अभिनव करना है

वह नटी से कोई गीत गाने को कहता है । नटी के गाने पर सूत्रधार कहता है कि तुम्हारे गीत ने मेरे हृदय को इस प्रकार आकृष्ट कर लिया है जैसे शिकारी राजा दुष्यन्त को मृग ने महर्षि कण्व के आश्रम की ओर खींच लिया है।[1] इसके बाद दो वैखानस ब्रह्मचारी राजा के मृग को मारने से रोकते है । राजा धनुष उतार देते हैं । सामने महर्षि कण्व का पुनीत आश्रम है । राजा विनीत भाव से आश्रम में प्रवेश करते हैं । प्रवेश करते समय शकुन की सूचना पर राजा कहते हैं - यह तो आश्रम का स्थान है, पर मेरी दाहिनी भुजा फड़क रही है । यहाँ इसका फल कैसे संभव होगा, या हो भी सकता है, क्योंकि होनी के द्वार सर्वत्र होते है।[2] भीतर जाकर राजा ने सखियों के साथ वृक्षों में जल देती सुन्दरी शकुन्तला को देखा । बातचीत के प्रसङ्ग मे उन्हे सखियों से पता चला कि यह शकुन्तला मेनका अप्सरा व राजर्षि विश्वामित्र की पुत्री है । अनन्तर दोनों एक-दूसरे के प्रति आकृष्ट होते हैं । इस बीच एक जंगली हाथी के उत्पात से भयभीत होकर वे मुनि कन्यायें अपने आश्रम में जाने को उद्यत हो जाती हैं । वे अपने निवास पर चली जाती हैं, शकुन्तला घूम-घूमकर राजा को देखती हुयी रूकती जाती है।[3] राजा दुष्यन्त आश्रम की रक्षा के लिये बैढते है और शकुन्तला के प्रति आकृष्ट होकर अपनी राजधानी में जाना स्थगित कर देते हैं ।

1- तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृत.।
एष राजेव दुष्यन्त: सारङ्गेणातिरहंसा ।।

- 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्', 1/5

2- शान्तमिदभाश्रमपदं स्फुरति च बाहु: कुतः फलमिहास्य अथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र ।।

- 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' 1/16

3- शकुन्तला - अणसूये, अहिणवकुससूईए परिक्खदं मे चलणं । कुरवअसाहापरिलग्गं च वक्कलं। दाव परिपालेघ मं जाव णं मोआवेमि । (अनसूये, अभिनवकुशसूच्या परिक्षतं में चरणम्। कुरवकशाखापरिलग्नं च वल्कलं । तावत् परिपालयत मां यावदेतन्मोचयामि।)

- 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' प्र0 अं0, पृ0 73

द्वितीय अङ्क

आलसी विदूषक आखेट से परेशान होकर उसके दोषों का उद्‌घाटन करते हुये कहता है - दोपहर के समय भी कड़ी धूप में वृक्षों की विरल छाया में इस वन से उस वन में यह मृग, यह सूकर, यह शर्दूल कहकर दौडना पडता है।[1] वह कहता है कि राजा ने किसी तापसी शकुन्तला नामक कन्या पर मुग्ध होकर नगर में जाने की चर्चा भी त्याग दी है अतः बड़ा कष्ट है । वह राजा से अंग जकड़ने का नाटक कर आखेट से विश्राम चाहता है । राजा भी सेनापति को आखेट बन्द कर देने का आदेश देते हैं । आश्रम में यज्ञ के राक्षस उपद्रव करते हैं । तपस्वियों की प्रार्थना पर राजा यज्ञ-रक्षा के निमित वहाँ रूक जाते हैं ।[2] वह प्रवृत्तपारण उपवास व्रत की समाप्ति पर माँ के बुलाने पर भी राजधानी न जाकर पुत्र के समान माने गये अपने मित्र विदूषक को ही सेवा के साथ वापस भेज देते हैं।[3]

1- विदूषकः - (निश्वस्य) अअं मिओ अअं वराहो अअं सद्दूलो ति ------ पिज्जन्ति गिरिणइसलिलाइ । (अयं मृगः अयं वराह अय शर्दूल इति ----- पीयन्ते गिरिणदीसलिलानि।)

- 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' द्वि0 अ0

2- राजा-सखे। त्वमम्बमा पुत्र इति प्रतिगृहीतः। अतो भवानितः प्रतिनिवृत्य तपस्विकार्य-व्यग्रमानसं मामावेद्य तत्रभवतीनां पुत्रकृत्यमनुष्ठातुमर्हति ।

- 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' द्वि0 अं0, पृ0 218

3- राजा - क्षामक्षामकपोलमाननमुरः काठिन्यमुक्तस्तनं ।
मध्यः कलान्ततर. प्रकामविनतावंसौ छविः पाण्डुरा ।।
शोच्या च प्रियदर्शना च मदनक्लिष्टेयमालक्ष्यते ।
पत्राणामिव शोषणेन मरूता स्पृष्टा लता माधवी ।।

- 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' 3/7

तृतीय अङ्क

हाथ में कुश लिये हुये यजमान का एक शिष्य कहता है कि राजा दुष्यन्त के तपोवन में प्रवेश करने मात्र से ही सब यज्ञ कर्म सम्पन्न हो गये हैं । राजा दुष्यन्त यज्ञ-रक्षा कार्य से निवृत्त होकर मुनियों की अनुमति से मालिनी नदी के किनारे वेतसनतामण्डप की ओर जाते हैं । वहाँ उसे शकुन्तला व उसकी दोनों सखियाँ मिल जाती हैं । राजा दुष्यन्त और शकुन्तला दोनों परस्परावलोकजन्य कामपीडा से व्यथित होकर दुर्बल हो गये हैं।[1] सखियाँ शकुन्तला के रोग का कारण दुष्यन्त से प्रेम जानकर उससे नलिनीदत पर प्रेमपत्र लिखवाती है । उस पत्र में शकुन्तला अपनी विरह वेदना वर्णित करती हैं । लताओं की ओट में छिपा दुष्यन्त उचित अवसर समझकर वहाँ प्रकट हो जाता है । सखियाँ उन राजा दुष्यन्त का स्वागत कर कहती हैं कि आपके कारण ही हमारी सखी इस अवस्था में पँहुच गयी है अतः आप कुछ उपाय करें जिससे कि यह बन्धुजनों के लिये शोचनीय न हो । इस प्रकार कहकर एक मृग के बच्चे को मिलाने के बहाने लता मण्डप से बाहर चली जाती है । राजा शकुन्तला को रोककर अपने अभिलषित मनोरथ को सफल करते हुये आनन्द का अनुभव करने लगे।[2]

1- प्रियम्वदा - ण सो राएसि इमस्सिं सिणिद्धदिट्ठिए सूइदाहिलासो इमाइं दिअहाइं पज्जाअरकिसो लक्खीआदि (ननु- स राजर्षिरेतस्यां स्निग्धदृष्ट्या सूचिताभिलाषं एतान्दिवसान् प्रजागरकृशो लक्ष्यते ।

- 'अभिज्ञानशाकुन्तलम', तृ0 अं0, पृ0 140

2- अपरिक्षतकोमलस्य यावत् कुसुमस्येव नवस्य षट्पदेन ।
अधरस्य पिपासता मया ते सदयं सुन्दरि गृह्यतेरसोऽस्य ।।

इतने में शकुन्तला को पुकारती गौतमी वहाँ आ जाती है और उसकी शुश्रूसा के लिये उसे साथ ले जाती है। राजा प्रिया परिमुक्त लतामण्डप में बडी खिन्नता से कुछ देर बिताकर यज्ञ कर्म में सलंग्न ऋषियों के सन्याकालीन निशाचरों के भय को दूर करने के लिये प्रस्थित हो जाते है। [1]

चतुर्थ अड्क

पुष्प तोड़ती हुयी प्रियम्वदा और अनसूया से पता चलता है कि राजा दुष्यन्त शकुन्तला के साथ गान्धर्व-विवाह करके और यज्ञ-रक्षा का कार्य समाप्त करक अपनी राजधानी को चला गया। इधर शकुन्तला उसके विरह मे रात-दिन चिन्तन करती हुयी उनके दूत की प्रतीक्षा कर रही है।

एक दिन प्रसिद्ध क्रोधी दुर्वासा ऋषि भिक्षा के लिये आश्रम में आये। उनके आवाज देने पर शकुन्तला कुछ नहीं सुन पाती अतः वे क्रोध में उसे शाप दे देते है कि तू जिस पुरूष की चिन्ता में इस तरह मगन है कि मेरी बात नहीं सुन रही, वह पुरूष स्मरण दिलाने पर भी तुझे स्मरण नहीं करेगा। [2] प्रियम्वदा के क्षमायाचन व अनुनय-विनय पर ऋषि ने कहा कि मेरा शाप तो व्यर्थ नही होगा, पर कोई आभरण दिखाने पर वह शाप निवृत्त हो जायेगा।

महर्षि कण्व के सोमतीर्थ से आने पर आकाशवाणी ने उनको दुष्यन्त के साथ शकुन्तला के गान्धर्व-विवाह की घटना से उन्हें अवगत करा दिया। वह प्रसन्न हुये और योग्य वर की प्राप्ति का

1- राजा - (आकर्ण्य सावष्टम्भम्) भो भोस्तपस्विनः।
मा भैष्ट मा भैष्ट, अयमयमागच्छामि।
(इति निष्क्रान्तः)

- 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' 3/2।

2- विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा ।
तपोधनं वेत्सि न मामुपस्थितम् ।।
स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि सन्
कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव ।।

- 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्', 4/1

अनुमोदन किया। बाद मे वह शाङ्र्गरव - शारद्वत इन दिो शिष्यों तथा गौतमी ((वृद्वा तापसी)) के साथ शकुन्तला को दुष्यन्त के पास हस्तिनापुर भेजने का आदेश देते है। विदाई के समय कण्व के आश्रम में करूणा की अति हो गयी। वीतराग तपस्वी कण्व तक रो दिये। पेड-पौधें, पशु-पक्षी आदि से सारा तपोवन जीवित प्राणी के समान विकल हो उठा। [1]

महर्षि कण्व गृहस्थ जीवन को सुखमय बनाने की दृष्टि से शकुन्तला को अनेक समयोचित उपदेश देते है और राजा दुष्यन्त के पास जाती शकुन्तला को जलाशय तक छोडकर वापस आते है। वह कहते है कि आज शकुन्तला को पति के घर भेजकर मेरा भी हृदय निर्मल हो गया। [2]

पञ्चम अङ्क

राजा दुष्यन्त विदूषक से अपनी अन्तर्व्यथा का वर्णन करता है। तभी कव्चुकी आकर उसे महर्षि कण्व का सन्देश लेकर स्त्रियों के साथ तपस्वियों के आने की सूचना देता है। राजा उन्हे वैदिक रीति से सत्कृत कर यज्ञशाला में लाने का आदेश देता हे। दरबार में उन्हें देखकर राजा शाप के कारण शकुन्तला के साथ गान्धर्व-विवाह की बात भूल जाता है। सौन्दय्र की छटा देखकर वह शकुन्तला पर आकृष्ट होता

1- उग्गलिअदब्भकवला मिआ परिच्चत्तच्चयणा मोरा ।
ओसरिअ पंडुपत्ता मुअंति अस्सू बिअ लदाओ ।।

((उद्गलितदर्भकवला मृग्यः परित्यक्तनर्त्तना मयूराः।
अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चन्त्यश्रूणीव लताः ।।))

- 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्', 4/11

2- अर्थो हि कन्या परकीय एव तामद्य संप्रेष्य परिग्रहीतुः
जातो ममायं विशदः प्रकामं प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा ।।

- 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्', 4/2।

है, किन्तु धर्मनिष्ठा के कारण पराई स्त्री समझकर अस्वीकार कर देता है।[1] शकुन्तला उसे पहचान के लिये अँगूठी दिखाना चाहती है, पर वह अँगुली में नहीं मिलती। वह राजा कण्वाश्रम में साथ बिताये दिनों का मधुर प्रसंग सुनाती है,[2] फिर भी राजा को कुछ याद नही आता। राजा कहता है कि स्त्री जाति परवञ्चना में बडी प्रवीण होती है, परन्तु मैं इस वञ्चना में न फसूँगा। इसके बाद शकुन्तला राजा को बुरा-भला कहती है।[3] परन्तु वह नही बदलता है। अन्त में शकुन्तला को छोडकर शार्ङ्गरव, शारद्वत और गौतमी चले जाते है। तभी एक भविष्यवाणी होती है जो राजा को बताती है कि शकुन्तला का गर्भ उसी का है राजा का पुरोहित शकुन्तला को अपने घर मे आश्रय देने के लिये जाता है कि तभी एक दिव्य ज्योति आकर उसे उठा ले जाती है।[4]

1- इदमुपनेतमेव रूपमक्लिष्टकान्ति
प्रथमपरिगृहीतं स्यान्न वेति व्यवस्यन् ।
भ्रमर इव विभाते कुन्दमन्तस्तुषारं
न च खलु परिभोक्तु नैव शक्नोमि हातुम ।।

- 'अभिज्ञानशाकुन्तल्' 5/19

2- शकुन्तला - णं एक्कस्सिं दिवसे------------------ दुवेवि एत्थ आरण्णआ त्ति। (ननु एकस्मिन् दिवसे---------------द्वावप्यत्रारण्यकौ इति)

3- शकुन्तला - (सरोषम्) अणज्ज अत्तणो हिअआणुभाणेण पेक्खसि । को दाणिं अण्णो धम्मकंचुअप्पवेसिणो तिणच्छण्णाकूवोवमस्स तब अणुकिदिं पडिवदस्सदि। (अनार्य। आत्मनो हृदयानुमानेन पश्यसि क इदानीमन्यो धर्मकञ्चुक प्रवेशिनस्तृणच्छन्नकूपोपमस्य तवानुकृतिं प्रतिपत्स्यते।)

- 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' पं0 अ0, पृ0 263

4- पुरोहित. - स्त्रीसंस्थानं चाप्सरस्तीर्थमाराद्युत्क्षिप्यैनां ज्योतिरेकं जगाम ।।

'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' 5/30

षष्ठ अङ्क

शक्रावरतीर्थ का निवासी एक धीवन रत्नजप्ति एव राजा के नाम से अकिंत अँगूठी बेचने के लिए बाजार मे जाता है। वहाँ उसे सिपाही पकडकर नगररक्षक कोतवाल के पास ले आते है। अँगूठी प्राप्ति का कारण पूछने पर वह बताता है कि वह उसे रोहू मछली के पेट से मिली है। यह सुनकर कोतवाल उसे राजा के पास ले आता है। अँगूठी को देखते ही दुर्वासा के शाप का अन्त होता है और राजा को शकुन्तला की स्मृति हो जाती है।[1] वह अपना स्वर्ण कंकण धीवन को पुरस्कार में दे देता है। बाद में राजा शकुन्तला के परित्याग के कारण वियोग से विकल हो जाता है। विदूषक को साथ लेकर अपने दुख को दूर करने के लिए प्रमदवन में जाता है इधर मेनका की सखी सानुमती नाम की अप्सरा प्रमदवन में आकर तिरस्करिणी विद्या के प्रभाव से छिपकर राजा के पास खडी हो जाती है। वह शकुन्तला के लिये व्यथित राजा को देखती है। इसप्रकार, अँगूठी देखने के बाद राजा का शकुन्तला मे निश्च प्रेम, विरह-व्यथा और पुन. मिलन की आशा बताने के लिये मेनका द्वारा भेजी हुयी वह सानुमती अप्सरा चली जाती है।[2]

इसी समय मेघ्व्प्रच्छन्न प्रसाद के ऊपर इन्द्र का सारथि मातलि विदूषक को पकडकर तगं करना शुरू कर देता है। उसकी रक्षार्थ जाने पर और विदूषक को पकडने का कारण पूछे जाने पर राजा कहता है

1- श्याल - सुअअ मुंचेदु एसो जालोअजीवी। अववण्णों खु अंगुलीअस्स आआभो। (सून्य मुच्यतामेष •जालोपजीवी । उपपन्न खल्वड्गुलीमकम्।)

- 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्', अकं-6, पृ0286

2- सानुभती - ता ण जुत्तं कालं पडिपालिदुं । जाव इमिणा वुत्ततेण पिअसहिं समस्सासेमि। (तन्न युक्तं कालं प्रतिपालपितुं । यावदनेन वृत्तान्तेन प्रियसखीं समाश्वासयामि ।)

- 'अभिज्ञानशाकुन्तवलम्',अंक-6, पृ0 347

कि किसी कार्य से आपको दुखी देखकर वीरोचित कार्य के निमित उत्तेजित करने के लिए मैंने आपके मित्र विदूषक को इस प्रकार तगं कर रखा था। [1] अन्नतर राजा मन्त्री को राज्य-भार सँभालने का सन्देश देकर इन्द्र के रथ पर सवार होकर, राक्षसों के वध हेतु स्वर्ग को प्रस्थान करता है। [2]

सप्तम अड्क

राजा दुष्यन्त स्वर्ग जाकर दुर्जय राक्षसों को पराजित कर इन्द्र की आज्ञा पूरी करते है और पुनःभारत लौटते है। मार्ग में वह हेमकूट पर्वत पर महर्षि कश्यप और उनकी पत्नी अदिति के दर्शनार्थ रथ से उतरते है। वहाँ काश्यमजी ऋषि-पत्नियों के साथ अदिति को पातिव्रत्य धर्म का उपदेश दे रहे थे।[3]

राजा वहाँ सिंहशावक के साथ खेलते हुये एक बालक को देखते है, जिसे देखकर उनका वात्सल्य उमड़ पडता है। वह उस बालक की हथेली में चक्रवर्ती के लक्षणों को देखकर अत्यन्त प्रसन्न होते है। वहाँ की तापसी राजा व उस बालक के मुख में साम्य देखकर आश्चर्यचकित हो जाती है। वह आश्चर्य चरमसीमा पर तब पहुँच जाता है, जब वह देखती है कि बालक की कलाई से जमीन में गिरी ताबीज को उठा लेने पर भी राजा को कुछ नही होता। उस अपराजिता नामकं औषधि को कश्यपजी ने बालक के जातकर्म संस्कार के समय बाँध दिया था जो माता, पिता और बालक के अतिक्ति कोई अन्य उठा ले तो वह

1- मातलिः - किञ्चिन्निमित्तादपि मनः संतापादायुष्मान्मया विक्लवो दृष्टः। पश्चात्कोषयितुमायुष्मन्तं तथा कृतवानस्मि। कुतः ज्वलित चलितेन्धनोऽग्निर्विप्रकृतः पन्नगः फणां कुरूते।
प्रायःस्वं महिमानं क्षोभात् प्रतिपद्यते हि जन ।।

-'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' - 6/3।

2- मातलिः - दाक्षायण्या पतिव्रताधर्ममधिकृत्य पृष्टस्तस्यै महर्षिपत्नीसहितायै कथयतीति ।

- 'अभिज्ञाशाकुन्तलम्' अ0 - 7, पृ0 379

3- राजा - त्वन्मति. केवला [illegible]वत्परिपालयतु प्रजाः।
अधिज्यमिदमन्यस्मिन्कर्मणि व्यापृतं धनुः ।।
---------(राजा रथाधिरोहणं नाटयति)

- 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्', 7/32

साँप बनकर उसे डँस देती थी।[1] इस बात और तापसियों के वार्तालाप द्वारा राजा को पता चल गया कि वह बालक उनका ही पुत्र है ।

तापसियों से राजा का आगमन सुनकर पति-प्राप्ति के लिये नियमव्रत शकुन्तला वहाँ आती है । दोनों का सुखद मिलन होता है और राजा उससे क्षमा माँगते हैं।[2] तभी पुत्र, पत्नी और मातलि के साथ महर्षि कश्यप वहाँ आकर उन दोनों को आर्शीवाद देते हैं । वह उन्हें बताते हैं कि दुर्वासा के शाप से मोहित होकर राजा ने शकुन्तला का परित्याग किया था।[3] इस प्रकार प्रत्यादेश विषय में दोनों को समझा-बुझाकर निर्मल हृदय कर देते हैं और अन्त में उन्हें हस्तिनापुर जाने के लिये बिदा कर देते हैं ।

'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में कालिदास की प्रकरण-वक्रतायें

कालिदास ने मूलकथा महाभारत से ली है, परन्तु महाभारत के नीरस कथानक में यत्र-तत्र चमत्कारी परिवर्तन करके उसे सरस बनाकर नया रूप दिया है । इस मूल कथा के अनुक प्रकरणों

1- एसा अवराजिदा णाम ओसही इमस्स जातकम्मसमए भअवदा मारीएण दिण्णा । एदं किल मादापिदरा अप्पाणं च वज्जिअ अवरो भूमिपडिदं ण गेण्हादि। (एषाऽपराजितानामौषधिरस्य जातकर्मसमये भगवता मारीचेन दत्ता । एतां किल मातापितरावात्मानं च वर्जयित्वाऽपरो भूमिपतितां न गृह्णाति।)

- 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्', अं0-7, पृ0 395

2- राजा - सुतनु। हृदयात्प्रत्यादेशव्यलीकमपैतु ते
किमपिमनस: संमोहो मे तदा बलवानभूत् ।
प्रबलतमसामेवंप्राया: शुभेषु प्रवृत्तय:
स्त्रजमपि शिरस्यन्ध: क्षिप्तां धुनोत्यहिशङ्कया ।।

- 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्', 7/24

3- शापादसि प्रतिहता स्मृतिरोधरूक्षे भर्तर्यपेततमसि प्रभुता तवैव छाया न मूर्छति मलोपहतप्रसादे शुद्धे तु दर्पणतले सुलभावकाशा।।

-'अभिज्ञानशाकुन्तलम्', 7/32

को कालिदास ने अपनी अद्भुत कल्पनाशक्ति के द्वारा वक्रोक्ति प्रयोगों से अनुपम नाटकीय रूप दिया है ।

मूलकथा के प्रारम्भ में आया है कि राजा दुष्यन्त शिकार खेलते हुये अपनी सेना तथा पुरोहित और मन्त्रियों सहित कण्व ऋषि के आश्रम में पँहुचा।[1] वह अपनी सेना को बाहर खड़ाकर अकेले सीधे आश्रम में गया । महाकवि ने प्रकरण वक्रोक्ति द्वारा इस प्रकरण में थोड़ा सा परिवर्तन कर इस कथांश को अधिक रोचक बना दिया है । उन्होंने 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में दिखाया है कि शिकार खेलते समय राजा की सेना पीछे छूट गयी । राजा केवल सूत के साथ घूमता आश्रम पँहुचा । उसने सहसा प्रवेश नहीं किया । उसने ऐसे समय में वहाँ प्रवेश किया है जब तपस्वि-कन्याओं में उससे सहायता पाने की चर्चा चल रही थी।[2] इस घटना में स्वाभाविकता एवं सरसता स्पष्टरूप में परिलक्षित होती है । पीछे छूट गयी सेना का उन्होंने सुन्दर उपयोग किया है । राजा को न पाकर उसे खोजती हुयी सेना आश्रम में आयी । वहाँ उसने उपद्रव एवं कोलाहल प्रारम्भ किया । उस समय राजा शकुन्तला आदि से वार्तालाप में संलग्न थे । सेना द्वारा किये गये उत्पात का समाचार जानकर

1- सामात्यो राजलिङ्गानि सोऽपनीय नराधिपः ।
पुरोहितसहायश्च जगामाश्रममुत्तमम् ।।
स काश्यपस्यायतन महाव्रते -
र्वृत्तं समन्ताद्दृष्टिभिस्तपोधनैः ।।
विवेश सामात्यपुरोहितोऽरिहा
विविक्तमत्यर्थमनोहरं शुभम् ।।

- महाभारत, 60 अध्याय, 35, 5।

2- शकुन्तला - (ससंभ्रमम्) अम्मो सलिलसअसंभमुग्गदो णोमालिअं उज्झिअ वअणं मे मधुअरो अहिट्टइ (. ------ हलापस्त्ताअह म इमिणा दुव्विणीण्दण . दुट्ठमहुअरेण पडिहूअमाणं । (अम्मो सलिलसेकसंभ्रमोद्गतो नवमालिकामुज्झित्वा वदनं में मधुकरोऽभिवर्तते। हला परित्रायेथां मामनेन दुर्विनीतेन दुष्टमधुकरेण परिभूयमानम् .)

- 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्', प्र0 अं0 पृ0 44-45

वह उठा और व्यवस्था करने के लिये विदा लेकर बाहर आया। इस प्रकार कवि ने प्रथम मिलन एवं प्रथम अङ्क अत्यन्त सौन्दर्य के साथ समाप्त किया है।

मूलकथा के अनुसार जब राजा आश्रम पँहुचा, तब समय कण्व ऋषि फल लाने के लिये वन की ओर गये थे। अतः उनकी धर्मकन्या शकुन्तला ने उनका स्वागत किया। राजा द्वारा पूछे जाने पर उसने विश्वामित्र से अपनी उत्पत्ति का सम्पूर्ण वृत्तान्त उसको स्वयं कह सुनाया। राजा द्वारा विवाह का प्रस्ताव रखने पर उसने राजा से कण्व ऋषि के वापस आने तक रूकने को कहा [1] परन्तु राजा के शीघ्रता करने पर उसने इस शर्त पर विवाह करना स्वीकार किया कि राजा के बाद उसका पुत्र राजा होगा [2] ।

मुग्धा तपस्वीकन्या का एक अपरिचित पुरूष के साथ इस प्रकार वार्तालाप करना अस्वाभाविक सा प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त किसी शर्त पर किया हुआ विवाह एक नीरस घटना होती है वह एक पक्ष की दृष्टि से मानव की उच्श्रृंखलता कामवासना की तृप्ति के लिये किया हुआ अविचारणीय कार्य तथा दूसरे पक्ष की दृष्टि से व्यापार प्रतीत होता है। अतः कालिदास ने इस घटना में आवश्यक परिवर्तन कर उसे पूर्ण स्वाभाविक एवं रोचक बना दिया है। उन्होंने अपने जन्म की कथा स्वयं शकुन्तला से न कहलाकर उसकी दो सखियाँ प्रियम्वदा और अनसूया के द्वारा कहलवायी

1- फलाहरो गतो राजन् पिता मे इत आश्रमात् ।
मुहूर्तं सम्प्रतीक्षस्व स मां तुभ्यं प्रदास्यति ।।

- 'महाभारत', अ0- 73, 5 श्लोक

2- सत्यं मे प्रतिजानीहि यथां वक्षाम्यहं रहः ।
मयि जायेत यः पुत्रः स भवेत् त्वदनन्तरः ।।

युवराजो महाराज सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ।
यद्येतदेवं दुष्यन्त अस्तु मे सङ्गमस्त्वया ।।

- 'महाभारत, अ0 73, श0 - 16 - 17

है, जिससे शकुन्तला के शील और मुग्धात्व की रक्षा की गयी है। [1] इससे अतिरिक्त महाभारत में वर्णित उपर्युक्त कथांश से सम्बन्धित सम्पूर्ण व्यापरों में घंटे अथवा दो घटे का समय लगा हो, यह भी असम्भव सा प्रतीत हिोता है कयोंकि कण्व को फल लाने में इससे अधिक समय लगने की सम्भावना भी नही की जा सकती है। अतः इस कथानक को सम्भव बनाने तथा औचित्य की दृष्टि से महाकवि ने शकुन्तला के प्रतिकूल भाग्य की तथा अनिष्ट की शान्ति के लिये दूर सोमतीर्थ में भेजा है। [2] जाने एवं लौटकर आने में उनको सहज ही चार - छः मास लगे होगें। इस अवधि में यज्ञ की रक्षा के निमित्त आश्रमवासियों की प्रार्थना के कारण दुष्यन्त आश्रम में रहे। इस काल में दोनों का प्रेम निरन्तर वृद्धि को प्राप्त हो गया और वह अत्यन्त असह्य हो गया। शकुन्तला का मदन-सन्ताप क्रमशः वृद्धि को प्राप्त हो गया। उस समय उसने गान्धर्व विवाह किया। इस परिवर्तन में कोई किसी भी भाँति की अस्वाभाविकता की प्रतीति नही होती है। इसकी अपेक्षा महाकवि की दो प्रेमियों की अन्तः प्रकृति सम्बन्धी ज्ञान की अनुभूति तथा दो प्रेमियों की अन्तः प्रकृति सम्बन्धी ज्ञान की अनुभूति तथा दो प्रेमियों के प्रति उनकी हार्दिक सहानुभूति का भी स्पष्ट संकेत मिलता है। कण्व को दीर्घकाल तक आश्रम से बाहर रखकर कवि ने अनेक घटनाओं की स्वाभाविक पृष्ठभूमि तैयार कर दी है। तपस्वियों का राजा दुष्यन्त से आश्रम की रक्षार्थ ठहरने की प्रार्थना करना, फलतः

1- तं णो पिअसहीए पहवं अवगच्छ। उज्झिआए सरीरसंवड्डणादिहिं तादकस्सवों से पिदा। (तमावयो: प्रियसख्या: प्रभवमवगच्छ। उज्झिताया: शरीरसवर्धनादिभिस्तातकाश्यपोऽस्याः पिता।)

- 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्', प्र0 अं0, पृ0 55

2- वैखानसः - इदानीमेव दुहितरं शकुन्तलामतिथिसत्काराय नियुज्य देवमस्याः प्रतिकूलं शमयितुं सोमतीर्थं गतः।

- 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्', प्र0 अं0, पृ0 - 24

नायक-नायिका के प्रणय की उद्‌भूति, विकास और परिणति तथा दुर्वासा का शाप - ये घटनायें कण्व के दीर्घकालीन अनुपस्थिति में ही सम्भव थी। दुर्वासा के शाप के शमन में भी कण्व द्वारा सोमतीर्थ में किये गये उपचार भी कारणभूत थे। इस प्रकार इस प्रकरण में कण्व के सोमतीर्थ गमन की नूतन कल्पना पर वक्रोक्ति द्वारा कालिदास ने अनेक नाटकीय घटनाओं को आश्रित कर दिया है।

'महाभारत' में शकुन्तला के गर्भ से आश्रम मे ही पुत्र उत्पन्न होता है। [1] जब वह बालक छः वर्ष का हो जाता है तब शकुन्तला पतिगृह को जाती है। इतने वर्षो पश्चात् कण्व का यह सोचना कि 'विवाहित लडकी को बहुत समय तक पिता के घर न रहना चाहिये' एकदम अस्वाभाविक एवं हास्यास्पद प्रतीत होता है। अतः कालिदास ने प्रसव के पूर्व ही शकुन्तला को पतिगृह भेजकर भारतीय मर्यादा का पालन किया है तथा इस प्रकरण - वक्रता से कथा में स्वाभाविकता भी आ गयी है। 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में शकुन्तला गर्भावस्था में ही पति के घर को जाती है। [2]

मूलकथा के अनुसार शकुन्तला पुत्र सहित राजामहल को गयी। राजा ने सम्पूर्ण वृत्तान्त स्मरण करते हुये भी लोकापवाद के भय से उसे स्वीकार करने से मना कर दिया । फिर जब वह निराश होकर जाने लगी, तब आकाशवाणी हुयी। देववाणी द्वारा शकुन्तला की बात का समर्थन किया गया। तदनन्तर राजा ने पुरोहित एवं अमात्य आदि की सम्मति से शकुन्तला एवं उसके पुत्र को स्वीकार किया। इस घटना से राजा अत्यन्त कुटिल, क्रूर, भीरू तथा निर्बल हृदय प्रतीत होता है। यदि आकाशवाणी न हुयी होती तो अपनी निरपराध पत्नी तथा पुत्र का त्याग करने में उसे तनिक भी

1- त्रिषु वर्षेषु पूर्णेषु दीप्तानलसमद्युतिम् ।
रूपौदार्यगुणोपेतं दौष्यन्तिं जनमेजय ।।

- 'महाभारत', 74/2

2- पुरोहित - अत्रभवती तावदाप्रसवादस्मद्‌गृहे तिष्ठतु ।

- 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' 5 अक, पृ0 275

सकोच न होता। ऐसे निकृष्ट कोटि के नायक को पराक्रमी, प्रेमी, पाप-भीरू और कर्त्तव्यपरायण पुरूषं के रूप में परिवर्तित करने के कार्य में अपनी प्रकरण-वक्रोक्ति द्वारा कवि को दुर्वासा-शाप [1] की कल्पना करनी पड़ी इस शाप के कारण राजा गर्भिणी शकुन्तला को पहचानने में असमर्थ रहा। इस प्रकार राजा को शकुन्तला द्वारा स्वीकार न किये जाने पर एक अदृश्य मूर्ति आकर अचानक शकुन्तला को उठाकर ले गयी। [2] मारीच के आश्रम में हेमकूट पर्वत पर उसके पुत्र उत्पन्न हुआ। इधर धीवर द्वारा अँगूठी प्राप्त हांने पर राजा को सम्पूर्ण वृत्तान्त स्मरण हो गया। वह अपने कार्य पर पश्चात्ताप् करने लगा। उसका चित्त पुनः शकुन्तला की ओर आकृष्ट हुआ। राजा दानवों को मारकर लौटते समय मारीच आश्रम में गया। वहाँ उसने पुत्र को देखा। तदनन्तर उसका शकुन्तला से मिलन हुआ।[3]

'शकुन्तला' की कथावस्तु में प्रकरण-वक्रता से दो बातें एकदम कवि - कल्पना - प्रसूत ही दृष्टिगोचर होती है। ⟮1⟯ दुर्वासा-शाप तथा ⟮2⟯ उसकी निवृत्ति होने के लिये आवश्यक मुद्रिका ⟮अँगूठी⟯ व धीवर की कल्पना। इनमें से दुर्वासा ऋषि के शाप का दो प्रकार से उपयोग किया गया है। प्रथम, महाभारत का नायक दुष्यन्त विषयासक्त भीरू एव स्वार्थी दृष्टिगोचर होता है। ऐसे निम्नकोटि के नायक को अत्यन्त परिष्कृत - रूचित - सम्पन्न तथा कर्त्तव्यपरायण, धीरोदात्त

1- विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा
तपोधनं वेत्सि न मामुपस्थितम् ।
स्मरिष्यति त्वां न बोधितोऽपि सन्
कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव ।।
- 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्', 4/1

2- सा निन्दन्ती स्वानि भाग्यानि बाला
बाहूत्क्षेपं क्रन्दितुं च प्रवृत्ता ।
स्त्रीसंस्थानं चाप्सरस्तीर्थमारा -
दुत्क्षिप्तां ज्योतिरेकं जगाम ।।
- 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्', 5/30

3- वाष्पेण प्रतिषिद्धेऽपि जयशब्दे जितं मया ।
यत्ते दृष्टमसंस्कारपाटलोष्ठपुटं मुखम् ।।
- 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्', 7/23

नायक के रूप मे चित्रित करने में दुर्वासा का शाप ही मुख्य साधन बना है। यद्यपि इस शाप से कुछ काल तक नायक एवं नायिका को कष्ट अवश्य सहना पड़ा है, किन्तु अन्त में उनके स्वभाव की उदात्तता प्रकट करके उसने उनका उपकार ही किया है। साथ ही इस शाप के वर्णन ने कथानक को वैचित्र्यपूर्ण तथा रम्य प्रसंगों से चित्ताकर्षक भी बनाया है।

इसके अतिरिक्त इस शाप के प्रसंग में महाकवि का एक दूसरा भी उद्देश्य रहा होगा। केवल ब्राह्यरूप से उत्पन्न हुआ प्रेम विलासपूर्ण तथा सामान्य कोटि का होता है। संघर्षों व कष्टों की अग्नि में तपकर जब यह प्रेम निःसृत होता है, तो उसकी स्वार्थता नष्ट हो जाती है और वह स्वयं कर्त्तव्य के रूप मे परिणत हो जाता है। इस प्रकार के निरपेक्ष एव उदात्त प्रेम के आदर्श से समाज का भी अभ्युदय होता है, अतः लोककल्याण की भावना को ध्यान मे रखते हुये कालिदास ने 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में इस प्रकार के उदात्त प्रेम का चित्रण किया है।

शाप के पश्चात् - शाप - विमोचन होना भी आवयश्क है। शाप के ही कारण दुष्यन्त हो शकुन्तला की विस्मृति हो गयी थी, अतः शाप-विमोचनार्थ किसी ऐसे साधन की आवश्यकता थी कि जिसके द्वारा दुष्यन्त को शकुन्तला का स्मरण हो आये। एतदर्थ कवि ने प्रकरण-वक्रता द्वारा 'मुद्रिका' जैसे साधन की कल्पना की। शाप के निवारण हेतु शकुन्तला की सखियों द्वारा अनेक बार अनुनय-विनय किये जाने पर दुर्वासा ऋषि ने कहा - ' जो अभिज्ञान राजा ने शकुन्तला को प्रदान किया है उसे देखते ही दुष्यन्त शाकुन्तला को पहचान लेगा।' [1] इस प्रकार शाप की निवृत्ति हो जायेगी। इस उद्धरण से स्पष्ट है कि महाकवि ने शाप के साथ ही उसके निवारणार्थ मुद्रिका जैसे साधन की भी कल्पना की ।

1- मे वअण अण्णहाभविदुं णारिहदि। किंदु अहिण्णाणाभरणदंसणेण सावो णिवत्तिस्सदि त्ति मंत्रअतों अंतरिहिदो। (में वचनमन्यथाभवितुं नार्हति। किंत्वभिज्ञानाभरणदर्शनेन शापो निवर्त्तिष्यत इति मन्त्रयम् स्वयमन्तर्हितः ।)

इस प्रकार 'महाभारत' में वर्णित 'दुष्यन्त' एवं 'शकुन्तला' की मूलकथा में अनेक प्रकरणों में कुछ आवश्यक परिवर्तन, परिवर्द्धन एवं नवीन कल्पनाओं के सुन्दर वक्रोक्तिजन्य सौन्दर्य से संयुक्त कर नाटकीय कथावस्तु के योग्य बनाया है।

'अभिज्ञानशाकुन्तलम् में अर्थ-प्रकृतियाँ

नाटक के प्रथम अंक में वैखानस द्वारा राजा को आश्रम में जाने के निमित्त प्रेरणा होना और तदनुसार राजा वहाँ जाने के लिये अपनी स्वीकृति प्रदान करना - ये दोनों बातें मिलकर - 'बीज' नामक अर्थप्रकृति है।

(2) द्वितीय अक के प्रारम्भ में आखेट सम्बन्ध वृत्तान्त से कथा विच्छिन्न हो जाती है। पुनः विदूषक से शकुन्तला की सौन्दर्य विषयक वार्ता तक के [1] राजा के कथन से मुख्य कथानक पुन प्रारम्भ हो जाता है। अतः राजा का यह कथानक ही कथावस्तु का 'बिन्दु' है।

(3) चतुर्थ अङ्क के प्रारम्भ में दुर्वासा ऋषि का आवगमन होता है। शकुन्तला द्वारा उचित की सखियों द्वारा अनुनय-विनय करने पर वे उस शाप के निवारण का उपया भी बताते है कि दुष्यन्त द्वारा दी 'मुद्रिका' को देखने पर राजा उसे पहचान लेगा। [2] इस प्रकार शाप की निवृत्ति हो जायेगी। अतः यह मुद्रिका वाला वृत्तान्त ही 'पताका' नामक अर्थप्रकृति है।

1- राजा - माढव्य अनवाप्तचक्षुः फलोऽसि येन त्वया दर्शनीय न दृष्टम् । सर्वः खलु कान्तमात्मीयं पश्यति तामाश्रमललामभूतां शकुन्तलामधिकृत्य ब्रवीमि ।

- 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्',द्वि0अं0,पृ094-95

2- 'अभिज्ञानेनाभरणदर्शनेन शापो निवृत्तिर्ष्यत इति मन्त्रयन् स्वयमन्तर्हितः ।'

-' अभिज्ञानशाकुन्तलम्, तृ0 अं0 पृ0 171

(4) छठे अंक के अन्त में देवराज इन्द्र के सारथि मातलि का आगमन होता है। वह राजा को दानवों से युद्ध करने के निमित्त अपने साथ ले जाता है। तदनन्तर सप्तम् अंक में दानवों का दमन करने के पश्चात् राजा लौटता है। मार्ग में महर्षि मारीच का आश्रम मिलता है। आश्रम मे विचरण करते समय राजा की अपनी पुत्र व शकुन्तला से भेंट होती है और नायक एवं नायिका का स्थायी मिलन हो जाता है। इस प्रकार यह लघु वृत्तान्त मुख्य कार्य की सिद्धि में सहायक हुआ है। नायक के फल की प्राप्ति मे सहायक मातलि का यह छोटा सा वृत्तान्त 'प्रकरी की श्रेणी मे आता है।

(5) 'अभिज्ञानशाकुन्तम्' नाटक के अन्त में नायक व नायिका का स्थायी मिलन ही नाटक का 'कार्य' है।

कार्यावस्थायें

(1) 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' नाटक के प्रथम अंक मे राजा के शकुन्तला के प्रति आकृष्ट होने[1] से लेकर शकुन्तला में भी राजा के प्रति राज उत्पन्न होने[2] तक का वर्णन है। यह दोनों परस्पर एक-दूसरे के प्रति अंकुरित होने वाला प्रेम इस अंक के अन्त तक क्रमशः अधिकाधिक प्रकट होता चला गया है अतः इस स्थल से अंक के अन्त तक के भाग को 'आरम्भ' अवस्था कह सकते है।

1- असंशय क्षत्रपरिंग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः ।
सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तः करणप्रवृत्तयः ।।

- 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्', 1/22

शकुन्तला - (आत्मगतम्) किं णु क्खु इमं पेक्खिअ तवोवण विरोहिण विआरस्स गमणीयम्हि संवुत्ता। (किं नु खल्विमं प्रेक्ष्य तपोवनविरोधिनो विकारस्य गमनीयास्मि संवृत्ता।)

- 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्', प्र0 अं0, पृ0 48

(2) द्वितीय व तृतीय अंकों में दोनों पक्षों से एक-दूसरे की प्राप्ति के लिये प्रयत्न किया गया है। अत यह अंश 'प्रयत्न' नामक अवस्था है।

(3) तदनन्तर चतुर्थ अंक में दुर्वासा का क्रोध विघ्नरूप मे उपस्थित होता है, किन्तु वहीं पर यह भी पता चल जाता है कि अब नायक को नायिका प्राप्त हो जायेगी, अतः यहाँ 'प्राप्त्याशा' नामक अवस्था है।

(4) षष्ठ अङ्क में मुद्रिका के मिल जाने पर शकुन्तला प्राप्ति निश्चित हो जाती है। यह प्राप्ति आगामी अंक मे होती है। अत· यहाँ 'नियताप्ति' नामक अवस्था है।

(5) सप्तम् अंक मे नायक एवं नायिका का स्थायी मिलन हो जाता है। इसी प्रकार नायक को फल की प्राप्ति हो जाती है यही 'फलागम' नामक अवस्था है।

पञ्चसन्धियाँ

(1) 'शाकुन्तल' मे प्रथम अंक से लेकर द्वितीय अंक से उस स्थल तक कि जब सेनापति चला जाता है तथा दुष्यन्त कहता है कि अब धनुष आदि ढीले करके विश्राम करता हूँ [1] तक 'मुखसन्धि' है।

(2) तदनन्तर तृतीय अंक के अन्त तक 'प्रतिमुखसन्धि' है।

(3) चतुर्थ अंक के प्रारम्भ से लेकर पञ्चम अंक के उस स्थल तक जहाँ पर गौतमी शकुन्तला

1- गाहन्तां महिषा निपातसलिलं श्रृङ्गैर्मुहुस्ताडितं
छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यतु ।
विश्रब्धं क्रियातां वराहपरिभिर्मुस्ताक्षतिः पल्वले
विश्रामं लभतामिदं च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः ।।
- अभिज्ञानशाकुन्तलम्', 2/6

गौतमी - जाते मुहुत्तअं मा लज्ज। अवणइस्सं दाव दे ओउण्णं। तदो तुम भट्टा अहिजाणिस्सदि। (जाते मुहूर्तं मा लज्जस्व। अपनेष्यामि तावत्तेऽवगुण्ठनम्। ततस्त्वां भर्ताभिज्ञास्यति।)
- 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्', पं0 अं0, पृ0 250

का अवगुण्ठन दूर करती है तथा दुष्यन्त के द्वारा शकुन्तला के प्रत्याख्यान तक 'गर्भ' सन्धि है।

(4) पञ्चम अंक के अवशिष्ट अंश तथा सम्पूर्ण षष्ठ अंक मे 'विमर्श' सन्धि है।

(5) सप्तम अक में प्रारम्भ से अन्त तक 'निर्वहण' सन्धि है।

कालिदास के नाटकों के इस समग्र वस्तु-विवेचन के अन्तर्गत आदि से अन्त तक कालिदास की प्रकरण-वक्रता कही भी देखी जा सकती है। वस्तुगत धारा में आने-वाले उतार-चढ़ाव किस प्रकार मानव के अर्न्तगत व बाह्य जगत को निरन्तर उद्वेलित करते है, कितनी गहराई तक स्पर्श करते हैं तथा परस्पर मिलकर करूण, श्रृंगार, भयानक आदि रसों के विभिन्न पक्षों को बाल्मीकि और गुणाढ्य से बिल्कुल अलग होकर प्रस्तुत करते है, यह कोई अनुमेय चीज नही है। प्रकरण-वक्रता का मूलाधार यही है कि एक सीधे-सादे कथानक को लेकर महाकवि कालिदास ने उसे अभिनन्दनीय वक्रता प्रदान की

भवभूति की कृतियों में

प्रकरण-वक्रता

भवभूति की नाट्यकृतियों में प्रकरण - वक्रता

बाणभट्ट के पश्चात् सम्भवत. भवभूति ऐसे दूसरे कवि है, जिन्होंने अपनी कृतियों मे अपने सम्बन्ध मे कुछ अधिक प्रकाश डालने की चेष्टा की है। सामान्यत· संस्कृत के पुराने कवि अपने सम्बन्ध में कोई सङ्केत नही देते। कालिदास जैसे महाकवि की भी अपने वश, काल, स्थान आदि के प्रति उदासीनता का ही परिणाम है कि उनके काल - निर्धारण के क्रम में कोई समता नही दिखाईअ देती। हमारे सौभाग्य से भवभूति के जीवन एवं समय के सम्बन्ध मे स्वदेशी एवं विदेशी विद्वान बहुत कुछ एकमत है।

भवभूति ने अपनी तीनों नाटयृकृतियों के आमुखों मे अपने वंश आदि के सम्बन्ध में किञ्चिद् प्रस्तुत किया है। इनमें सबसे अधिक विवरण 'महावीररचरितम्' मे, उससे कुछ कम 'मालतीमाधवम्' मे तथा सबसे कम 'उत्तरामचरितम्' में दिखायी देता है। इसके आधार पर भवभूति के जीवनवृत्त का जितना अंश प्रकाशित होता है, वह कुछ इस प्रकार है। इनके पूर्वज दक्षिणापथ मे विदर्भ के अन्तर्गत पद्मपुर नामक नगर के रहने वाले थे। उनका गोत्र कश्यप था तथा वे कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा को मानते थे। भवभूति के पितामह का नाम भट्टगोपाल तथा पिता का नाम नीलकण्ठ था। इनकी माता जातुकर्णी थी। भवभूति के गुरू कोई ज्ञाननिधि थे जो परमहंसो में श्रेष्ठ माने जाते थे। भवभूति अपने विद्वत्कल के योग्य ही मेधावी व्यक्ति हुये और इन्होंने पद (व्याकरण), वाक्य (तर्क) तथा प्रमाण (पूर्वमीमासा) जैसे शास्त्रों में पाण्डित्य प्राप्त किया ।

भवभूति का वास्तविक नाम क्या था? इसे लेकर विद्वानों में मतभेद है। इस मतभेद का वास्तवकि आधार है स्वयं भवभूति द्वारा अपने नाम के सम्बन्ध मे कहा गया यह वाक्य खण्ड, [1]

1- अस्ति खलु तत्रभवान् काश्यप. श्रीकण्ठपदलाञ्छः पदवाक्यप्रमाणज्ञो भवभूतिर्नाम जातुकर्णीपुत्र.।

- 'उत्तररामचरितम्', प्रस्तावना, पृ0 3

भवभूति के टीकाकारों ने भवभूति एवं श्रीकण्ठ पदों को लेकर अपने जो विचार व्यक्त किये है, उसे भी उलझा देता हे। वे सभी प्रायः इसी मत के है कि भवभूति नाम से वह ख्याति हुये। लेकिन भ अपनी तीनों नाट्यकृतियों में 'भवभूतिर्नाम' का प्रयोग करते है, [1] 'श्रीकण्ठोनाम' कहीं नही लिखते 'नाभ' का जब इतना स्पष्ट प्रयोग भवभूति के साथ आया है, तो कोई कारण नही कि कवि का वास्त नाम भवभूति क्यों नही माना जाये। संस्कृत साहित्य के अनेक ग्रन्थों में भवभूति का नामोल्लेख हुआ किन्तु कहीं भी उन्हे 'श्रीकण्ठ' नहीं कहा गया है। इससे इसी मत कि पुष्टि होती है कि कवि लोक-प्रचलित नाम भवभूति ही था।

भवभूति के तीनों नाटक कालप्रियनाथ या कालप्रियनाथ की यात्रा के अवसर पर अभि हुये थे। ये कालप्रियनाथ कौन थे, इसे लकर भी कई परस्पर विरोधी तर्क पेश किये गये है। 'क शिववाची शब्द है, अतःकालप्रिया का अर्थ पार्वती हुआ। इस प्रकार कालप्रियानाथ का अर्थ हुआ शिव।

भवभूति के व्यक्तित्व, आचार-विचार आदि के सम्बन्ध में उनकी नाट्यकृतियों में कला संकेत उपलब्ध होते है। शायद उन सबमे आकर्षक है उनकी खान-पान सम्बन्धी आमिष रूचि, उनके दोनों राम-नाटकों में सूचित हुयी है। सबसे पहले 'महावीरचरितम्' में वशिष्ट एवं विश्वामित्र

1- तदामुष्यायणस्य तत्रभवती भट्टगोपालस्य पौत्रः पवित्रकीर्तेर्नीकण्ठस्य पुत्र श्रीकण्ठपदलाञ्छनः पदवाक्यप्रमाणज्ञो भवभूतिवर्नाम कविनिसर्गसौहृदेन--------हस्ते समर्पितवान्।

- 'मालतीमाधवम्', प्रस्तावना, पृ0 1

परशुराम को शान्त करने के लिए उनके आतिथ्य में की गयी अन्य तैयारियों में वत्सतरी के संज्ञपि -बछिया मरवाने ---की भी बात कहते है।[1]

दोनों ही ऋषि यहाँ परशुराम को क्षत्रिस कहकर सम्बोधित करते है और उन्हे स्मरण चाहते है कि वे अपने समवर्गीय क्षोत्रिय के घर पधारे हुये है, अत· उनके क्रोध का कोई औचित्य ठहरता। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि भवभूति स्व्यं भी पंक्तिपावन श्रोत्रिय-कुल के है। श्रोत्रिय-वश के गुणगौरव का वर्णन उन्होने बड़े ही ओजस्वी शब्दों में किया है।[2]

जहाँ तक भवभूति की कृतियों का सम्बन्ध है, संस्कृत साहित्य की परम्परा सामान्यतः तीन नाटकों के यशस्वी नाटककार के रूप में ही स्मरण करती है, किन्तु यत्र-तत्र उनके कुछ ऐसे श भी मिलते है जो इन तीनों नाटकों में नही मिलते, स्पष्टतः वे भवभूति की दूसरी कृतियों से समुद्धृत है। भवभूति की उर्वर काव्य-प्रतिभा को देखकर यह तनिक भी असम्भव प्रतीत नहीं होता कि उन इन नाटकों के अतिरिक्त भी कुछ अन्य काव्यकृतियों - सम्भवत. श्रव्यकाव्यों - का प्रणयन किया हो केवल तीन नाटक लिखकर यही उनकी प्रतिभा सन्तुष्ट होने वाली नही दिखती। शाङ्र्गधरपद्धति, श्रीधर के सदूक्तिकर्णामृत जल्हण की सूक्तिमुक्तावली, गदाधर के रसिक जीवन जैसे सूक्तिसंग्रहों में भवभूति कई श्लोक दिये गये है जो इनके नाटक में प्राप्त नही होते है। सम्भवतः उनका भवभूति की दू कृतियों से सम्बन्ध है, जो संस्कृत के कई अन्य ग्रन्थों की तरह कालकवलित हो चुकी है।

1- संज्ञप्यते वत्सतरी सर्पिष्यन्नं च पच्यते ।
श्रोत्रिय श्रोत्रियगृहानागतोऽसि जुषस्व नः ।।
- 'महावीरचरितम्' 3/2.

2- ते श्रोत्रियास्तत्त्वविनिश्चयाय
भूरि श्रुतं शाश्वतमाद्रियन्ते ।
इष्टाय पूर्ताय च कर्मणे -
र्थान्दारानपत्याय तपोर्थमायुः ।।
- 'मालतीमाधव' 1/5

भवभूति के जो तीन नाट्यग्रन्थ उपलब्ध होते हैं वह हैं - महावीरचरित, मालतीमाधव और उत्तररामचरित 'महावीरचरितम्' एव 'उत्तररामचरिचतम्' - जिनमे से प्रत्येक सात अंकों का है - मे कवि ने रामायण के चरितनायक राम के प्रायः सम्पूर्ण जीवनवृत्त को नाटकीय रूप प्रदान किया है। पहले में उनके जीवनवृत्त का पूर्वांश तथा दूसरे में उत्तरांश प्रस्तुत किया गया है। 'मालतीमाधव' दस अंको का एक प्रकरण है और इसकी कथावस्तु बहुत कुछ कविककल्पनाप्रसूत है। इन तीनों नाट्यकृतियों में सम्भवतः 'महावीरचरित' भवभूति का पहला तथा 'उत्तररामचरित' उनका अन्तिम नाटक है। 'मालतीमाधव' की सम्भावित स्थिति इन दोनों के बीच आती है। ये तीनों नाट्यकृर्यिों भवभूति की ही है। परम्परा तो इन्हें भवभूतिप्रणीत ही मानती आयी है। इन तीनों के आमुख कई प्रकार से इन्हे भवभूति की रचना सिद्ध करते है। तीनों में स्पष्टत भवभूति तथा उनके वंश आदि का उल्लेख है तथा तीनों का प्राथमिक अभिनय कालप्रियनाथ नामक देवताविशेष की यात्रा के अवसर पर किये जाने की घोषणा की गयी है।[1] सबसे बढकर तीनों की भाषा-शैली तथा उससे बढकर तीनों में एक-दूसरे के श्लोकों, श्लोकोंशो तथा गद्यखण्डों की कई बार आर्वृत्ति इस बात की असन्दिग्ध साक्षी है कि ये तीनों नाटक एक ही कवि भवभूति द्वारा विरचित है। डा० काणे द्वारा तैयार की गयी सूची के अनुसार भवभूति के ऐसे अट्ठारह पूर्ण श्लोक प्राप्त होते है, जिनकी आवृत्ति उनके नाटकों में की गयी है। श्लोकांशों, पदांशों तथा गद्यखण्डों की आवृत्ति तो बहुत बार की गयी है।

1- (क) भगवतः कालप्रियनाथ यात्रायामार्यमिश्राः समादिशन्ति ।
- 'महावीरचरितम्', पृ0 2

(ख) सन्निपतितश्च भगवत कालप्रियनाथस्य यात्राप्रसेङ्गेन नानादिगन्तवास्तव्यो जनः।
- 'मालतीमाधवम्', पृ0 7

(ग) अद्य खलु भगवतः कालप्रियानाथस्य यात्रायामार्यमिश्रान् विज्ञापयामि ।
- 'उत्तररामचरितम्', पृ0 3

भवभूति के तीनों नाटकों का कालक्रम निश्चित कर लेने के पश्चात हम उनके एक नाटक के उपजीव्य, वृत आदि का परीक्षण करेगें तथा उनके नाटकीय मूल्यों व प्रकरण वक्रताओ विवेचन प्रस्तुत करेगें । जिस निष्कर्ष पर हम अब तक पँहुचे हैं उसके अनुसार 'महावीरचरित 'उतररामचरित' कई दृष्टियों से परस्पर सम्बद्ध नाटक होकर भी रचनाकाल की दृष्टि से एक भिन्न प्रकृति के रूपक - 'मालतीमाधव' प्रकरण से परस्पर विच्छिन्न हो गये हैं । उचित तो होता कि कवि की रचनाओं के कालानुक्रम को ध्यान में रखकर ही उनकी कृतियों का विवेचन जाये, क्योंकि उससे कवि की नाट्यकला के क्रमिक विकास को परखने में सुविधा होगी लेकिन अपने अध्ययन की सुविधा के लिये इन कृतियों के कालखण्डों पर पूर्णतया निर्भर न रहकर उ विशिष्ट प्रकृतियों तथा अन्तः सम्बन्धों पर अधिक बल देना चाहेगें । इससे रचनाओं का क्रम भंग अवश्य हो जायेगा, किन्तु हमारे अनुशीलन का मार्ग अधिक सीधा और सरल दीखेगा । कवि तीनों नाट्यकृतियों में केवल 'मालतीमाधव' ही ऐसा है जिसका पृथक् अध्ययन अभीष्ट है, कारण इ प्रकृति, परम्परा आदि शेष दो नाटकों से सर्वथा अलग जा पडती है । अतः सबसे पहले 'महावीरचरित' और 'उत्तररामचरित' का विवेचन कर लेगें, उसके बाद 'मालतीमाधव' के नाट वैशिष्ट्य का परीक्षण करेगें । हमारे इस अध्ययन के लिये यही सबसे अच्छा एवं स्वाभाविक क्रम प्र होता है, भले ही इसका इन कृतियों के ऐतिहासिक क्रम से कुछ विरोध हो जाता है ।

'महावीरचरितम्' की मूलकथा

इस नाटक का मूल कथानक 'बाल्मीकि रामयण' के प्रथम छह काण्डों से लिया गया है

---

1 - श्रुत्वा वस्तु समग्रं तद्धर्मात्मा धर्मसंहितम् ।
व्यक्तमन्वेषते भूयो यद्वृत्तं तस्य धीमतः ।।
उपस्पृश्योदकं सम्यङ्मुनिः स्थित्वा कृताञ्जलिः ।
प्राचीनाग्रेषु दर्भेषु धर्मेणावेक्षते गतिम् ।।
- वा0 रा0, वा0 का0, 3/2

इसमे महर्षि विश्वामित्र के आश्रम मे यज्ञ की रक्षा के निमित राम और लक्ष्मण के पँहुचने के पश्चात् से कथानक प्रारम्भ होता है । कहने का तात्पर्य यह है कि महाकवि ने अपने 'महावीरचरितम्' नाटक में राम-विवाह, राम-वनवास, सीताहरण तथा राज्याभिषेक सम्बन्धी घटनाओं का ही विशेषरूप से वर्णन किया है । रामायण के इस कथानक से जनसाधारण परिचित है । अतः यहाँ उनके इस सम्पूर्ण कथानक का उल्लेख करना अधिक उपयुक्त प्रतीत नहीं होता ।

भवभूति ने अपने इस नाटक के उपजीव्य की सूचना इसके आमुख में दी है।[1] प्रस्तुत श्लोक की इन पक्तियों से न केवल इस नाटक के उपजीव्य का सङ्केत मिल जाता है। प्रत्युत उसके चरितनायक एवं रचयिता के प्रति कवि की अपार श्रद्धा एवं भक्ति के भाव भी छलकते हुये से प्रतीत होते हैं । 'काव्यबीजं सनातनं' - रामायण के प्रति ऐसा सहज आकर्षण केवल भवभूति के कर्तृत्व की ही विशेषता रही हो, ऐसी बात नहीं । वस्तुतः यदि अश्वघोष शूद्रक, विशाखादत्त आदि कुछ गिने चुने अपवादों को छोड़ दें, तो संस्कृत महाकवियों की दीर्घ परम्परा मे शायद ही ऐसा कोई कवि हुआ है, जिसकी विशिष्टम कृतियों का रामायण एवं महाभारत के कतिपय प्रसङ्गों से उपजीव्य उपजीवक सम्बन्ध नहीं रहा है । ये दोनों ही ग्रन्थ भारतीय संस्कृति एव साधना के शाश्वत एवं रसपेशल मूल्यों के जीवन्त निदर्शन है, जिनकी उत्तमर्णता की छाप भारतीय साहित्य एव कला की प्राय. प्रत्येक विधा में विद्यमान

1- प्राचेतसो मुनिवृषा प्रथमं. कवीनां ।
यत्पावनं रघुपतेः प्रणिनाय वृत्तम् ।।
भक्तस्य तत्र समरंसत मेऽपि वाच-
स्तत्सुप्रसन्नमनस. कृतिनो भजन्ताम् ।।

है । किन्तु यहाँ भी हमारा निश्चित मत है कि सामाजिक मूल्यों की प्रतिष्ठा तथा पारिवारिक आदर्शो की स्थापना मे जिस सीमा तक रामायण सहायक रही है, उतनी महाभारत नहीं। महाभारत मूलतः द्वन्द्व-मानव एव क्रान्ति का साहित्य है, उसके वैचारिक मूल्य उसकी सामाजिक मान्यताओं से कहीं अधिक प्रखर एवं सशक्त हैं । इसीलिये राम को भारतीय जन-मानस मर्यादा पुरूषोत्तम के रूप में ग्रहण करता आया है । जबकि महाभारत के कृष्ण का दार्शनिक या उपदेशक रूप ही अधिक समादृत हुआ है । फलतः राम के वृत पर आधृत जो नाटक या काव्य संस्कृत में लिखे गये हैं वे प्रायः उस पावन वृत के माध्यम से सामाजिक आदर्शो की स्थापना करना ही अपना परम ध्येय मानते है । महाभारत की मूलकथा या उसकी उपकथाओं पर आधारित संस्कृत काव्यों या नाटकों का यह पक्ष उतना प्रबल नहीं दिखता - वहाँ कथ्य को आकर्षक ढंग से प्रस्तुत करने तथा हमें किसी रस-स्थिति तक पँहुचाने में ही कवि अधिक सचेष्ट दीखता है । 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' के दुष्यन्त एवं शकुन्तला के चारित्रिक कलुष का शोधन करके कालिदास ने जितना किसी सामाजिक मूल्य की स्थापना नहीं की है, उतना उनके चरित्रों की सरूचिपूर्ण बनाकर उन्हें शृंगार के विप्रलम्भ एवं सम्भोग पक्षों की व्यञ्जना के सर्वथा उपयुक्त बना दिया है । चाहे नायक के रूप में दुष्यन्त और नायिका के रूप में शकुन्तला का चरित्र कितना भी उदात क्यों न हो, उनकी मूल प्रकृति रोमानी है, वे प्रणय के संवेगों की प्रतिनिधि हैं - उनके चरित की सारी सामाजिकता उनके इन्हीं भावों की चेरी है । इधर 'उतररामचरितम्' के राम एवं सीता का वृत भी जब तब विप्रलम्भ एवं सम्भाग शृंगार की समर्थ व्यञ्जना करता है, किन्तु इस व्यञ्जना के मूल में प्रणय के संवेग सामाजिक आदर्शो की गहन अनुभूतियों के पर्याय बन जाते हैं। राम एवं सीता वस्तुत. भारतीय नाट्य के सामान्य नायक नायिका के रूपों में डाले गये 'प्रकार' न होकर विशिष्ट सामाजिक मूल्यों के जीवन्त प्रतीक 'व्यक्ति' होकर आते हैं । उनके रूप एवं व्यक्तित्व की यही मर्यादा है, जो उन्हें दुष्यन्त एवं शकुन्तला जैसे पात्रों से अलग रखती है । अर्थात् राम एवं

सीता के चारितिक उत्कर्ष की महनीयता उनके 'व्यक्ति' होने मे है, जबकि दुष्यन्त एव शकुन्तला की चारितिक विभूतियों का गौरव उनके 'प्रकार' होने मे । कहना न होगा कि 'अभिज्ञानशाकुन्-तलम्' का आधार महाभारत का ही एक उपाख्यान विशेष है । सामान्यत महामारत वृत पर आधृत अन्य नाटकों या काव्यों के सम्बन्ध में भी यही तथ्य लागू होता है ।

इस प्रकाश मे तथ्यों की जाँच करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि जिन कवियों ने राम के वृत को अपने नाटकों के लिये चुना है, उनका साहित्यिक दायित्व काफी बढ गया है । एक ओर तो उन्हे लोक-मानस पर सैंकड़ों वर्षो से चली आती हुयी राम-चरित की पावन मूर्तियों की रक्षा करनी होती है, तो दूसरी ओर रामवृत के कतिपय उलझे हुये सन्दर्भों को नाटकीय आदर्शों के साँचे मे डालकर सुलझना पड जाता है । कालिदास जब दुष्यन्त या शकुन्तला के चरित्रों को अपने नाटक के लिये ग्रहण करते हैं तो उनके सामने कदाचित ही ऐसी कोई समस्या आती है । वस्तुतः महाभारत के शकुन्तलोपाख्यान को छोडकर इन दोनों चरित्रों का कोई ऐसा पक्ष नहीं रहा, जो कालिदास के पहले या बाद मे लोकव्यापी रहा हो । भवभूति आदि कवि रामचरित्र का निर्माण कम, रक्षा अधिक करते हैं । विशुद्ध निर्माण की 'स्वच्छन्दप्रक्रिया' मे किसी कलाकार या कवि को मनचाहा करने की अपेक्षाकृत स्वतन्त्रता होतीहै । किनतु रक्षायोग भारी दायित्व लेकर आता है, इसमें कवि को बँधकर चलना पडता है और फूँक-फूँककर कदम रखना पडता है । कुछ अपवादों को छोडकर रामायण एवं महाभारत के चरित्रों का यह मूलभूत अन्तर है ।

ऐसा नहीं कि भवभूति रामवृत को अपनी नाटकीय उपजीव्य बनाने वाले कवि थे । इनसे बहुत पहले मास ने अपनी 'प्रतिमानाटक' तथा 'अभिषेक-नाटक' में रामकथा का आधार लिया है। किन्तु यह आश्चर्य का विषय है कि भास एवं भवभूति के बीच सस्कृत नाटकों की एक लम्बी परम्परा में दूसरे किसी भी नाटककार का कोई राम नाटक अब तक प्रकाश मे नहीं आया है । यहाँ तक कि

जो कालिदास राम के पावन चरित्र को अपने महाकाव्य मे बड़ी श्रद्धा एव सफलता के साथ निबद्ध करते हैं, वे उसे अपने किसी भी नाटक के उपजीव्य के रूप में ग्रहण नहीं करते । यों भास ने अपने 'प्रतिमानाटक' में राम कथा को लेकर कुछ बड़े-सुन्दर एवं साहसपूर्ण प्रयोग किये हैं । किन्तु शैली, शिल्प, तकनीक आदि दृष्टियों से वे कुछ पुराने से प्रतीत होते हैं । इस दृष्टि से विचार करने पर राम-कथा को अभिनव एवं उदात नाटकीय रूप प्रदान करने वाले भवभूति पहले नाटककार माने जा सकते हैं ।

कथासार-प्रथम अङ्क

महर्षि विश्वामित्र के आश्रम में यज्ञ होने वाला है । उन्होंने यज्ञ की रखवाली के लिये राम-लक्षमण को लाकर रख लिया है।[1] कुशध्वज भी निमन्त्रण मे सीता तथा ऊर्मिला के साथ वहाँ पधारते हैं । कुशल प्रश्न के बाद कुशध्वज राम-लक्षमण का परिचय प्राप्त करके हार्दिक प्रसन्नता प्रकट करते हैं । इसी बीच राम हतयोद्धार करते हैं । कुशध्वज को राम की महिमा देखकर पछतावा होता है कि यदि धनुर्भङ्ग की प्रतिज्ञा नहीं लगायी होती, तो सीता का विवाह राम के साथ होकर ही रहता इसी समय रावण ने सीता की मँगनी के लिये दूत भेजा । उसके प्रस्ताव पर टाल-मटोल होने लगी । इधर राम ने ताटका को तलवार की धार से समाप्त किया । राक्षस को इससे बड़ा खेद हुआ।[2] उसने फिर

1- विजयिसहजमस्त्रैवीर्यमुच्छ्राययिष्यञ्जगदुपकृतिबीजं मैथिलीं प्राययिष्यन् ।
दशमुखकुलघातश्लाघ्यकल्याणपात्रं धनुरनुजसहायं रामदेवंनिनाय ।।
- 'महावीरचरितम्', 1/9

2- नन्वद्य राक्षसपतेः स्खलितः प्रतापः
प्राप्तोऽद्भुतः परिभवोऽद्य मनुष्यपोतात्
दृष्टः स्थितेन च मया स्वजनप्रमाथो
दैन्यं जरा च निरुणद्धि कथं करोमि ।।
- 'महावीरचरितम्', 1/40

प्रस्ताव किया । राजा तथा विश्वामित्र ने फिर टाल दिया । विश्वामित्र ने राम-लक्ष्मण को दिव्यास्त्र दिये । राजा की उत्कण्ठा बढी देखकर विश्वामित्र ने हरचाप मँगवाया और राम से उसका भड्.ग करवाया इस प्रकार चारों भाईयों की शादियाँ जनक तथा कुशध्वज की पुत्रियों से स्थिर हुयीं । राम ने सुबाहु तथा मारीच का भी वध किया ।

द्वितीय अड्.क

मिथिला से लौटकर राक्षस ने सारा वृतान्त लड्.का के मन्त्री से कहा । उसकी चिन्ता बढ गया उसने शूर्पणखा से राय ली । इसी समय परशुराम का पत्र मिला कि दण्डकावासी निशाचर वहाँ के ऋषियों को सताते हैं, उन्हें रोकिये । इसी प्रसड्.ग में निश्चय हुआ कि परशुराम को उकसाया जाये कि वह हरचापभञ्जक राम का दमन करें । इधर राम कन्यान्त.पुर में थे । दशरथ आदि उनके अभिभावक मिथिलाधीश के यहाँ अतिथ्यसत्कार प्राप्त कर रहे थे । इसी समय परशुराम आये और अपने गुरू के चाप के भञ्जन करने वाले राम को देखने की इच्छा प्रकट की। [2]

राम आये । परशुराम को राम के दर्शन से बड़ी प्रीति हुयी, परन्तु वह अपनी प्रतिज्ञा से लाचार थे । क्षत्रिय कुलनाश की प्रतिज्ञा को दुहराते हुये परशुराम ने राम को भी बध्यकोटि में गिना ।

1- माल्यवान् -
दूराद्दवीयो धरणीधरामं यस्ताटकेयं तृणवद्व्यधूनोत्
हन्ता सुबाहोरपि ताटकारिः स राजपुत्रो हृदि बाधते माम् ।।
- महावीरचरितम्, 2/1

2- जामदग्न्यः - भोः भोः परिष्कन्दाः । क्व रामो दाशरथिः ।
- 'महावीरचरितम्', पृ0 86

इस अमङ्गल वृत से जनक-शतानन्द सबको बड़ी तकलीफ हुयी । सबने अपने अपने ढंग से परशुराम को समझाया, फिर भी उनका क्रोध कम नहीं हुआ । जनक अस्त्र ग्रहण करने तथा शतानन्द शाप देने पर भी उतारू हो गये, फिर भी परशुराम दृढ रहे । इसी बीच राम को अनत.पुर में बुला लिया और अन्य लोग दशरथ विश्वामित्र के पास गये।[1]

तृतीय अङ्क

परशुराम के कोप को शान्त करने के लिये वसिष्ठ विश्वामित्र ने उन्हें बहुत समझाया। उनकी विद्या कुल-परम्परा, तपस्या की अत्यन्त तपस्या की । परशुराम ने स्वीकार किया कि हमारे लिये आपके उपदेश मान्य हैं, आप हमारे श्रेष्ठ हैं, फिर भी मैं इस क्षत्रिय कुमार का वध किये बिना नहीं रह सकता हूँ, क्योंकि इसने हमारे गुरु का अपमान किया है । हाँ, इसके बाद मै शान्त हो जाऊँगा।[2] इसकेबाद दशरथ को भी क्रोध उत्पन्न हुआ । उन्होंने भी अस्त्र का अवलम्बन करना चाहा । इसी समय राम आये और उन्होंने परशुराम दमन की प्रतिज्ञा सुनायी ।

1- कञ्चुकी - देव्य. कङ्णमोचनाय मिलिता राजन् वरः प्रेष्यताम् ।

- 'महावीरचरितम्' पृ0 103

2- तपो वा शस्त्रं वा व्यवहरति यः कश्चिदिह वः
स दर्पादुद्दामस्त्विषमसहमानः स्खलयतु ।
आरामा निःसीरध्वजदशरथीकृत्य जगती -
मतृप्तस्तत्कुल्यानपि परशुरामः शमयति ।।

- 'महावीरचरितम्', 3/24

चतुर्थ अड्.क

पराजित परशुराम तप करने चले गये । उन्हे ज्ञान हो गया । परशुराम पराजय से राक्षसराज के मन्त्री माल्यवान् को बडी चिन्ता हुयी । उसने उपाय सोचना प्रारम्भ किया, जिससे राम को दबाया जा सके । राम के अभ्युदय से उसे भय होता है । परामर्शानुसार शूर्पणखा को मन्थरा का रूप धारण करके मिथिला भेजा गया।[1] वह कैकयी की दासी मन्थरा के रूप मे मिथिला आयी और कैकयी को राजा के दिये गये वरदान की बात चलाने लगी । एक वर से भरत को राज्य तथा दूसरे से राम को चौदह वर्षों का वनवास दिलाया।[2] सीता तथा लक्ष्मण के साथ राम वन गये, साथ होने वाले पुरजनों को आग्रहपूर्वक लौटा दिया । भरत के बहुत आग्रह करने पर राम ने अपनी स्वर्णमयी पादुका उन्हे दे दी, जिसे नन्दिग्राम मे अभिषिक्त करके भरत ने राज्यकार्य का सञ्चालन करना प्रारम्भ किया।[3] राम दण्डकाकी ओर बढे । वहाँ खर आदि को मारा ।

1- माल्यवान् - तया मन्थरा नाम परिचारिका दशरथस्य वार्ताहारिणी मिथिलामयोध्यातः प्रेषिता मिथिलोपकण्ठे वर्तत इति संप्रत्येव मम निवेदितं चारै । तस्यास्त्वया शरीरमाविश्यैवमेवं च कर्तव्यम्। - 'महावीरचरितम्', पृ0 143

2- अस्त्वेकेन वरेण वत्सभरतो भोक्ताधिराज्यस्य ते ।
यात्वन्येन विहाय कालहरणं रामो वनं दण्डकाम् ।।
तस्यां चीरधरश्चतुर्दशसमास्तिष्ठत्वसौ तं पुन. ।
सीतालक्ष्मणमात्रकात्परिजनादन्यो न चानुव्रजेत् ।।

- 'महावीरचरितम्' 4/4।

3- नन्दिग्रामे जटां बिभ्रदभिषिच्यार्यपादुके ।
पालमिष्यामि पृथिवीं यावदार्यो निवर्तते ।।

- 'महावीरचरितम्' 4/54

पञ्चम अङ्क

रावण ने सीता का हरण किया । उसकी खोज में राम-लक्ष्मण वन-वन भटकते थे । उसी प्रसङ्ग में जटायु से भेंट हुयी, जिसे सीतापहर्ता रावण ने मृत्युप्रतीक्ष बनाकर छोड़ा था। [1] जटायु से सारी स्थिति का ज्ञान प्राप्त करके राम-लक्ष्मण किष्किंधा की ओर बढे । रास्ते मे विराध का वध किया। सुग्रीव से मैत्री हुयी । रावण प्रेरित बाली का वध करके राम ने सीता की खोज में वानरों को भेजा मरने के समय बाली ने भी राम और सुग्रीव की मैत्री में दृढता का बन्धन डाला। [2]

षष्ठ अङ्क

बाली के मरने पर माल्यवान् को बड़ी चिन्ता हुयी उसे अपने पक्ष का दुर्बलत्व प्रकट प्रतीत होने लगा । उसने प्रयत्न किये कि कुछ उपयुक्त उपाय काम मे लावे। [3] किनतु अतिदृप्त रावण ने अपने पराक्रम को अजेय तथा सागर को दुस्तर कहकर चिनता को हृदय मे स्थान नहीं दिया । राम ने लङ्कापर चढाई की । राम-रावण सैन्य में घोर युद्ध हुआ, एक-एक कर वीरगण कटने मरने लगे । घमासान युद्ध के बाद मेघनाद-लक्ष्मण युद्ध मे मेघनाद प्रयुक्त शक्ति से आहत लक्ष्मण मूर्छित होकर गिर पडे। [4] रामपक्ष में विषाद की घटा घिर आयी । सबकी राय से अनुमान सञ्जीवनी लाने गये ।

1- यामोषधिमिवायुष्यन् विचिनोषि महावने ।
सा सीता मम च प्राणा रावणेनोभयं हृतम् ।।
- म0 च0, 5/24

2- रामात्प्राप्तमहार्घ्यवीरमरणस्याशास्तिरेषाद्य मे ।
योऽह सूर्यसुतः स एव भवतां योऽयं स वत्सोऽङ्गदः ।।
- म0 च0, 5/55

3- व्यसनेडस्मिन् मन्त्रशक्त्या यद्यत्प्रतिकृतं मया ।
अलसस्य यथा कार्यं ततत्प्रच्युतमात्मना ।।
- म0च0, 6/2

4- यावन्मन्त्रप्रभावादनधिगतगतीनमेघनादप्रणुन्नान्दुर्भेद्यान्नागपाशान्विहगपरिवृढास्त्रप्रयोगाद्वयधूनोत्।
तावद्रक्षोविनेत्रा पुनरतिरभसं मर्माणि क्रोधभूम्ना गाढं विद्धः शतघ्न्या हनुमति सहसा मोहनिघ्नो न्यपप्तत्।।
- म0 च0, 6/48

खास जड़ी के नहीं पहचाने जाने पर वे पर्वत ही उठा लाये । पर्वतवर्ती औषधि की हवा के लगने से लक्ष्मण को चैतन्य हो गया रामपक्ष मे खुशियाँ मनायी जाने लगी। तदनन्तर जो निर्णायक युद्ध हुआ, उसमें मेघनाद-रावण सभी मारे गये, सीता का उद्धार हुआ। [1]

सप्तम अङ्क

रावण के मारे जाने पर राम ने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार विभीषण को लङ्काधिपति बना दिया। विभीषण ने राज्याधिकार के मिलते ही देवबन्दियों को मुक्त कर दिया । लङ्काकाण्ड समाप्त कर अग्निशुद्ध सीता को साथ ले, राम लङ्का से अयोध्या को चले । विमान पर से सीता को राम ने मार्गवर्ती समुद्र और अन्यान्य स्थानों के परिचय दिये । मार्ग में विश्वामित्र का आश्रम, परन्तु उनका आदेश हुआ कि शीघ्र ही अयोध्या जाये, मार्ग मे रूके नहीं। [1] अयोध्या जाने पर भरतादि बन्धुओं से मिलने के बाद वशिष्ठ आदि पूज्य ऋषिओं ने राम का राज्याभिषक किया । इस प्रकार राम का वीरचरित पूर्ण हुआ ।

'महावीरचरितम्' में भवभूति की प्रकरण-वक्रता

महाकवि भवभूति ने 'महावीरचरित' नाटक के प्रारम्भ में ही यह दिखलाया है कि विश्वामित्र ने अपने यज्ञ मे बुलाने के निमित विदेहराज जनक को आमन्त्रित किया था, किन्तु वह स्वयं यज्ञ करा रहे थे । अत उन्होंने अपने प्रतिनिधि रूप में अपने भाई कुशध्वज को वहाँ भेजा । साथ ही सीता एवं उर्मिला भी हैं । यहीं राम एवं सीता का तथा लक्ष्मण एवं उर्मिला का मिलन हो जाता है । इसके

1- पुरीं यथा स्थितौ यातं विलम्बेथां च मान्तरा ।
अरून्धतीसहचरं ज्योतिर्वा संप्रतीक्षते ।।

-म0 च0, 7/28

पश्चात् राजा जनक की उत्कण्ठा अधिक देखकर विश्वामित्र शिव के धनुष को अपने आश्रम में ही मँगवा लेते हैं तथा राम द्वारा उसका भंग किया जाना यहीं होता है । किन्तु रामायण में इस प्रकार के वर्णन का कोई भी उल्लेख उपलब्ध नहीं होता है।[1] यह स्वयं महाकवि की अपनी कल्पना है ।

रावण ने राजा जनक के समीप दूत भेजकर सीता की याचना की । उन्होंने टालमटोल कर दी। इसी प्रकार पुन· उसने सीता के लिये याचना का प्रस्ताव किया । मूलकथानक में यह प्रसङ्ग भी नहीं आता है । किन्तु प्रारम्भ में ही रावण को सीता के साथ विवाह करने का इच्छुक बताकर महाकवि ने रामायण की कथा में नाटकीय संघर्ष का बीज बो दिया है ।

द्वितीय अङ्क में परशुराम जी का पत्र रावण के लिये जाता है कि दण्डकारण्यवासी राक्षस वहाँ के ऋषियों को सताते है, उन्हें रोकिये । इसी प्रसङ्ग में यह भी निश्चय होता है परशुराम जी को उकसाया जाये और उनसे कहा जाये कि वह शिवधनुष को तोडने वाले राम का दमन करे तदनुसार परशुरामजी मिथिला जाते भी हैं ।

इसी अङ्क में राम, दशरथ इत्यादि की उपस्थिति मिथिला में दिखलायी गयी है । यहीं पर आगामी अङ्क में दिखलाया गया है कि शूर्पणखा मन्थरा का वेष बनाकर वहाँ आयी है तथा कैकेयी की ओर से दोनों वरों की याचना की है । तदनन्तर मिथिला में ही राम वन-गमन प्रसङ्ग दिखलाया गया है। इस प्रकार का परिवर्तन महाकवि ने कैकयी के चरित्र को उठाने के लिये ही किया होगा, ऐसा प्रतीत होता है ।

1- अस्माद्दशरथज्जातौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।
आदिवंशविशुद्धानां राज्ञां परमधर्मिणां ।।
इक्ष्वाकुकुलजातानां वीराणां सत्यवादिनाम् ।
रामलक्ष्मणयोरर्थे त्वत्सुते वरये नृप ।।

- वा0 रा0, बा0, का0, 71/43-44

इसी चतुर्थ अङ्क में मिथिला में ही भरत ने राम की पादुकाओं को प्राप्त कर लिया है। इससे प्रतीत होता है कि भरत राम के ननिहाल जाने से पूर्व ही ननिहाल से अयोध्या वापस आ गये थे। रामायण में भरत के ननिहाल होने पर अयोध्या में ही [1] राम वनगमन का प्रसङ्ग दिखलाया गया है कैकेयी उसे लौटने पर सारा वृत्तान्त बताती है । भरत के लौटने पर वे चित्रकूट जाते हैं, तथा वहाँ से राम की पादुकाओं को लेकर अयोध्या वापस आये हैं, ऐसा वर्णन आता है । यह प्रकरण वक्रता महाकवि की स्वयं ही की हुयी है ।

पञ्चम अङ्क में बालि के वध का वर्णन आता है । रावण के मन्त्री माल्यवान् ने बालि को प्रेरित किया है कि वह किष्किंधा में जाकर राम पर आक्रमण करे । इस प्रकार बालि रावण का सहायक बनकर राम से युद्ध करने जाता है और मारा जाता है । रामायण की कथा में बालि के वध के लिये जो कठिन समस्या उपस्थित हुयी, वह यहाँ उपस्थित नहीं हुयी तथा महाकवि ने अपनी प्रकरण वक्रोक्ति के द्वारा बालि-वध के कथानक को उपर्युक्त प्रकार से उपस्थित कर राम के द्वारा बालि का वध उचित सिद्ध कर दिया है। [2]

1- त्वकृते हि मया सर्वमिदमेवंविधं कृतम् ।
मा शाकं मा च सन्तापं धैर्यमाश्रय पुत्रक ।।
त्वदधीना हि नगरी राज्यं चैतदनायकम् ।।।
- वा0रा0, अयो0 का0, 73/53

2- परस्परमित्रघ्नौ छिद्रान्वेषणतत्परौ ।
ततोऽवर्धत वाली तु बलवीर्यसमन्वितः ।।
सूर्यपुत्रो महावीर्यः सुग्रीवः परिहीयते ।
बालिना भग्नदर्पस्तु सुग्रीवो मन्दविक्रमः ।।
- वा0 रा0, कि0 का0, 16/26-27

इसी प्रकार षष्ठ अङ्क में राम के द्वारा खर-दूषण की सेना को भस्म कर दिये जाने का वर्णन आया है । परन्तु इस प्रकार की घटना बाल्मीकि-रामायण में उपलब्ध नहीं होती है ।

'महावीरचरितम्' में प्रारम्भ से ही रावण के मन्त्री माल्यवान् का अनेक घटनाओं से सम्बन्ध दृष्टिगोचर होता है । प्रारम्भ में ही जब रावण सीता-प्राप्ति में असफल होता है, तभी से माल्यवान् राम से बदला लेने का निश्चय कर लेता है । उसने ही राम से परशुराम को लड़ने के लिये उभारा है, शूर्पणखा को मन्थरा के रूप में प्रेषित कर कैकेयी द्वारा राम को वनवास दिलाने का षड्यन्त्र रचा है, वन में रहते हुये राम को कष्ट देने के निमित सीता-हरण कराया है तथा उसने ही राम के विरूद्ध बालि को भी उकसाया है । इस कूटनीति की चाल में वह परशुराम को राम से लड़ाने में असफल रहा है। शेष नीतियाँ उसकी अवश्य सफल हुयी हैं, किन्तु उनके अन्तिम परिणाम रावण के लिये घातक तथा अनिष्टकारी ही सिद्ध हुये हैं । इस प्रकार की माल्यवान् की मन्त्रणा आचार्य भवभूति की अपनी कल्पना का ही परिणाम है । आचार्य भवभूति ने अपनी प्रकरण-वक्रता द्वारा इस मन्त्रणा को एक प्रकार से नाटक का प्राण-तत्व ही बना दिया है ।

रामायण की मूलकथा में अपनी प्रकरण-वक्रताओं से किये गये परिवर्तनों एवं परिवर्द्धनों को देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि राम को एक आदर्श पुरूष के रूप में उपस्थित करने तथा कथावस्तु में ऐक्य प्रदर्शित करने का महाकवि का उद्देश्य रहा होगा ।

'महावीरचरितम्' की कथावस्तु में अर्थ-प्रकृतियाँ

'महावीरचरितम्' की कथावस्तु में अर्थ-प्रकृतियों का समावेश निम्न प्रकार से किया गया है।

1- प्रथम अङ्क में ही रावण का पुरोहित सर्वमाय नाम का राक्षस रावण के लिये सीता की याचना करने राजा जनक के पास गया था । उनके यह कह देने पर कि इस बारे में

विश्वामित्र तथा कुशध्वज जानें[1], वह विश्वामित्र के आश्रम में दोनों के समीप आया । उसकी बात सुनकर राजा कुशध्वज एव विश्वामित्र चिन्ता में मग्न हो जाते हैं । कुछ समय के पश्चात् विश्वामित्र उत्तर देते है कि इस विषय में कुशध्वज ही जानें । कुछ काल पश्चात राक्षस द्वारा कुशध्वज से पूछा जाता है कि क्या विचार है? इस पर कुशध्वज उत्तर देते हैं कि राजा सीरध्वज ही जानें । इस प्रकार कहकर उसे टाल दिया जाता है । उसके समक्ष धनुष भङ्ग होता है तथा सीता का विवाह राम से सम्पन्न हो जाता है और उसके समक्ष ही ताड़का, सुबाहु एवं मारीच का वध भी राम के द्वारा किया जाता है । राक्षस यह सब दृश्य देखकर लङ्का लौट जाता है और वहाँ रावण उसके मन्त्री से सम्पूर्ण समाचार कहता है । यहाँ रावण द्वारा सीता का माँगा जाना तथा उसे प्रदान न कर उसके पुरोहित के समक्ष ही राम के साथ सीता का विवाह कर देना ही राम एव रावण के भविष्य में उत्पन्न होने वाले संघर्ष की 'बीज' है ।

2- द्वितीय एवं तृतीय अङ्कों में परशुराम जी के मिथिला में आने और राम का वध करने के लिये दृढ रहने तथा अन्त में राम से पराजित होकर चले जाने के कथानक तथा चतुर्थ अङ्क में रामवनगमन की प्रासंगिक घटना से मुख्य कथानक का विच्छेद सा हो जाता है । तदनन्तर पंचम अंक के विष्कम्भक में सीता-हरण की घटना से पुनः आरम्भ होता है अत. जटायु का निम्न कथन ही 'बिन्दु' है कि जिससे सीता के हरण किये जाने की सूचना प्राप्त होती है।[2]

1- राक्षसः -
मातामहेन प्रतिषिध्यमानः स्वयंग्रहान्माल्यवता दशास्य' ।
आयोनिजां राजसुता वरीतुं मां प्राहिणोन्मैथिलराजधानीम् ।।
- म0 च0' 1/28

दृष्टश्च तत्र यजमान. स राजा। तद्वचनात्कौशिककुशध्वजजावनुगतोऽस्मि ।'

2- यामार्षार्धामवायुष्मन् विचिनोषि महावने ।
सा सीता मम च प्राणा रावणेनोभयं हृतम् ।।
- म0 च0, 5/24

3- तदनन्तर राम सीता की खोज में चले जाते है । मार्ग में जटायु से भेंट होती है, उससे सीता का कुछ समाचार ज्ञात होता है । तदनन्तर वे किष्किधा की ओर बढते हैं और विराध-वध के पश्चात उनकी सुग्रीव से मैत्री होती है।[1] यहाँ सुग्रीव से मैत्री होने के प्रासंगिक कथानक को 'पताका' कहा जा सकता है क्योंकि यह कथानक मुख्य कथा का सहयोगी है ।

4- षष्ठ अङ्क मे लक्ष्मण के मूर्छित हो जाने पर हनुमान जी के द्वारा पर्वत ही उठा लाने तथा पर्वतवर्ती औषधियों की सुगन्ध मिश्रित वायु के सम्पर्क से लक्ष्मण को चैतन्यता प्राप्त होती है[2] यह छोटा सा वृतान्त 'प्रकरी' की श्रेणी में आ जाता है क्योंकि यह भी मुख्य कथानक मे अत्यन्त सहायक हुआ है। लक्ष्मण के चैतन्यावस्था को प्राप्त कर लेने पर ही निर्णायक युद्ध प्रारम्भ हुआ है ।

5- इसी अङ्क के अन्त में रावण का वध हो जाता है । तदनन्तर सप्तम अङ्क मे अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार विभीषण को लड्का का अधिपति बनाकर, अग्निशुद्ध सीता को साथ लेकर, राम अयोध्या के लिये प्रयाण करते हैं । इस प्रकार नायक द्वारा प्रतिनायक रावण का वण कर विभीषण को लड्काधिपति बना सीता को प्राप्त करने रूप कार्य की सिद्धि हो जाती है।[3] यही 'कार्य' नामक अर्थप्रकृति है ।

1- मद्द्रोहाच्छपथात्प्रसीदतु मतिः पौलस्त्यसुग्रीवयोर्हे वीरा कपय. शमोऽस्तु भवतामीश स एवास्ति चेत्।।
रामात्प्राप्तमहार्घ्यवीरमरणस्याशास्तिरेषाद्य मेयोऽह सूर्यसुत. स एव भवतां योऽयं स वत्सोऽङ्गद·

- म0 च0, 5/55

2- यथा चन्द्रालोक कुमुदनिवहश्चम्बकमणिं
दृषत्सारस्तत्वामृतमपि भवाम्योनिधिगत·
तथा संभाव्यैतौ हनुमदुपनीताद्रिमरूतं
झटित्युज्जम्भेते किमपि गहनो वस्तुमहिमा ।

- म0च0, 6/51

3- अलका - कथं सीता विशुद्ध्यनुमोदनार्थमवतीर्णभिरप्सरोभिदिव्यर्षिगणैश्च रामभद्रानिदेशेन निष्पादिताभिषेककल्याणो विभीषण· पुष्पकं पुरस्कृत्य रामभद्रमभ्येति ।

- म0 च0, अंक-6, पृ0 302

कार्यावस्थाएँ

1- प्रथम अङ्क मे रावण द्वारा प्रेषित राक्षस के समक्ष ही ताडका एवं सुबाहु और मारीच का राम द्वारा वध किया जाना ही 'आरम्भ' नामक अवस्था है ।

2- पचम अक मे 'सीताहरण' के पश्चात रावण प्रेषित बालि का वध इत्यादि करना ही 'यत्न' नामक अवस्था है ।

3- षष्ठ अङ्क मे मेघनाद द्वारा प्रयुक्त शक्ति से आहत होकर लक्ष्मण के मूर्छित होकर गिर पडने पर युद्ध शान्त-प्राय हो गया था। अतः यह लक्ष्यपूर्ति मे विघ्नस्वरूप हो गया । हनुमानजी द्वारा उठाकर लाये गय पर्वत पर स्थित औषधियों की वायु से लक्ष्मण को पुन चेतनता व स्वस्थता प्राप्त हुयी ।

इस प्रकार लक्ष्मण के स्वस्थ हो जाने का वृतान्त ज्ञात होने पर सामाजिक को नायक द्वारा शत्रु का वध करने एव सीता को प्राप्त कर लेने की आशा हो जाती है । अत. यहाँ 'प्राप्त्याशा' नामक अवस्था है ।

4- तदनन्तर इसी अङ्क मे मेघनाद एवं लङ्काधिपति रावण के वध हो जाने पर नायक द्वारा नायिका की प्राप्ति कर लेना पूर्णरूपेण निश्चित हो जाता है, यही 'नियताप्ति' नामक अवस्था है।

1- तदयमनुचराज्ञानियन्त्रणोन्मुक्तवीरसमयमङ्गलसदसह्यदुःखनिभृतैर्यूथपतिभिरार्येण च सपक्षपातवार्ष्णेण वीक्ष्यमाणः स्वद्रोहशपथयन्त्रितसशोकविभीषणेन याच्यमानशरीरसौष्ठव· --------
शक्रसूनुरस्यामपि दशायां वीरश्रिया प्रदीप्यते ।

- म0 च0, पृ0 236

5- अक के अन्त में सीता प्राप्ति के अवसर पर 'फलागम' नामक अर्थप्रकृति स्वतः ही उपस्थित हो जाती है ।

पञ्चसन्धियाँ

1- प्रथम अङ्क में 'मुखसन्धि' है ।

2- तदनन्तर द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ तथा पञ्चम अङ्क मे 'बालि-वध' प्रसङ्ग पर्यन्त 'प्रतिमुख' सन्धि है ।

3- तत्पश्चात् सुग्रीव एवं राम की दृढ मैत्री होने की घटना से लेकर षष्ठ अङ्क में लक्ष्मण जी द्वारा चेतना प्राप्ति से पूर्व तक 'गर्भसन्धि' है ।

4- तत्पश्चात् षष्ठ अङ्क के अन्त तक 'विमर्श' सन्धि है ।

5- सप्तम अङ्क में 'निर्वहण' सन्धि है।[1]

'उत्तररामचरितम्' की कथावस्तु का विवेचन

'उत्तररामचरितम्' महाकवि भवभूति की तृतीय और अंतिम रचना है । यह कृति महाकवि के जीवन की महान अनुभूतियों की साररूप है । उनकी पहली नाट्यकृति की कथावस्तु का विवेचन करने के पश्चात् अब यहाँ उनकी दूसरी कृति की कथावस्तु का भी कलात्मक दृष्टि से विचार करना है ।

1- अष्टावक्रः - इदश्च भगवत्याऽरून्धत्या देवीभिः शान्तया च भूयो भूयः सन्दिष्टम् । य. कश्चिद् गर्भदोहदोऽस्या भवति सोऽवश्यमचिरात् सम्पादयितव्य इति ।

- 'उत्तररामचरितम्', पृ0 2।

प्रथम अङ्क

इस अङ्क को कवि ने 'चित्रदर्शन' की संज्ञा दी है । क्योंकि चित्रदर्शन से ही सीताजी को पुनः वन-भ्रमण की इच्छा होती है, जिसकी स्वीकृति भी रामचन्द्रजी दे देते हैं, क्योंकि अरून्धती-कौशल्या आदि का राम के लिये आदेश जो था । यद्यपि इस अङ्क का प्रधान-कार्य सीता-निर्वासन है, तथापि चित्रदर्शन से उत्पन्न हुयी सीता की पुनः वनभ्रमण की इच्छा ही राम के उस दृढ निश्चय को कार्यरूप में परिणत करने में ब्याज बनकर सौकर्य प्रदान करती है । सीता समझ रही है कि उनके दोहद की पूर्ति हो रही है। वे अपने निर्वासन से अपरिचित ही रहती है। कवि की नाट्यकला इस अङ्क में सीता-निर्वासन मे विघ्न बाधा डालने वाली स्थिति के निराकरण में भी उजागर हो रही है। भगवान वशिष्ट का आदेश अष्टावक्र के मुख से राम को मिल चुका है।[1] राम भी उक्त आदेश को सहर्ष स्वीकार करते हुये कह बैठे[2] और लोकाराधन के लिये सीता-त्याग रूप राम की परीक्षा-घड़ी सामने उपस्थित हो ही गयी । यदि उस समय भगवान गुरू वशिष्ठ, कौशल्यादि माताएँ और लङ्का-समर के साथी अयोध्या में होते तो क्या प्रजा के असन्तोष के कारण सीता-निर्वासन् विषयक

1- जामातृयज्ञेन वयं निरूद्धा -
स्त्वं बाल एवासि नव च राज्यम् ।
युक्तः प्रजानामनुरञ्जने स्या -
स्तस्माद्यशो यत् परमं धनं वः ।।

- उ० रा०, 1/11

2- स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि ।
आराधनाय लोकानां मुञ्चतो नास्ति में व्यथा ।।

-उ० रा०, 1/12

राम का दृढ-निश्चय, आज्ञा एव शास्त्रीय प्रमाणों द्वारा स्थागित न कर दिया जाता ? कवि की नाट्यकला ने कितनी सफाई से सीता-निर्वासन की सारी विघ्नबाधाओं को दूर कर दिया है । गुरू वशिष्ठ, उनकी पत्नी अरून्धती और कौशल्यादि राजमाताओं को उसने पहले ही जामाता के यज्ञ में तथा लड्.का-समर में साथियों को उनके-उनके निवास स्थान पर भेजकर नियपि नटी की तरह अपना मार्ग प्रशस्त कर चुकी थी ।

इसी अड्.क मे सीता को चित्रगत जृम्भास्त्रों का दर्शन, उन्हे प्रमाण करना, राम का 'सभी प्रकार से अब ये तुम्हारी सन्तति को प्राप्त होगें।[1] ऐसा कहना भी कवि की नाट्यकला की परिचायक है, क्योंकि इसका नाटकीय महत्व उस समय स्पष्ट रूप से सामने आता है, जब छठे अक में राम, कुश और लव की जृम्भकास्त्र सिद्धि को देखकर उन बालकों के विषय में सीता-पुत्रत्व की सम्भावना करते हैं, जो सातवे अड्.क में यथार्थ में परिणत हो जाती है।

कवि की नाट्यकला ने ही चित्रदर्शन रूप वह पृष्ठभूमि तैयार कर दी है, जिस पर आधारित राम का उत्तर चरित पूर्ण विकसित होकर लोकोत्तर बन सका है । चित्रवीथी में भगवान राम का सम्पूर्ण पूर्वचरित (सीता की अग्निशुद्धि तक) प्रस्तुत है, किन्तु नाटक में सीताजी के थक जाने के कारण माल्यवान् पर्वत तक की ही घटना प्रदर्शित की गयी है।[2] कवि की यह योजना नाट्यकला

1- राम. - सर्वथेदानीं त्वत्प्रसूतिमुपस्थास्यन्ति ।

- उ० रा०, पृ० 29

2- लक्ष्मण· - अतः परमार्यस्य तत्रभवता राक्षसानां चापरिसङ्यातान्युत्तरोत्तराणि कर्माश्चर्याणि। परिश्रान्ता चेयमार्या । तद्विज्ञापयामि विश्राम्यतामिति ।

- उ० रा०, पृ० 56

की दृष्टि से अत्यन्त युक्त है, अन्यथा पूर्वचरित के बिना उतरचरित का मूल्यॉकन ही कैसे होता?

द्वितीय अङ्क

कवि ने इस अङ्क को 'पचवटी प्रवेश' कहा है, क्योंकि राम के सीता-विषयक प्रेम को उद्दीप्त करने के उद्देश्य से कवि के लिये राम को पञ्चवटी में प्रवेश कराना आवश्यक था, जिससे रामचन्द्रजी के चरित्र का विकास दिखलाया जा सके और नाटकीय प्रवाह की भी सृष्टि हो सके। पञ्चवटी के वे-वे स्थान जो वनवास के समय सीता के साथ किये गये विविध विलासों के साक्षी थे, अपने दर्शन से उद्दीपक बनकर, बारह वर्ष तक भीतर ही भीतर घुटन पैदा करते हुये राम के सीता विषयक प्रेम को उद्दीप्त कर अतएव राम को एकान्त जंगल में रूलाकर उनके मन को कुछ हल्का कर सकें।[1] इन सब उद्देश्यों की सिद्धि के लिये कवि ने शम्बूक रूप आयुक्त उपाय निकाल लिया है। इससे रामचन्द्र (नायक) की मर्यादा सुरक्षित रह जाती है । वे स्वार्थ के वशीभूत होकर नहीं, अपितु अपनी प्रजा के हित के लिये, ब्राह्मण पुत्र के पुनरूज्जीवन के लिये पञ्चवटी में पदार्पण करते हैं। अन्यथा यह काम करते हुये उन्हें कहीं मन मे क्षोभ भी है।[2]

1- यस्यां ते दिवसास्तया सह मया नीता यथा स्वे गृहे यत्सम्बन्धिकथाभिरेव सततं दीर्घाभिरास्थीयत।
एकः सम्प्रति नाशितप्रियतमस्तामद्य रामः कथं पापः पञ्चवटीं विलोकयतु वा गच्छत्वसम्भाव्य वा।।
- उ0 रा0, 2/28

2- रे हस्त दक्षिण मृतस्य शिशोर्द्विजस्य जीवातवे विसृज शूद्रमुनौ कृपाणम् ।
रामस्य गात्रमसि निर्भरगर्भखिन्नसीताविवासनपटोः करूणा कुतस्ते ।।

- उ0 रा0, 2/10

तृतीय अङ्क

इस अङ्क का नाम 'छाया' है । इस नामकरण का सम्बन्ध अङ्क की घटनाओं से होने के कारण स्वर्गीय विद्वान ब्रह्मनन्द ने इस नामकरण के सम्बन्ध में अनेक मौलिक हेतुओं की उद्भावना की है। जैसे -

1- यहाँ तमसा सीताजी साथ, सीताजी रामचन्द्रजी के साथ, रामचन्द्रजी वासन्ती के साथ छाया के समान अनन्य रूप से दिखलाये गये हैं ।

2- रामचन्द्रजी के विचारों में सीताजी छाया के समान निरन्तर घूम रही हैं ।

3- रामचन्द्रजी और सीता की शारीरिक स्थिति केवल छाया (कांति) मात्र रह गयी है ।

4- जिस प्रकार सन्तप्त व्यक्तियों को छाया सन्तोष प्रदान करती है, उसी प्रकार इस अङ्क में शोक और क्षोभ के प्रलापोंसे रामचन्द्र को, राम के दर्शन से सीता को, राम की पश्चाताप शुद्धि से बासन्ती को तथा राम एवं सीता के पारस्परिक स्पर्श से तमसा को परम सन्तोष मिलता है ।

5- रामचन्द्रजी अपने ही मुख से बासन्ती से यज्ञ में सीताजी के स्थान पर उनकी स्वर्णमयी मूर्ति की चर्चा करते हैं जिससे सीता को परम धैर्य और सन्तोष मिलता है। क्योंकि वह मूर्ति उनकी ही तो छाया है ।

6- इस अङ्क में अन्तिम श्लोक से राम और सीता के मिलने की भी छाया (आभास) मिलती है।[1] इस सब कारणों से कवि ने इस अङ्क का नाम 'छाया' रखा है ।

1- एको रसः करूण एवं निमितभेदाद्भिन्नः पृथग् पृथगिवाश्रयते विवर्तान् ।
आवर्तबुदबुदतरङ्गमयान् विकारानम्भो यथा सलिलमेवतु तत्समग्रम् ।।

- उ० रा०, 3/47

'छाया' अड्क की उपयोगिता इस बात मे है कि राम और सीता के वियोग के दिनों मे राम जिस दुख को निरन्तर बारह वर्ष तक अपने भीतर दबाये हुये व्यथित किन्तु मूक बन रहे, उसे अनावृत करके मन को कुछ हल्का करने का सदवसर पा सके। साथ ही वे अपने को, अपने राजधर्म को और जिसे प्रसन्न करने के लिये प्राणों से भी प्रिय सीता का परित्याग किया, किन्तु जिसने बारह वर्ष के अन्दर कभी भूलकर भी सीता का नाम नहीं लिया । उस लोक को भी उपालम्भ देने का अवसर पा सके। [1]

इस अड्क में कवि की यह प्रधान चातुरी श्लाप्य है कि सीता तो राम को देख सकें, किन्तु राम सीता को न देख सके । इससे यह बात बनती है कि राम की करूण दशा देखकर तथा अपनी स्वर्णमयी मूर्ति की चर्चा राम के मुख से सुनकर सीताजी द्रवित होकर राम की ओर अभिमुख होती हैं। उनका राम के प्रति बारह वर्षों तक निरन्तर बना हुआ निर्वासन-जनित-क्षोभ-नष्ट हो जाता है और हृदय पूर्ववत् निर्मल, विष्कलुष एवं आत्मीयता पूर्ण प्रेम से ओत-प्रोत हो जाता है । यहाँ तक कि आँखों से राम के ओझल होते समय वे सुकृतपुण्यजनदर्शनीय राम के श्रीचरणों को प्रणाम कर घोर दुख से मूर्छित हो जाती है। [2]

1- इदमशरणैरद्यस्माभि प्रसीदत रूद्यते ।

- उ0 रा0, पृ0 142

2- सीता - हद्धी हद्धी । मं मंदमाइणिं बाहरिअ आमीलंतणेत्तेणीलुप्पणो मुच्छिदो एव्व अज्जउत्तो। ------ जीवावेहि अज्जउत्तम् । (इति पादयोः पतति)। (हा धिक्, हा धिक्। मां मन्दभागिनीं व्याहृत्यामीलन्नेत्रनीलोत्पलो मूर्च्छित एवार्यपुत्रः। ---- जीवयार्यपुत्रम् ।

- उ0 रा0, पृ0 153

चतुर्थ अङ्क

इस अङ्क का नाम 'कौशल्या-जनकयोग' है । इस नामकरण का कारण स्पष्ट है। द्वितीय अङ्क में आत्रेयी ने बसन्ती से जैसा कहा था कि सीता-निर्वासन को सुनकर दुखित अरून्धती ने अपना निश्चय बतलाया कि मै सीता से शून्य अयोध्या में नहीं जाऊँगी । राम की माताओं ने भी अरून्धती का ही समर्थन किया और उनके अनुरोध से वसिष्ठ ने यह निर्णय लिया कि हम सब बाल्मीकि के तपोवन मे चलकर रहेगें।[1] तदनुसार वे सब बाल्मीकि के तपोवन मे आ गये । उधर सीता-निर्वासन से अत्यन्त दुखी राजर्षि जनक भी बाल्मीकि जी का दर्शन करने पँहुच गये । वशिष्ठ जी के आदेश से कौशल्या स्वयं और अरून्धती और गृष्टि नामक कञ्चुकी के साथ जनक से भेंट करती है । अत. इस अङ्क का नाम 'कौसल्या-जनकयोग' रखा गया है । इस अङ्क में लव की उपस्थिति भी दिखलाई गयी है, क्योंकि कुश व लव की चर्चा द्वितीय और तृतीय अङ्क में आ चुकी है। प्रथम अङ्क मे चित्रदर्शन के प्रसङ्ग में सीताजी के लक्ष्मण के प्रति किये गये शिष्ट परिहास के बाद तृतीय अङ्क की समाप्ति तक विषादमय वातावरण ही रहा है । अतः कवि ने चतुर्थ अङ्क में दर्शकों या पाठकों के मनोभावों के अनुकूल उस वातावरण को बदल देने के लिये हास्य, औत्सुक्य तथा प्रसन्नतापूर्ण वातावरण की सृष्टि की है । सौधातकि और दाण्डायन के सम्वादों, अश्व के वर्णन तथा वटु एवं लव के कथोपकथनों से हास्य अतएव प्रसन्नता का वातावरण मिलता है । कौसल्या और जनक की लव के साथ की गयी वार्ता में औत्सुक्य दिखलाई देता है । अन्त में अग्रिम अङ्क के प्रस्तावना रूप में क्रोध का भी दर्शन होता है ।

1- आत्रेयी - ऋष्यशृङ्गाश्रमे गुरूजनस्तदासीत्। सम्प्रति तु परिसमाप्तं तद्द्वादशवार्षिक सत्रम्। --- ततो भगवत्यरून्धती नाहं वधूविरहितामयोध्यां गमिष्यामीत्याह। तदेव राममातृभिरनुमोदितम् । तदनुरोधाद्भगवतो वसिष्ठस्य परिशुद्धा वाचो बाल्मीकितपोवनं गत्वा तत्र वत्स्याम इति।

- उ0 रा0, पृ0 97

इस अड्क मे जनक को बाल्मीकि-आश्रम में उपस्थित करना कवि की अपनी उद्भावना है।[1] जनक को नाटक मे लाने का कवि का सबसे बडा प्रयोजन है- कारूण्य की तीव्रता का प्रभाव दिखलाना। वह दिखलाना चाहता है कि जनक जैस विदेह तथा स्थितप्रज्ञ भी सीता-निर्वासन से विचलित हो सकते है, तो साधारणजनों की क्या बात है? माननीय करूणा के सामने ज्ञान और धैर्य जाने कहाँ विलीन हो जाते है। जनक के मन का क्षोभ आरे की तरह मर्म पर निरन्तर चलता है। पुत्री के निर्वासन से हुआ उनका अपमान इतने दिनों से उन्हे निरन्तर कष्ट देता हुआ शान्त नही होता। उनका दग्ध शरीर अब भी टिका हुआ है। वे आत्मघात नही कर सकतें, क्योंकि वैसा करनेवालो को पापों का फल भोगने के लिये सूर्य रहित निबिड-अन्धकारमय लोक की प्राप्ति होती है। विधि का ऐसा विधान है कि वे खुलकर रो भी नही सकते। जनक-कौसल्या का मिलन होता है। कौसल्या संकोच से गडी जा रही है कि मै जनक को अपना मुँह कैसे दिखलाऊ?[2] अरून्धती के बहुत कहने पर कौसल्या सामने आती है, किन्तु जनक सीधे मुँह बात नही करते। वे कञ्चुकी से व्यङ्ग्य भरे शब्दों मे पूछते है कि क्या प्रजापालक राम की माता कुशलपूर्वक है? कञ्चुकी ने राम की ओर से सफाई देते हुये कहा कि यह दारूण कर्म भाग्य ने किया, इसमे राम का कोई दोष नही है। वे क्या करे, नागरिक सीता की अग्नि शुद्धि में थोडा भी विश्वास नही करते। अग्नि का नाम सुनते ही जनक क्रोध से आग-बबूला हो उठे और कहने लगे कि

1- (ततः प्रविशति जनकः)

जनकः - अपत्ये यत्तादृग्दुरितमभवत् तेन महता विषक्तस्तीव्रेण व्रणितहृदयेन व्यथ्यता पटुर्धारावाही नव इव चिरेणापि हि न में निकृन्तमर्माणि क्रकच इव मन्युर्विरमति ।।

- उ0 रा0, 4/3

2- कौसल्या - कह णु खु वच्छाए बहूए एवं गदे तस्स राएसिणो मुहं दसम्ह? (कथं नु खलु वत्साया वध्वा एव गते तस्य राजर्षेमुखं दर्शयामः?)

- उ0 रा0, पृ0 245

कि मेरी मेरी सन्तान को अग्निदेव कौन होते है शुद्ध करने वाले [1] अरून्धती ने यह कहकर कि 'अग्निशुद्ध सीता' कहना ही सीता का अपमान है और अपने वाक्-कौशल से जनक को शान्त किया। कौशल्या को मूर्छित देख जनक द्रवित हो जाते है। होश के आते ही कौशल्या सीता का स्मरण करते हुये विह्वल हो जाती है। अरून्धती ऋृष्यश्रृंग की कही हुयी बात 'कल्याणमय परिणाम' होगा कि याद कराकर कौशल्या को धैये बँधाती है। इतने में बटुको के बीच लव को देखकर जनक बुलवाते है। जनक, कौशल्या, अरून्धती तीनों को लव में सीता की छाया देखकर सन्देह होता है कि हो न हो, यह सीता का पुत्र है। [2] इसकी जानकारी प्राप्त करने के लिए जनक लव से तरह-तरह के प्रश्न करते है, यहाँ तक कि उसके रामायण विषयक ज्ञान की परीक्षा से ही किसी निष्कर्ष पर पहुँचने की उम्मीद लेकर प्रश्न करते है किन्तु लव उत्तर देता है कि मैंने रामायण कथा वहीं तक पढी है, जहाँ लक्ष्मण सीता को वन में अकेली छोडकर चले गये है, ऐसा सुनते ही कौशल्या का दुख उमड पडता है और नागरिकों की क्रूरता एव राम के उतावलेपन पर जनक का क्रोध पुनः उमडता है और वे धनुष चढाने पर और शाप भी देने को उद्यत हो जाते है। कौशल्या यह देखकर काँप जाती है। अरून्धती उन्हें पुनः समझाकर

1- जनक - (सरोषम्) आः । कोऽयमग्निर्नामास्मत्प्रसूतिपरिशोधने? कष्टमेवं वादिना जनेन रामभद्रपरिभूता अपि वयं पुनः परिभूयामहे।

- उ0 रा0, पृ0 250

2- जनकः - (चिरं निर्वर्ण्य) भो. । किमप्येतत् ? मनो मे सम्मोहस्थिरमपि हरत्येष बलवानयोधातु यद्वत्परिलघुरयस्कान्तशकल ।।

- उ0 रा0, 4/21

अरून्धती - एहि वत्स। (लवमुत्सङ्गे गृहीत्वात्मगतम्) दिष्ट्या न केवलमुत्सङ्गश्चिरान्मनोरथोऽपि मे सम्पूर्णः।

- उ0 रा0, पृ0 268

कौशल्या - जात। इदो वि दाव एहि। (उत्सङ्गे गृहीत्वा) ---------राएसि, किं ण पेक्खसि णिउणं णिरूवअन्तं से मुहं बच्छाए बहूए मुहचंदेण संवददि एव्व? (जात। इतोऽपि तावदेहि। राजर्षे। किं नु प्रेक्षसे निपुणं निरूप्यमाणमस्य मुख वत्साया वध्वा मुखचन्द्रेण संवदत्येव?)

शान्त करती है। इतने मे आश्रम के परिसर में राम के अश्वमेघ का घोडा आ जाता है। लव को उसे दिखलाने के लिये बच्चे खींच ले जाते है। लव अश्वरक्षक वीरों की घोषणा न सह पाने के कारण बच्चों से कहता है- अश्व को ढेलों से मारते हुये आश्रम में ले चलों, यह बेचारा मृगों के बीच में चरेगा।[1] बच्चे तो सैनिकों को देखकर भाग खड़े होते है, किन्तु लव शस्त्र लेकर खडा हो जाता है।

पञ्चम अङ्क

इस अड्क का कवि ने 'कुमारविक्रम' नाम दिया है। व्याख्याकारों ने प्रायः इस नाम में 'कुमारयोंविक्रमो यत्रेति कुमारविक्रम.' - ऐसा बहुव्रीहिसमास माना है, किन्तु इस अड्क की घटनाओं को ध्यान में रखकर 'कुमारस्य विग्रहो यत्र' ऐसा विग्रह करना अधिक उपयुक्त लगता है क्योंकि चतुर्थ अड्क के अंत में लव ही युद्ध के लिये उद्यत होता है। पञ्चम अड्क मे वही चन्द्रकेतु को युद्ध के लिये चुनौती भी देता है। लव ही जृम्भकास्त्र का प्रयोग करता है।[2] चन्द्रकेतु तो केवल लव की प्रशंसा करता हुआ संवाद करता हुआ ही चित्रित किया गया है, वर्णन मिलता है तो केवल लव के विक्रम, जो इस प्रकार है -

चन्द्रकेतु के उपस्थित होने पर उसके सैनिक लव पर आक्रमण पर देते है। एक पर बहुत से लोगो का मिलकर आक्रमण युद्ध-नियम के विरूद्ध है। अतः चन्द्रकेतु अपने सैनिकों को मना करता है, किन्तु इतने में लव जृम्भकास्त्र के प्रयोग से सैनिकों को स्तब्ध कर देता है। आश्चर्यचकित सुमन्त्र/चन्द्रकेतु का

1- लवः भे भो बटव.। परिवृत्य लोष्ठैरभिघ्नन्तो
नयतैनमश्वम्। एष रोहितानां मध्ये वराकश्चरतु।
- उ0 रा0, पृ0 288

2- चन्द्रकेतु. - आश्चर्यम् । आश्चर्यम्।
पातालोदरकुञ्जपुञ्जिततमः श्यामैर्नभो जृम्भकैरुत्तप्तस्फुरदारकूटकपिलज्योतिर्ज्वलद्दीप्तिभिः।
कल्पाक्षेपकठोरभैरवमरुद्व्यस्तैरवस्तीर्यते
मीलन्मेघतडित् कडारकुहरैर्विन्ध्याद्रिकूटैरिव ।।.
- उ0 रा0, 5/14

सारथि) जृम्भकास्त्र का इतिहास प्रस्तुत करता है। लव के प्रभावशाली व्यक्तित्व से प्रभावित हो चन्द्रकेतु रथ से इसलिये उतर पडता है कि लव भी रथा रूढ हो जाये, तभी उसके साथ युद्ध न्यासंगत होगा, किन्तु लव अपने को रथचर्या में अनभिज्ञ होने का बहाना बनाकर चन्द्रकेतु के प्रस्ताव को मानने से इन्कार कर देता है। दोनों के हृदय में एक-दूसरे के प्रति मित्र - भाव का उदय हो जाता है। किन्तु वीरों का निष्ठुर नियम उस स्नेह-क्रम को बाधित कर देता है। लव के दर्य एवं सौजन्य मिश्रित आचरण से प्रभावित सुमन्त्र राम की चर्चा यह कर छेड देता है कि यदि तुम (लव) को इक्ष्वाकुवंशीय राजा राम देखे, तो उनका हृदय स्नहे (वात्सल्य) से द्रवित हो जाये [1] लव भी उसी प्रकार सौजन्यपूर्ण वचनों से उत्तर देता है कि आर्य, उन सज्जन राजर्षि को सुन चुका हूँ। कौन ऐसा है, जो उनके गुणों के कारण उनका अत्यधिक सम्मान नहीं करता है। हम भी इस तरह यज्ञ मे प्रतिघात करने वाले स्वभाव के नहीं है। किन्तु समस्त क्षत्रियों पर आक्षेप करने वाले उग्र सैनिकों के वचन ने हमे विवश कर दिया। ऐसा सुनते ही वह चन्द्रकेतु बोल पडा कि इसका मतलब, आपको पिताजी का प्रताप असह्य है।

असह्य हो या ना हो। मैं तो यह जानना चाहता हूँ कि शान्त दान्त एवं निरभिमान ऐसे राजा के सैनिकों को क्या राक्षसोचित वाणी बोलना शोभनीय है? लव ने विनम्रतापर्वूक कहा। पुनः कुछ उत्तेजित होकर कहा कि कया क्षत्रिय धर्म समग्र रूप से उन्हीं (राम) के ही हिस्से मे पडा है- यह बतलाइये।

सुमन्त्र ने लव को रोका कि तुम निश्चय ही राम के विषय में नही जानते हो, अन्यथा ऐसा न कहते। तुमने 'सचमुच सैनिको का विमर्दन कर एक ओजस्वी का सा काम किया है। किन्तु परशुराम के भी

1- सुमन्त्र. - जानासि वत्स! दर्पसौजन्ययोर्यथोचितमाचरितुम्। यदि पुनस्त्वामीदृशमैक्ष्वाको राजा रामभद्रः पश्येत्, तदा तस्य हृदयममभिष्यन्देत।

- उ0 रा0, पृ0 327

गर्व को चूर्ण करनेवाले राम के विषय में तुम्हारा कटु शब्दों के प्रयोग का आग्रह उचित नही है। [1] लव हँस कर व्यङ्ग्य भरे शब्दों मे कहा - अरे, यह तो दुनिया जानती है कि भुजबल के धनी तो क्षत्रिय ही ह है, ब्राह्मण तो केवल (शाप देने वाली) वाणी का ही बल रखते है। इस प्रकार अनाधिकार रूप से शस्त्र धार करने वाले उस ब्राह्मण परशुराम का दमन करने में उनकी कौन सी प्रशसा हुयी?

राम के प्रति कहे गये लव के इस आक्षेपपूर्ण वचनों को सुनकर आह्त-सा होकर चन्द्रकेतु ने सुमन से लव के विषय में व्यङ्ग्य भरे शब्दो में इस प्रकार कहा कि आर्य सुमन्द्ध, उत्तर-प्रत्युत्तर बन्द कीजिए। य कोई नया अवतारी पुरूष है, जो भृगुनन्दन को भी वीर नही मानता और सातों लोकों को अभय करने वा पिताजी के पावन चरित्रों को भी नही जानता।

लव को अब राम के विषय में भी कुछ कहने का अवसर मिल गया। उसने व्यङ्ग्य शब्दों में का कि भला कौन रघुपति की महिमा और उनके चरित्र को नही जानता? सुन्दरी बेचारी ताडका का वध करने प भी लोक मे वे महान और अप्रतिहत यश वाले प्रथित है। खर के साथ युद्ध करते समय तीन ही कदम सह पीठन दिखाते हुये ही सही, उनके पीछे हटने की बात को भी तथा बाली के वध मे प्रदर्शित उनके कौशल व भी सारी दुनिया जानती है। [2] पुत्र के द्वारा ही राम की निर्मम एवं तटस्थ आलोचना नाटकगत करूण व उत्कर्ष को बढाती है। स्वतन्त्र रूप से अनुचित होते हुये भी करूण का परिपोषक होने से उसका औचित्य ब

1- सुमन्त्र. - नैव खलु जानासि देवमैक्ष्वाकं, येनैवं वदसि।
तद्विमातिप्रसङ्गात् ।

सैनिकानां प्रमाथेन सत्यमोजायितं त्वया ।
जामदग्न्यस्य दमने न हि निर्बन्धमर्हसि ।।
- उ० रा०, 5/32

2- को हि रघुपतेश्चरितं महिमानं न जानाति? यदि नाम किञ्चिदस्ति वक्तव्यम् अथवा शान्तम् ।

वृद्धास्ते न विचारणीयपचरितास्तिष्ठन्तु किं वर्ण्यते सुन्दरस्त्रीमथनेऽप्यकुण्ठयशसो लोके महान्तो हि
यानि जीण्यपराङ्मुखान्यपि पदान्यासन् खरायोधने यद्वा कौशलमिन्द्रसूनुनिधने तत्राप्यभिज्ञो जनः ।।
- उ० रा०, 5/35

जाता है।

षष्ठ अङ्क

कवि ने इस अङ्क का नाम 'कुमारप्रत्यभिज्ञान' रक्षा है। इस अङ्क की विशेषता है- राम का कुश-लव को देखना। अङ्क के आरम्भ में विद्याधर और विद्याधरी विमान पर बैठकर प्रविष्ट होते है। इन दोनों के वार्तालाप से सामाजिकों को सूचना मिलती है कि लव और चन्द्रकेतु का भीषण-युद्ध हो रहा है। लव ने चन्द्रकेतु द्वारा प्रयुक्त आग्नेयास्त्र का जवान वरूणास्त्र से दिया है।[1] किन्तु चन्द्रकेतु भी वारूणास्त्र का निराकरण से कर देता है। रामचन्द्रजी शम्बूक को मारकर युद्धस्थल पर आ गये है और दोनों कुमारों को अपने गम्भीर स्वर से युद्ध-विरत कर देते है।

राम के पुष्पक विमान के पहुँचते ही लव और चन्द्रकेतु प्रणत हो जाते है। पुष्पक से उतरते हुये राम ने चन्द्रकेतु से कुशल समाचार पूछा। चन्द्रकेतु ने राम से लव का परिचय कराते हुये अपना कुशल बताया। राम ने लव को देखकर सोचा कि इसे देखकर मेरे सकल दुख क्यों? विश्रान्त हो गये और अन्रात्मा स्नेह से आप्लावित हो गयी?[2] पुन. समाधान भी स्वयं देते है कि स्नेह तो स्वभावतः अकारण ही होता है। लव को चन्द्रकेतु से जब यह ज्ञान होता है कि ये ही राम है, तब वह बाल्मीकि के शिष्य और लव नाम से अपना परिचय देता हुआ उनका अभिवादन करता है। और अपने अपराध के लिये क्षमायाचना करता है। राम

1- विद्याधर - हन्त। कुमारलवप्रयुक्तवारूणास्त्रप्रभावः खल्वेषः। कथमविरलप्रवृत्तवारिधारासहस्त्रसम्पातैः प्रशान्तमेव पावगस्त्रम् ।

- उ0 रा0, 5/35

2- रामः - तत्किमयमेकपद एव मे दुखविश्रामं ददात्युपस्नेहयति च कुतोऽपि निमित्तादन्तरात्मानम् ।

- उ0 रा0, पृ0 355

से चन्द्रकेतु ने बताया कि अश्वरक्षकों द्वारा आपके प्रभाव का आख्यान सुनकर इस कुमार ने वीरवत् आचरण किया। यह देखियें, इसने अपने जृम्भकास्त्र के प्रयोग से सेनाओं को स्तब्ध कर दिया है। राम ने लव के इस आमर्ष को क्षत्रियों का अलड्क़ार बताते हुये लव को अस्त्र लौटाने को कहा। लव ने वैसा ही किया। राम रामायण का कुछ अंश लव - कुश से पढने को कहते है। वे बच्चे रामायण को जो अंश पढते है, वह राम के लिये मर्मभेदी होने के कारण उनके दुख को और भी अधिक बढा देता है। [1]

लव जब मन्दाकिनी विहार वाला मधुर प्रसड्ग सुनाता है, उस समय एक बार तो राम को उन बच्चों के भोलेपन पर लज्जापूर्ण हॅसी आती है और वे सीता की स्मृति से विह्वल हो जाते है। उन्हे सीता का मुख प्रत्यक्ष दीखता-सा प्रतीत होता है। इतने में नेपथ्य में सुनाई देता है कि बच्चों के झगड़े की बात सुनकर अरून्धती, वसिष्ठ, बाल्मीकि, कौशल्या और जनक यही आ रहे है। राम के मन की स्थिति डॉवाडोल हो जाती है। मैं ऐसा महापाप करने के बाद अब जनक के सामने कैसे जाॅऊ? मै सहस्त्र खण्डों में विदीण क्यों नही हो जाता? पुनः नेपथ्य से यह सूचना पाकर कि राम को क्षीण देखकर माताए मूर्च्छित हो गयी है, राम कहते है कि मेरे ऊपर करूणा व्यर्थ है। मैं उस सीता के प्रति अकरूण रहा हूॅं, जो जनककुल और रघुकुल दोनों की मंगल थी। [1]

इस अड्क में राम से कुश - लव को मिलाकर कवि ने अपना नाटकीय प्रयोजन सिद्ध किया है। कुश एवं राम के मुख से रामायण के मार्मिक प्रसड्गों को सुनवाकर राम के कारूण्य - बोध को कवि ने अत्यन्त तीव्रता प्रदान की है।

1- रामः - हा तात। हा मातरः। हा जनक.।

जनकानां रघूणां च यत्कृत्स्नं गोत्रमड्गलम् ।
तत्राप्यकरूणे पापे वृथा वः करूणा मयि ।।

- उ0 रा0, 6/42

सप्तम अड्.क

इस अड्.क का नाम कवि ने 'सम्मेलनम्' रखा है, जो वास्तव में अन्वर्थ ही है। इस अड्.क में बारह वर्ष के बाद राम और सीता का सम्मेलन होता है। इसके अतिरिक्त कुश - लव, कौशल्यादि रानियों, वशिष्ठ, अरून्धती, ऋष्यऋड्ग, शान्ता, शत्रुघ्न, राजर्षि जनक आदि का भी समागम होता है इसी अड्क में नाटक के बिखरे हुये कथासूत्रों का, रामायण के कथाभाग तथा कवि की कल्पना का और हर्ष, औत्सुक्यादि अनेक भावों का भी सुखद सम्मेलन होता है।

इस अड्.क का आरम्भ गर्भाड्.क से होता है। नाटक के अन्दर रचा जाता है। इस नाटक को देखने के लिये सुर-असुर -नाग, पशु-पक्षी, अयोध्यावासी, जनपदवासी, राम-लक्ष्मण आदि सभी उपस्थित होते है। इस नाटक में सीता-परित्याग के बाद की कथा। अभिनीत होती है। इसमें दिखलाया जाता है कि पृथ्वी और गंगा की सीता के प्रसव के समय उपस्थित है। राम के सीता-निर्वासिन जैसे दारूण कर्म के विषय मे पृथ्वी और भागीरथी में बातचीत भी होती है। इन सबके बीच में राम-लक्ष्मण का सम्वाद भी चलता रहता है। इस प्रकार एक साथ दो नाटक चलते रहते है। राम को ऐसा लगता हे कि मानों वे नाटक नहीं, बल्कि उन घटनाओं को प्रत्यक्ष घटित होते देख रहे हों। नाटक में पृथ्वी और गंगा सीता को लेकर चली जाती है। तब राम समझते है कि सीता लोकान्तर में चली गयी और वे मूर्च्छित हो जाते है। लक्ष्मण उपालम्भ भरे वचनों में कहते है कि भगवान बाल्मीकि क्या तुम्हारा यही काव्यार्थ है।[1] इतने में नाटक यथार्थ हो जाता है। गड्.गा और पृथ्वी के साथ सीता गड्गा के जल से ऊपर निकलती है। नेपथ्य में दोनों देवियाँ सीता को अरून्धती के हाथों में सौंपती

1- लक्ष्मण: - भगवन् बाल्मीके! परित्रायस्व परित्रायस्व। एष ते काव्यार्थ:?

- उ0 रा0, पृ0 428

है। राम अब भी बेहोश ही है। अरून्धती के आदेश से सीता जब अपने हाथ से राम का स्पर्श करती है, तब उन्हें होश आता है और वे पृथ्वी और गड्गा को प्रणाम करते है। अरून्धती भर्त्सनापूर्वक पुरवासियों और जनपदवासियों को सम्बोधित कर कहती है कि क्या अब भी तुम्हे सीता के विषय में प्रमाण चाहिये? वे सभी लोग लज्जित होकर सीता के चरणों को प्रणाम करते है। अरून्धती राम को आज्ञा देती है कि वह यज्ञ में सीता को धर्मचारिणी बनायें।[1] राम उस आज्ञा को शिरोधार्य करते है। सीता मन में कहती है कि क्या आर्यपुत्र को सीता के दु ख परिमार्जन की कला याद है। लक्ष्मण ने कृतार्थ होकर सीता को प्रणाम किया और उन्होंने आर्शीवाद दिया। तब अरून्धती के कहने से बाल्मीकि कुश और लव को ले आये। दोनों पुत्रों को माता और पिता के समागम से अत्यन्त हर्ष हुआ। सीता ने बाल्मीकि को प्रणाम कर आशीर्वाद प्राप्त किया। इसी बीच लवणासुर को मारकर शत्रुघ्न भी आ गये। प्रसन्न होकर लक्ष्मण कहते है कि कल्याण एक के बाद एक होते है।[2] राम कहते है कि यह सब अनुभव करता हुआ भी विश्वास नही कर पा रहा हूँ। 'आपका और कौन सा प्रिय कार्य करूँ' - बल्मीकि के ऐसा कहने पर राम कहते है कि आपकी रचित यह कथा पापनाशिनी और कल्याण वर्द्धिनी है। शब्दब्रह्म को जानने वाले कवि की नाटक रूप में परिणत इस वाणी का विद्वान लोग विचार करें, ऐसी प्रार्थना है।[3] आशय है कि लोग इस नाटक का बार-बार अभिनय करें, जिससे पाप से रक्षा हो, श्रेय की वृद्धि को तथा समस्त लोक का मगल हो।

1- अरून्धती - जगत्पते रामचन्द्र।
नियोजन यथाधर्मं प्रियां त्वं धर्मचारिणीम् ।
हिरण्मय्याः प्रतिकृतेः पुण्यां प्रकृतिमध्वरे ।।
- उ0 रा0, 7/19

2- लक्ष्मण - सानुषड्गाणि कल्याणनि ।
- उ0 रा0, पृ0 439

3- राम -
पाप्मभ्यश्च पुनाति वर्धयति च श्रेयांसि सेयं कथा
मड्गल्या च मनोहरा च जगतो मातेव गड्गेव च ।।
तामेतां परिभावयन्त्वभिनयैर्विन्यस्तरूपां बुधाः
शब्दब्रह्मविदः कवेः परिणतां प्राज्ञस्य वाणीमिमाम् ।।
- उ0 रा0, 7/20

कवि की कला का वैशिष्ट्य नाटक के अन्तिम अड्.क मे यह है कि अड्.क राम के पूरे उत्तरचरित को उसी प्रकार अपने अड्.क में समेटे हुये दर्शको या पाठकों के समक्ष लाकर रख देता है, जिस प्रकार प्रथम अड्.क में चित्रवीथी में सँजोये राम के पूर्वचरित को प्रदर्शित किया गया है। कवि का यह भी वैशिष्ट्य है कि उन्होंने आरम्भ में सीता - निर्वासन जैसा क्रूर कार्य दुर्मुख की सूचना से कराया है और अन्त में सीता स्वीकृति जैसा सुखद व मगल पतिव्रता शिरोमणि अरून्धती के पुनीत आदेश से सम्पन्न कराया हे। आरम्भ मे वसिष्ठ का आदेश [1] राम के द्वारा बडे तर्क-वितर्क और मन को दबाकर पालन किया जाता है, किन्तु अन्त में अरून्धती का मड्.लमय आदेश [2] बडे उल्लास से स्वीकार किया जाता है। प्रथम आदेश-पालन का फल त्याग है, तो दूसरे का फल है प्राप्ति। नाटक का आरम्भ होता है सूने चौराहे से किन्तु समाप्ति होती है - गड्.गा के पावन तट पर।

'उत्तररामचरितम्' का उपजीव्य

अन्त एव बाह्य प्रमाणों के आधार पर सत्य यही जान पडता है कि 'उत्तररामचरितम्' न केवल भवभूति की अन्तिम, वरन् कृति है। भवभूति की पहली दो नाट्यकृतियां मे जो मूल्य अधकचरे जान पडते है अथवा जिन नये मूल्यों की सम्भावना दीख पडती है, प्रायः वे सब के सब अपने पूर्ण - परिपाक में यहाँ वर्तमान मिलते है। ये मूल्य कवि की सुविकसित नाट्य-प्रतिभा के चूडान्त निदर्शन तो है ही, वे उसके गम्भीर मँजे हुये जीवन-दर्शन की विशिष्ट झलक लेकर भी उपस्थित होते है।

1- जामातृयज्ञेन वयं निरूद्धास्त्वं बाल एवासि नवं च राज्यम् ।
युक्तः प्रजानामनुरञ्जने स्यास्तस्माद्यशो यत् परमं धनं व. ।।

- उ0 रा0, 1/11 •

'उत्तररामचरितम्' में जो 'उत्तर' पद विशेषण के रूप मे प्रयुक्त हुआ है, वह न केवल राम के पुरोवर्ती जीवन-वृत का बोधक है, बल्कि प्रत्यक्षतः उसका सम्बन्ध बाल्मीकीय रामायण के 'उत्तर' काण्ड से भी प्रतीत होता है । 'महावीरचरितम्' की प्रस्तावना में बाल्मीकि तथा उनकी अमरकृति रामायण के प्रति कवि ने जो भक्तिभाव प्रकट किया है, वह न केवल 'महावीरचरितम्' की कथावस्तु, प्रत्युत 'उत्तररामचरितम्' के इतिवृत का भी स्पष्ट सङ्केत देता है । यों राम के 'महावीरचरितम्' के विषय मे तो सभी विद्वान एकमत है कि उसकी वस्तु मूल-रामायण पर आधृत है, परन्तु उत्तरकाण्ड प्रक्षिप्त काण्ड है, वह बाल्मीकिकृत नहीं है, ऐसा कई विद्वानों की स्थापना है। हमें इस विवाद में न पड़कर यह देखना है कि क्या यह तथाकथित प्रक्षिप्त काण्ड भवभूति के समय वर्तमान था और यदि था तो किस रूप में ? यदि इसका निश्चय हो जाये कि उत्तरकाण्ड की स्थिति उनके समय थी, तो असन्दिग्ध रूप से इस नाटक की प्रान्तरेखाएँ उसी पर आधृत मानी जा सकती है। हाँ, उत्तरकाण्ड की कथा से भवभूति के कथानक मे यत्र-तत्र जो भेद परिलक्षित होते हैं, वे या तो भवभूति के अपने आविष्कार होंगे या उन्हें भवभूति ने रामायण से पृथक प्राचीन अथवा समसामयिक साहित्य में अनुबद्ध राम के उत्तरवृत्त का आधार प्रदान किया होगा । 'उत्तररामचरितम्' ने निम्नलिखित सन्दर्भ इस दृष्टि से विचारणीय एवं परीक्षणीय हैं । ये भवभूति द्वारा स्वीकृत बाल्मीकिकृत रामायण के रूपों पर प्रत्यक्षतः प्रकाश डालते हुये प्रतीत होते हैं ।

उद्धरण से इतना तो स्पष्ट है कि 'उत्तररामचरितम्' [1] के प्रणयन के सन्दर्भ में कवि जो

1- आत्रेयी-तेन खलु पुन· समयेन तं भगवन्तमाविर्भूतशब्दब्रह्मप्रकाशमृषिमुपसङम्य भगवान भूतभावनः पद्मयोनिरवोचत् - 'ऋषे: प्रबुद्धोऽसि वागात्मनि ब्रह्मणि । तद्ब्रूहि रामचरितम्। अव्याहत-ज्योतिरार्ष ते प्रातिभ चक्षुः आद्यः कविरसि।' इत्युक्त्वा तत्रैवान्तर्हितः। अथ स भगवान्प्राचेतसः प्रथमं मनुष्येषु शब्दब्रह्मणस्तादृशं विवर्तमितिहासं रामायणं प्रणिनाय।

- उ0 रा0, पृ0 36

इतनी श्रद्धा तथा सम्मान भाव के साथ बाल्मीकि एवं उनकी रामायण का परिचय दे रहा है । उसकी कहानी को वह अवश्य ही अपने नाटकीय कथानक की निर्माण-प्रक्रिया मे प्रयुक्त कर रहा होगा। इस तथ्य की सर्वाधिक पुष्टि उद्धरण [1] से होता है । यहाँ सीता-वियुक्त राम के मनस्ताप की वर्णना से क्रम में कुश लव से कहता है - 'तुम तो ऐसी बातें कर रहे हो, जैसे तुमने रामायण पढी ही नहीं है।' स्पष्टत कुश के इस कथन का 'उत्तररामचरितम्' के इस कथखण्ड के मूल उपजीव्य के साथ गहन सम्बन्ध है । इससे इतना तो यह हो जाता है कि सीता का परित्याग, राम का दुसह विरह-भाव आदि घटनाएँ रामायण का आधार लेकर ही यहाँ निबद्ध की गयी है । किन्तु इतना मान लेने पर भी कवि ने 'उत्तररामचरितम्' के उत्स के रूप में रामायण को ग्रहण किया है । हमारी वास्तविक समस्या कुछ भी नहीं सुलझती कि भवभूति के समय उत्तरकाण्ड की कैसी रूपरेखा थी और उन्होंने अपनी प्रकरण-वक्रताओं के द्वारा नाटक में क्या मोड़ दिया है, यहाँ हमारे अध्ययन का वास्तविक विषय यही है । प्रस्तुत उदाहरण से केवल इतना स्पष्ट होता है कि भवभूति यहाँ शब्दब्रह्म के विवर्त के रूप में रामायण का उल्लेख नहीं करते, वस्तुतः अपने नाटक की सृष्टि में सामान्य रूप से वे रामायण से कितने प्रभावित है, इसकी ध्वनि भी यहाँ प्राप्त होती है ।

1- अपि वत्स,

बिना सीतादेव्या किमिव हि न दुःखं रघुपतेः
प्रियानाशे कृत्स्नं किल जगदरण्यं हि भवति ।
स च स्नेहस्तावानयमपि वियोगो निरवधिः
किमेव त्वं पृच्छस्यनधिगतरामायण इव ।।

- उ० रा०, 6/30

उद्धरण [1] से उत्तरकाण्ड की कथावस्तु पर प्रत्यक्ष रूप से कुछ प्रकाश पड़ता हुआ प्रतीत होता है लव को देखकर जनक के मन मे कहीं विश्वास सा होने लगा कि हो न हो वह सीता का आत्मज है वे बड़ी प्रवीणता के साथ लव से अपनी तत्सम्बन्धी जिज्ञासा का समाधान करना चाहते हैं। दशरथ किन-किन पुत्रों को किन-किन भार्याओं से कितने और कौन-कौन पुत्र हुये, यह निश्चित रूप से ए ऐसा प्रश्न है, जो उत्तरकाण्ड के कथानक को एक सीमा तक हमारे सामने रखने का उपक्रम कर

1- जनक. - (विचिन्त्य) यदि त्वमीदृशः कथायामभिज्ञस्तद्ब्रूहि तावत्पृच्छामस्तेषां दशरथात्मजा कियन्ति किंनामधेयान्यपत्यानि केषु केषु दारेषु प्रसूतानीति ।

लवः नायं कथाप्रविभागोऽस्माभिरन्येव वा श्रुतपूर्वः।

जनक - किं न प्रणीत एव कविना ।

लव. - प्रणीतो न प्रकाशितः । तस्यैव कोऽप्येकदेश. सन्दर्भान्तरेण रसवानभिनेयार्थ. कृतः तं च स्वहस्तलिखित मुनिर्भगवा व्यसृजभगवतो भरतस्य मुनेस्तौर्यत्रिकसूत्रकारस्य ।

जनक - किमर्थम् ।

लव - स किल भगवान्भरतस्तमप्सरोभि प्रयोजयिष्यति ।

जनक - वत्स कथय कथाप्रबन्धस्य कीदृश पर्यन्त ।

लव. - अलीकपैरापवादोद्विग्नेन राज्ञा निर्वासिता देवीं देवयजनसम्भवां सीतामासन्नप्रसववेना मेकाकिनीमरण्ये लक्ष्मणः परित्यज्य प्रतिनिवृत्य इति ।

- उ0 रा0, पृ0 101-2

है। जब इस प्रश्न के उत्तर में जनक को लव को छोटा सा असतोषप्रद उत्तर मिलता है - 'कथा के इस अंश को हमने या किसी ने अभी सुना ही नहीं है' - तो प्रश्न कुछ उलझ सा जाता है। इसके पश्चात् जिज्ञासु जनक लव से एक सीधा सा प्रश्न पूछते है - 'क्या (इस कथाश को) कवि ने अभी रचा ही नहीं' इस प्रश्न के उत्तर से भी जब उन्हें तृप्ति नहीं मिलती, तो सहज जिज्ञासावश वे एक अन्य महत्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित करते हैं, जो हमारे प्रस्तुत अध्ययन के लिये भी बडा ही साम्प्रतिक प्रतीत होता है । प्रश्न है - 'वत्स, बताओ तो (बाल्मीकि के इस) कथा प्रबन्ध का अन्त कैसे हुआ?' उत्तर में लव जो उत्तर देते हैं, उससे यही स्पष्ट होता है कि राम द्वारा निर्वासित सीता देवी को जगल में अकेली छोडकर लक्ष्मण अयोध्या वापस आ गये, लव के कथनानुसार कथा के इस प्राविभाग का यही अंत हुआ । यहाँ हमारे सामने स्वभावतः यही शका उत्पन्न होती है कि क्या सचमुच भवभूति के समय उत्तरकाण्ड की कथा यहीं समाप्त हो जाती थी ? यदि लव की बात मे विश्वास करके हम इतना मान लें कि लोक-प्रकाशित रामायण की कथा का अन्त यहीं हुआ है, यों उसका किञ्चिद् उत्तर अंश भी है, किन्तु वह बाल्मीकि या आचार्य भरत के पास सुरक्षित है, तो फिर दूसरी ओर एक और शंका हमारे सम्मुख उपस्थित होती है कि बाल्मीकिकृत रामकथा का यह अंश भी, जिसे सप्तम अङ्क में नाटकीय रूप प्रदान किया जाता है, सुखान्त क्यों होता है ? रामायण के वर्तमान रूप में तो यह कथा दुखान्त होकर ही हमारे सामने आती है ।

रामकथा केवल रामायण में ही निबद्ध की गयी हो, ऐसी बात नहीं है। कई पुराणों में भी राम की कहानी किञ्चिद् परिवर्तन या परिवर्धन के साथ प्रस्तुत की गयी है अध्यात्म-रामायण को आंशिक रूप से निबद्ध करने वाले ब्रह्मपुराण तथा भागवत, स्कन्द, गरूड, अग्नि, पन, कूर्म आदि कई पुराण अपने-अपने ढंग से रामकथा की अवतारणा करते हैं, किन्तु हमारे प्रस्तुत अध्ययन के लिये

सर्वाधिक महत्वपूर्ण पद्मपुराण है, जिसके पातालखण्ड में राम का उत्तर वृत एक नये परिवेश में खड़ा किया गया है । यहाँ रामायण के वर्तमान दुखान्त रूप से भिन्न ऐसे सुखान्त रूप की कल्पना की गयी है, जहाँ बाल्मीकि के प्रयत्न से निर्वासिता-सीता का राम से मिलन हो जाता है - यहाँ सीता के पृथ्वी में अन्तर्हित होने का प्रसड्ग लाया ही नहीं गया है । इतना ही नहीं, इस कथा के मध्य भार्गो में भी रामायण से कई भेद परिलक्षित होते है । जैसे राम के मेध्य अश्व का बाल्मीकि के आश्रम में प्रवेश, वहाँ लव तथा कुश का राम की सेवा के साथ प्रबल युद्ध, पराजित राम-सैन्य का पलायन आदि । यदि उत्तररामचरित के पञ्चम् तथा षष्ठ अड्कों में चित्रित युद्ध आदि घटनाओं का पनपुराण के इन अशों से तुलना की जाये, तो हमें इन दोनों में बहुत कुछ साम्य दृष्टिगोचर होगा। भवभूति अपनी नाटकीय कथाभिति की रूपरेखा को तैयार करने मे यदि पनपुराण रो सहायता लेते हैं, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं माना जाना चाहिये ।

हाँ, जहाँ तक रामकथा के सुखान्त स्वरूप का प्रश्न है, ऐसा प्रतीत होता है कि भवभूति के समय रामायण निश्चित रूप से दुखान्त ही था । इस तथ्य के सम्यक् परिचय के लिये हमे कुछ सूक्ष्म विश्लेषण करना होगा, 'शोक-विह्वल सीता अपनी माँ पृथ्वी से निवेदन करती है, 'माँ, मुझे अपने अंगों में विलीन कर लो।' यहाँ विलय के दो अर्थ हो सकते हैं - छिप जाना या सदा के लिये अन्तर्हित हो जाना यदि सीता का अभिप्राय विलय के प्रथम अर्थ से है, तो सम्भवतः वे एक निश्चित अवधि के लिये ही अपने को पृथिवी में गोपित करना चाहती है, किन्तु आगे सीता के इस अनुनय से विचलित होकर भागीरथी जो उद्गार व्यक्त करती हैं, उससे 'विलय' के दूसरे अर्थ की ही पुष्टि होती है । यदि पहला अर्थ अभीष्ट होता, तो वह 'शान्तम्' नहीं कहती अथवा सीता के 'हजारों-वर्ष' के दीर्घायुष्य की कामना नहीं करतीं । रामायण मे जब राम सीता के सामने पुन अग्नि

परीक्षा देने का प्रस्ताव रखते हैं, तो सीता स्पष्टतः इसे अपना परिभव मानती हैं - इसी परिभव की ज्वाला मे झुलसती हुयी सी वे पृथिवी की गोद में अनन्त शरण ले लेती हैं। [1]

इस विश्लेषण से बहुत कुछ निश्चित हो जाता है कि भवभूति ने अपने इस नाटक के प्रधान उपजीव्य के रूप में रामायण को ही ग्रहण किया है, यद्यपि वे पद्मपुराण के प्रभावों से भी सर्वथा अस्पृष्ट नहीं कहे जा सकते । इसी सन्दर्भ में दूसरा प्रमुख निष्कर्ष यह निकलता है कि भवभूति के समय रामायण के उत्तराकाण्ड की प्रायः वैसी ही रूपरेखा थी, जैसी कि हम उसे आज पाते हैं । यद्यपि भवभूति दुखान्त रामायण से परिचित थे, फिर भी भारतीय नाट्य-परम्परा को दृष्टि में रखकर उन्होंने अपने नाटक को सुखान्त बना दिया है । भवभूति की बारीकी इसी में है कि उन्होंने अपने नायक एवं नायिका के मिलन सुखों को विरह, यहाँ तक कि करूण अन्त की अनुभूति के निविड आँसुओं से सींचकर पुष्ट किया है । रामायण में वर्णित सीता के करूण अन्त की अनुभूति यहाँ भी प्रकारन्तर से कर ही लेते हैं । यद्यपि यही अनुभूति उनके मिलन सुख का मूल-अंश भी बन जाती है ।

'उत्तररामचरितम्' में भवभूति की प्रकरण-वक्रता

(1) प्रथम अड्.क मेंही **'चित्रदर्शन'** की कल्पना महाकवि की अपनी कल्पना है । राज्याभिषेक के पश्चात् राजा जनक के चले जाने पर खिन्नमना सीता को सांन्त्वना प्रदान करने के

1- सीता - (रूदती कृताञ्जलिः) णेदु मं अतणो अडेसु विलअं अम्बा। ण सहिस्सं ईरिसं जीअलोअपरिभअं अणुभविदुम् ।

राम: - किमन्यद्ब्रवीतु ।

भागीरथी - शान्तम्। अविलीना संवत्सरसहस्त्राणि भूयाः ।

- उ० रा०, पृ० 427

लिये राम उनके समीप स्थित हैं । लक्ष्मण जी सीता के मनाुविनोदार्थ रामचरित्रविज्ञापक चित्रपट को लेकर वहीं आते हैं । चित्रदर्शन से सीता के मन में पंचवटी को देखने के निमित दौहृदउत्पन्न होती हैं । चित्रदर्शन से पूर्व ही देवी अरून्धती एवं देवी शान्ता का सन्देश प्राप्त हो चुका था कि गर्भिणी अवस्था मे सीता की जो इच्छा हो, उसे शीघ्र ही पूर्ण किया जाना चाहिये।[1] अतः पंचवटी देखने की उनकी अभिलाषा को पूर्ण करना राम का कर्त्तव्य था । उन्होंने तत्काल ही लक्ष्मण को सीता की पंचवटी देखने की इच्छा को पूर्ण करने के लिये रथ तैयार करने के निमित आज्ञा प्रदान कर दी। लक्ष्मण चले जाते हैं । तदनन्तर परिश्रान्ता सीता राम के वक्ष पर सिर रखकर सो जाती हैं । इसी समय दुर्मुख भी आता है और सीता-विषयक जनापवाद की सूचना राम को देता है । इस समाचार को श्रवण कर राम महान दुख का अनुभव करते हैं।[2] इसी समय लवण राक्षस से त्रासित त्रृषि समुदाय के आने पर राम शत्रुघन को उसके हननार्थ प्रेषित करते हैं । इतने में रथ तैयार होकर आ जाता है । सीता का लक्ष्मण के साथ गमन होता है । प्रथम अङ्क की इस प्रकार की अपूर्व योजना में महाकवि हमारे सम्मुख एक भावुक कलाकार के रूप में उपस्थित होता है । सीता के भावी विरह की अनुभूति तीव्रता उभारने के निमित चित्रदर्शन की योजना महाकवि की अपनी विचित्र सूझ है ।

1- अष्टावक्रः - इदञ्च भगवत्याऽरून्धत्या देवीभि. शान्तया च भूयो भूयः सन्दिष्टम् । य कश्चिद् गर्भदोहदोऽस्या भवति सोऽवश्यमचिरात् सम्पादयितव्य इति ।

- उ0 रा0, पृ0 2।

2- राम. - अहह! तीव्रसंवेगो वाग्वज्रः। (इति मूर्च्छति)
हा हा धिक्! परगृहवासदूषणं यद्वैदेह्याः प्रशमितमद्भुतैरूपायैः ।
एततत्पुनरपि दैवदुर्विपाकादालर्कविषमिव सर्वतः प्रसक्तम् ।।

-उ0 रा0, 1/40

(2) द्वितीय अङ्क के विष्कम्भक में आत्रेयी का वनदेवी बासन्ती के साथ वार्तालाप कवि की अपनी कल्पना है । इसी प्रसङ्ग में आत्रेयी द्वारा राम के शम्बूक का वध करने के लिये दण्डकारण्य में आगमन की सूचना भी मिलती है।[1] शम्बूक वध का कथानक रामायण में इस प्रकार आता है कि एक ब्राह्मण राम के समीप आकर अपने युवा-पुत्र की अकाल-मृत्यु का प्रतिकार करने की प्रार्थना करता है । नारदमुनि आकर इस प्रकार की अघटित घटना का कारण शम्बूक नामक शूद्र तपस्वी द्वारा तप किया जाना ही बतलाते हैं।[2] तदनन्तर राम वन मे जाकर शम्बूक का वध करते हैं । रामायण मे इस घटना का समय सीता के पुत्र उत्पन्न होने का समय है । किन्तु, महाकवि ने इस घटना का वर्णन 12 वर्ष पश्चात् किया है । इस के अतिरिक्त 'उत्तररामचरित' के राम को शम्बूक के वध करने का आदेश नारद से प्राप्त न होकर आकाशवाणी द्वारा ही प्राप्त हुआ है । इस प्रकार के परिवर्तनों से नाटकीय सौन्दर्य की कहीं अधिक अभिवृद्धि हुयी है ।

1- शम्बूको नाम वृषलः पृथिव्यां तप्यते तप.।
शीर्षच्छेद. स ते राम तं हत्वा जीवय द्विजम् ।।
इत्युपश्रुत्यैवाकृष्टकृपाणपाणिः पुष्पक विमानमारूह्य सर्वो दिशि विदिशिश्च शूद्रताप-सान्वेषणाय जगत्पति. सञ्चरितुमारब्धवान् ।

- उ0 रा0, 2/8

2- अधर्म परमो राजन् द्वापरे शूद्रजन्मन.।
स वै विषयपर्यन्ते तव राजन् महातपा ।।
अद्य तप्यति दुर्बुद्धिस्तेन बालवधो ह्ययम् ।
यो ह्यधर्ममकार्यं वा विषये पार्थिवस्य च ।।

- वा0 रा0, उ0 का0, 74/28-29

(3) तृतीय अड्क मे एवं मुरला का परस्पर वार्तालाप तथा तमसा का सीता को लेकर उपस्थित होने इत्यादि का वर्णन कवि कल्पना ही है।

(4) रामायण की कथा के अनुसार सीता का निर्वासन गर्भावस्था की प्रारम्भिक स्थिति में ही किया गया है।[1] लक्ष्मण उन्हे बाल्मीकि आश्रम के समीप छोड आते है। आश्रम मे ही लव एवं कुश की उत्पत्ति होती है। परन्तु 'उत्तररामचरिचतम्' में महाकवि ने अपनी प्रकरण-वक्रता के साथ इस घटना का उल्लेख किया है। निर्वासन के समय उनकी सीता गर्भावस्था की पूर्णता को प्राप्त कर चुकी है तथा आसन्न - प्रसवा की स्थिति मे है। लक्ष्मण पचवटी में उनको अकेली छोडकर लौट आते है। उनकी दशा उत्यन्त शोचनीय हो गयी है। यह असह्य वेदना को सहन करने में पूर्णतया असमर्थ है। अत विवश यह होकर गंगा में कूद पडती है। तथा यही उन्हे दोनों पुत्रों की प्राप्ति होती है।[2] तदनन्तर पृथिवी एव गंगा उन्हें अधोलोक में पहुँचा देती है। यही उनका लालन-पालन होता है। दूध के छूटने के पश्चात् उनके दोनों पुत्रों को गंगा देवी स्वयं बाल्मीकि के समीप पहुँचा देती है। यही पर उनकी शिक्षा होती है। इस परिवर्तन में नाटकीय सौन्दर्य ययतो है ही साथ ही साथ भवभूति ने गर्भ की पूर्ण विकसित अवस्था में सीता का परित्याग कराया है और साथ ही गगा मे प्रवेश कराया है, उससे कथानक के इस दृश्य को प्रेक्षको के लिए और भी अधिक प्रभावोत्पादक बना दिया है। करूण

1- न खल्वद्यैव सौमित्रे जीवित जाह्नवीजले ।
त्यजेंय रजवशस्तु भर्तुर्मे परिहास्यते ।।

निरीक्ष्य माद्य गच्छ त्वमृतुमातिवार्तिनीम् ।
एवं बुवत्यां सीतायां लक्ष्मणों दीनचेतसः ।।

- वा0 रा0 उ0 का0 48/8-19

2- तमसा - श्रूयताम्। पुरा किल बाल्मीकितपोवनोपकण्ठात परित्यज्य निवृत्ते लक्ष्मणे सीता प्राप्तप्रसववेदनम् अतिदुःखसंवेगादात्मानं गड्गाप्रवाहे निक्षिप्तवती। तदैव तत्र दारकद्वयं प्रसूता ।

- उ0 रा0, पृ0 138

रस की प्रधानता तो नाटक के प्रारम्भ में ही चल रही थी, किन्तु उपर्युक्त घटना ने उसके वेग को तीव्रतर बनाने मे अपना महान सहयोग प्रदान किया है। संभवत. करूण रस की इस तीव्रतर अनुभूति को कराने हेतु ही महाकवि ने मूलकथा में उपर्युक्त प्रकरण-वक्रताओं का प्रयोग किया होगा। साथ ही कलात्मक सौन्दर्य में भी इससे महती वृद्धि हुयी है।

(5) तृतीय अङ्क में राम का वनदेवता बासन्ती से मिलन तथं दण्डकारण्य में छाया सीता की उपस्थिति, ये सभी महाकवि की मौलिक कल्पनायें है। बासन्ती के साथ वन मे भ्रमण करते हुये राम जनस्थान के पूर्वानुभूत दृश्यों को देखकर सीता की स्मृति मे तडप उठते है। इधर सीता भी उनकी इस अवस्था को देखकर महान कष्ट का अनुभव करती है। सीता के स्मरण से राम का वियोग-समूह सीमोल्लंघन कर निःसृत हो पडता है।[1] उनके रूदन को देखकर दण्डकारण्य के प्रस्तर भी पिघल उठते है राम मूर्च्छित हो जाते है। उनकी इस अवस्था को देखकर सीता भी मूर्च्छित हो जाती है तमसा द्वारा उन्हे चेतनता प्राप्त होती है। तदन्तर सीता अपने अदृश्य स्पर्श से राम को संज्ञायुक्त बना देती है। सीता सर्वत्र छाया रूप मे ही वर्तमान है। उन्हे कोई नहीं देख रहा है, किन्तु वह सबको देखती है। अत छाया रूप मे सीता के सर्वत्र विद्यमान रहने के कारण भवभूति ने इस अङ्क का नाम ही छाया अङ्क रखा है। इस अंक में करूण रस की अनुभूति चरमोत्कर्ष पर पहुँच जाती है तथा दर्शकों को यह अनुभव हो जाता है कि सीता के हृदय में राम के लिये क्या स्थान है? तथा राम के हृदय में सीता के लिये क्या स्थान है? इस प्रकार दो हृदयों का सच्चा अनुसन्धान भी हो गया है।

---

1 राम - अपि चण्डि जानकि! इतस्ततो दृश्यस इव न चानुकम्पसे ।

हा हा देवि! स्फुटति हृदयं ध्वंसते देहबन्धः ।
शून्यं मन्ये जगदविरतज्वालमन्तर्ज्वलामि ।।

सीदन्नन्धे तमसि विधुरो मज्जतीवान्तरात्मा ।
विष्वङ्मोहः स्थगयति कथं मन्दभाग्यः करोमि ।।

- उ० रा०, 3/38

﴾6﴿ चतुर्थ अङ्क मे बाल्मीकि-आश्रम मे जनक, कौशल्या, वशिष्ठ तथा अरून्धती आदि का आगमन कवि की अपनी कल्पना का ही परिणाम है और अपनी इन प्रकरण-वक्रताओं से काव्य में अपूर्व सौन्दर्य की सृष्टि की है।

﴾7﴿ पचम अङ्क में अश्वमेघीय अश्व की रक्षा का वर्णन आता है। इस घटना का रामायण में जो उल्लेख आता है, उससे ज्ञात होता है कि वहाँ अश्वमेघीय यज्ञाश्व के रक्षक लक्ष्मण स्वयं थे,[1] किन्तु 'उत्तररामचरितम्' मे भवभूति ने लक्ष्मण के पुत्र चन्द्रकेतु का सेनाध्यक्ष होकर अश्व के रक्षक के रूप में चित्र उपस्थित किया है।[2] उन्होने चन्द्रकेतु और लव के बीच युद्ध कराया है। इससे स्पष्ट है कि कवि को लक्ष्मण के साथ लव का युद्ध कराना अभीष्ट न था, साथ ही मर्यादा की रक्षा करना भी उन्हे अभीष्ट था। इसी कारण उनको यह प्रकरण वक्रोक्ति प्रयोग मूलकथा में करनी पडी। इस परिवर्तन से भी कथानक में एक विशिष्ट आकर्षण का समावेश हुआ है।

﴾8﴿ सप्तम् अङ्क में एक दूसरे नाटक 'गर्भाङ्क' की योजना की गयी है। नाटक के द्वारा एक ओर पुनः राम के सीता वियोग को उभारा गया है तथा दूसरी ओर लव-कुश का प्रत्यभिज्ञान कराया गया है और अन्त में राम एवं सीता का मिलन कराकर नाटक को सुखान्त बना दिया है। कलात्क दृष्टिकोण से तथा भारतीय नाट्य-परम्परा की दृष्टि से नाटक का दुखान्त होना वर्जित था, इसी कारण उनको 'उत्तरामचरितम्'

1- तत् सर्वमखिलेनाशु संस्थाप्य भरताग्रजः ।
हयं लक्ष्मणसम्पन्नं कृष्णसारं मुमोच ह ।।
ऋत्विग्भिर्लक्ष्मण सार्धमश्वतन्त्रे नियोज्य च ।
ततोऽभ्यगच्छत् काकुत्स्थः सह सैन्येन नैमिषम् ।।
- वा0 रा0, उ0 का0, 92/1-2

को सुखान्त बनाना आवश्यक था। मूलकथा का अन्त दुखपूर्ण है।[1] बाल्मीकि के कहने पर सीता को स्वीकार करने के लिए राम उनकी चरित्र शुद्धि का कोई प्रमाण उपस्थित करने का पुनः प्रस्ताव रखते है। सीता अग्नि को साक्षी कर पुनः अपने पतिव्रत-धर्म का प्रमाण प्रस्तुत करती है, किन्तु इस घटना से उनको अपने महान् अपमान का अनुभव होता है तथा वह पृथिवी माता से शरण देने की प्रार्थना करती है।[2] इसी अवसर पर पृथ्वी विदीर्ण हो जाती है तथा सीता उसमें समाविष्ट हो जाती है। हृदय - विदारक घटना को महाकवि ने पूर्णरूपेण परिवर्तन कर नाटक को सुखान्त बनाना ही उपयुक्त समझा है। इस परिवर्तन से कथावस्तु में अत्यन्त रोचकता भी आ गयी है।

इस प्रकार महाकवि भवभूति ने अपने प्रकरण वक्रता से मूलकथा में परिवर्तन एवं परिवर्द्धन कर 'उत्तररामचरितम्' की कथावस्तु को सर्वोत्तम रूप प्रदान करने का अनुपम प्रयास किया है।

'उत्तररामचरितम्' की कथावस्तु में अर्थप्रकृतियों का विवेचन

(1) प्रथम अड्क में दुर्मख द्वारा राम के समीप आकर लोक में विद्यमान सीता-अपवाद सम्बन्धी जो सूचना दी गयी है, वही 'उत्तररामचरितम्' की कथावस्तु का 'बीज' है।

(2) द्वितीय अड्क में आत्रेयी एवं वनदेवता के वार्तालाप के प्रसड्ग से और शम्बूक के वध किये जाने की घटना से तथा द्वितीय अड्क की विष्कम्भक घटना से मुख्य कथानक का विच्छेद सा हो गया है, किन्तु जब राम दण्डकारण्य में भ्रमण करने लगते है और पंचवटी के समीप जाते है, तो उन्हे पुनः सीता का

1- यानि पश्यन्ति काकुत्स्थं स्थावराणि चराणि च
सर्वाणि रामगमने ह्नुजम्मुर्हि तान्यपि ।
नाच्छ्वासत्तदयोध्यायां सुसूक्ष्ममपि दृश्यते
तिर्यग्योनिगताश्चापि सर्वे राममनुव्रताः ।।
- वा0 रा0, उ0 का0, 109/21-22.

2- सीता - णेदु मं अत्तणो अंगेसु विलअं अंबा ।ण सहिस्सं ईरिसं जीअलोअपरिभअं अणुभवदिुम्।
(नयतुं मामात्मनोऽङ्गेषु विलयम्म्वा। न सहिष्ये ईदृशं जीवलोकेपरिभवमनुभवितुम्।)
- उ0 रा0, पृ0 427

स्मरण हो आता है। तदनन्तर वे पंचवटी के देखने का निश्चय कर लेते है। किन्तु मार्ग में उन्हें महर्षि अगस्त्य का सन्देश प्राप्त हो जाता है। वे वहाँ जाते है। लौटकर पंचवटी - दर्शन से उनको सीता का स्मरण हो जाता है औ वे कहते है कि उनके हृदय मे छिपे हुये दुख के बाहर प्रकट होने से पहले मोह उन्हें आच्छादित कर रहा है।[1] राम के ये शब्द ही विच्छिन्न इतिवृत्त को जोडने तथा आगे बढाने में कारण है, अत. यही 'बिन्दु' नामक अर्थप्रकृति है।

(3) चतुर्थ अड्क के अन्त में अश्वमेघीय यज्ञाश्व के कारण चन्द्रकेतु एवं लव के युद्ध का प्रासड्गिक कथानक प्रारम्भ होता है तथा यह षष्ठ अड्क में दण्डकारण्य से लौटते समय युद्ध का दृश्य देखकर राम के द्वारा विमान को वहीं रोकने तथा लव से भेंट करने पर शान्त होता है। लव एवं चन्द्रकेतु के युद्ध का यह प्रासंगिक कथानक ही 'पताका' नामक अर्थप्रकृति है।

(4) सप्तम अड्क मे रामायण नाटक का जो अभिनय किया गया है, उसको देखने से राम को पुनः सीता का स्मरण हो गया है। तथा उनकी दशा पुन शोचनीय होने लगती है। उसी समय सीता को लेकर पृथिवी एवं गंगा उपस्थित हो जाती है। यहाँ 'गर्भाड्क' रूप में प्रदर्शित रामायण नाटक की घटना ही 'प्रहरी' नामक कथावस्तु की अर्थप्रकृति है।

(5) अन्त में सीता एवं राम का स्थायी मिलन हो जाता है, यही नाटक का प्रयोजन अथवा 'कार्य' नामक कथावस्तु की अर्थप्रकृति है।

कार्यावस्थायें

(1) तृतीय अड्क में राम में सीता के मिलन की इच्छा जाग्रत होती है। वे कहते है - 'हा प्रिये

1- राम: - अनेन पंचवटीदर्शन ------------------
अन्तर्लीनस्य दुःखाग्नेरद्योद्दामं ज्वलिष्यत: ।
उत्पीड इव धूमस्य मोहः प्रागावृणोति माम् ।।
- उ0 रा0, 3/9

जानकि! क्वासि नेता राम मे सीता प्राप्ति की इच्छा का जाग्रत होना ही 'आरम्भ' नामक कथावस्तु की अवस्था है।

(2) तृतीय अड्क मे वे सीता को प्राप्त करने के लिये बार-बार प्रयत्न करते है तथा एक बार तो काया रूप मे विमान अदृश्य सीता का हाथ पकड भी लेते है, किन्तु सीता के स्पर्श से उद्भूत आनन्द के अनुभव करने में सलग्न उनके हाथ से सीता हाथ अचानक छूट जाता है।[1] तदनन्तर वे पुनः सीता - प्राप्ति के लिये प्रयत्न करते है यही 'यत्न' नामक कार्यावस्था है।

(3) छठे अड्क मे दृश्य देखने के बाद जब सामाजिक सप्तम अड्क मे 'रामायण' नाटक को देखता है, तो उस राम का दुख से मूर्च्छित होना तथा अरून्धती की आज्ञा से सीता द्वारा स्पर्श करने पर राम का पुन. चैतन्यावस्था को प्राप्त करना दृष्टिगोचर होता है। यह दृश्य देखकर उसे आशा हो जाती है कि नायक राम को सीता की प्राप्ति हो जायेगी। यही 'प्राप्त्याशा' नामक कार्यावस्था है।

(4) तत्पश्चात् इसी अड्क में अरून्धती सीता के पातिव्रत्य की प्रशंसा कर जनता से यह पूछती है कि राम के सीता ग्रहण करने में आप लोगों का क्या मत है?[2] इसके उत्तर में सब की स्वीकृति तथा सीता के प्रति सबका आदर भाव होता है। इस प्रकार का दृश्य देखे जाने पर सामाजिक को पूर्णरूप से निश्चय हो जाता है कि राम को सीता की प्राप्ति अवश्य हो जायेगी, यही 'नियताप्ति' नामक कार्यावस्था है।

1- राम· -. देवि! .

प्रसाद इव मूर्तस्ते स्पर्शः स्नेहार्द्रशीतल. ।
अद्याप्यानन्दयति मां त्वं पुनः क्वासि नन्दिनी ।।

- उ0 रा0, 3/14

2- अरून्धती - भो भोः पौरजानपदा·! इयमधुना भगवतीभ्यां जाह्नवीवसुन्धराभ्यामेवं प्रशस्यमाना ममारून्धत्याः समर्पिता, पूर्व च भगवता वैश्वानरेण निर्णीतपुण्यचारित्रा सब्रह्मकैश्च देवैः संस्तुता सावित्रकुलवधूर्देवयजनसम्भवा सीतादेवी परिगृह्यतामिति कथमिह भवन्तो मन्यन्ते।

- उ0 रा0, पृ0 433

(5) अन्त मे अरून्धती की आज्ञा से राम सीता को स्वीकार करते है। इस प्रकार नायक राम व नायिका सीता का स्थायी मिलन हो जाता है, यही 'फलागम' नामक कार्यावस्था है।

सन्धियाँ

(1) प्रथम अड्क से तृतीय अड्क के राम के 'हा प्रिये जानकि, क्वासि?' इस कथन पर्यन्त 'मुखसन्धि' है।

(2) तदनन्तर तृतीय अड्क के अन्त तक 'प्रतिमुख' सन्धि है।

(3) कौसल्या - जनकयोग नामक चतुर्थ, कुमारविक्रम नामक पञ्चम तथा कुमारप्रत्यभिज्ञान नामक षष्ठ अड्क और सप्तम अड्क में सीता के स्पर्श द्वारा राम की मूर्च्छा समाप्त होकर चेतनता प्राप्त होने तक 'गर्भसन्धि' है।

(4) तदनन्तर राम के लिये 'अरून्धती' की आज्ञा कि राम सीता को पुन. स्वीकार करें - तक 'विमर्श' सन्धि है।

(5) उसके पश्चात् अड्क की समाप्ति तक 'निर्वहण' सन्धि है।

'मालतीमाधवम्' की कथावस्तु का विवेचन

महाकवि भवभूति ने अपने प्रथम नाटक 'मालतीमाधवम्' के कथानक को कहाँ से लिया है- यह एक विचारणीय विषय है, क्योंकि कुछ विद्वानों ने 'मालतीमाधवम्' को नाटक न मानकर प्रकरण माना है तथा उसकी कथा को कविकल्पित स्वीकार किया है।

प्रकरण एवं नाटक के लक्षणों में अंक इत्यादि की दृष्टि से कुछ साम्य है, किन्तु वस्तु और नायक आदि की दृष्टि से पर्याप्त वैषम्य भी है। दशरूपककार श्री धनञ्जय ने प्रकरण का लक्षण करते हुये कहा है। [1] अर्थात लोकसंश्रय से तात्पर्य यह है कि वह राजादि की कथा न होकर मध्यवर्ग के

1- अथ प्रकरणे वृत्तमुत्पाद्यं लोकसश्रयम् ।
अमात्यविप्रवणिजामेकं कुर्याच्च नायकम् ।।
- दशरूपक, 3/39

सामान्य व्यक्ति की कथा होती है। इसका नायक मन्त्री या ब्राह्मण या वणिज मे से एक हो सकता है। इस लक्षण के अनुसार 'मालतीमाधवम्' को प्रकरण की श्रेणी मे ही रखा जाये, तो इसकी कथा को कवकिल्पित ही मानना होगा, परन्तु श्रीयुत् काले महोदय ने अपने 'मालतीमाधवम्' के Introduction के 'The Sources of the Play' शीर्षक अश में लिखा है।[1] इस प्रकार उन्होंने भवभूति को 'मालतीमाधवम्' की कथा के लिये 'बृहत्कथा' का ऋणी माना है तथा उन्होनें भूमिका में दो मूल कथाएँ भी दी है और उन्होनें दोनों कथाओं को 'मालतीमाधवम्' का मूल कथानक स्वीकार किया है। इससे स्पष्ट है कि उन्होंने भी भवभूति को गुणाढ्य की बृहत्कथा का ऋणी माना है। प्रकरण मे कल्पित आख्यान का होना ही आवश्यक है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वह सम्पूर्ण कथानक स्व्यं नाटककार की ही कल्पना हो, अपितु उस कथानक का पौराणिक और ऐतिहासिक न होना ही कविकल्पित की श्रेणी में रखा जा सकता है। अतएव आगे चलकर अपनी भूमिका में श्रीयुत् काले महोदय ने भी यही स्वीकार किया है।[2] कि महाकवि भवभूति ने जिन दो कथाओं में से आवश्यक सामग्री लेकर अपनी नाट्य - प्रतिभा के बल पर 'मालतीमाधवम्' के कथानक को नाटकीय रूप प्रदान किया। उनसे प्रथम कथा 'कथासरित्सागर' के 13 वें लम्बक से ली गयी है। यह कथा निम्न है----

'मालतीमाधवम्' से सम्बन्धित प्रथम कथा

कलिङ्ग देश के शोभावती नामक नगर में यशस्कर नामक एक ब्राहमण अपनी पत्नी तथा

1- For the plot of Maltimadhava in the barest outlines, Bhavaghuti is indebted to the 'BRI HAT KATHA.'

-Shri Yut Kale - 'The Sources of the Play'

2- The plot of the Maltimadhava is not based on any historical event, but is, as already remarked, a work for the most part, of the poet's fancy.

- Shri Yut Kale - 'The Sources of the Play'

एकमात्र के साथ निवास करता था । भयकर दुर्भिक्ष के कारण वह अपने देश को छोडकर विशाला नाम की नगरी मे चला गया तथा वहाँ अपना निश्चित निवास बना लिया। उसका पुत्र नगर के ही एक प्रतिभाशाली गुरू के समीप विधाध्ययन करता था। वहाँ अध्ययन करने वाले बालकों में से विजयसेन नामक क्षत्रिय बालक के साथ उसकी प्रगाढ मैत्री हो गयी। इस विजयसेन के एक बहन थी, जिसका नाम मदिरावती था वह एक दिन अपने भाई के साथ अपने गुरू के यहाँ गयी वहाँ उसने तथा उसके मित्र यशस्कर के पुत्र दोनों ने एक दूसरे को देखा। देखते ही दोनों के हृदयों में एक-दूसरे के प्रति प्रेमभाव उत्पन्न हो गया। मदिरावती ने अपने घर जाकर अपनी माँ से उस ब्राहमण बालक की जो प्रशंसा की, उससे उसकी माँ के हृदय में उस ब्राहमण बालक को देखने की उत्सकुता हुयी । अतः कुछ दिनों पश्चात् विजयसेन ने उस ब्राहमण युवा बालक को अपने घर आने के लिये आमन्त्रित किया। वह बालक ब्राहमण मित्र के यहाँ गया और उसने अपने मित्र विजयसेन की माता द्वारा सत्कार प्राप्त किया। तदनन्तर मदिरावती की धाय द्वारा उस ब्राहमण बालक ने एक मालतीमाला को उपहारस्वरूप प्राप्त किया। उसी धाय ने संकेतात्मक भाषा में कुमारी मदिरावती के प्रेम-विवाह वृत्तान्त को उससे कह दिया तथा उसने शीघ्र ही विवाह करने की प्रार्थना की। इसी बीच एक उच्चकुलोत्पन्न क्षत्रिय युवा कुमार ने भी मदिरावती से विवाह करने के निमित्त उसके पिता के समक्ष प्रस्ताव रखा था तथा उसके पिता से उसकी स्वीकृति भी प्राप्त कर ली। विवाह का दिन आ गया। मदिरावती के निराश प्रेमी यशस्कर के पुत्र को पूर्ण शान्ति प्राप्त करने के लिये केवल एक ही बात सूझी। उसने एक वृक्ष की शाखा में लटककर आत्महत्या करने का प्रयत्न किया। परंन्तु वह अपने ही सुदृश निराश एक दूसरे ब्राहमण युवा के द्वारा बचा लिया गया। उस अपरिचित व्यक्ति ने अपनी निराशा भरी प्रेम-कहानी को उसे सुनाकर सान्त्वना प्रदान करते हुये उसे चेतन्यावस्था प्रदान की। वह निषाद-देशवासी था। भ्रमण करते हुये वह शंखपुर नामक नगर में, जिस नगर की स्त्रियाँ शंखहृद नामक तडाग पर स्नानार्थ एकत्रित हुयी थी, आया था। वहाँ पर उसने माधवलीता से पुष्पचयन करते हुये एक सुन्दर कुमारी को देखा। प्रथम दर्शन से ही दोनों में प्रेम उत्पन्न हो गया।

जब वह कुमारी घर जाने लगी, तब वह अपरिचित युवा भी उसके पीछे-पीछे उसके घर की ओर चल दिया। उसके घर पहुँचने से पूर्व ही एक उन्मत्त हाथी के सडक पर दौड पडने के कारण सम्पूर्ण नगर में एक विचित्र हलचल उत्पन्न हो गयी थी। प्रेमी को अपनी प्रेमिका को बचाने तथा आलिंगन करने का सौभाग्यपूर्ण अवसर मिल गया। शीघ्र की उस कुमारी के सेवक तथा अन्य लोगों का एक समूह उसके चारों ओर एकत्रित हो गया तथा वह उस जन-समूह के मध्य में से घर ले जाई गयी। वह अपरिचित न उसका नाम ही जान सका, न पता। पूर्णरूप से निराश होकर वह पर्याप्त समय तक वहाँ घूमता रहा। अन्त में वह ऐसे स्थान पर आ गया, जहाँ मदिरावती का प्रेमी अपनी आत्महत्या की तैयारी कर चुका था।

ये दोनों प्रेमी अपनी दुःखभरी कहानी समाप्त कर ही रहे थे कि थोडी दूर पर स्थ्रिर कामदेव के मन्दिर में कुमारियों के लिये विवाह से पूर्व विहित विधि को करने के निमित्त मदिरावती आयी। इस समय नवागन्तुक प्रेमी ने यशस्कर के पुत्र को यह सन्मति प्रदान की कि वह कामदेव की मूर्ति के पीछे जाकर छिप जाये और उसके द्वारा की जाने वाली पूजा को देखो तब वे दोनों मन्दिर में गये और मूर्ति के पीछे छिपकर खड़े हो गये। कुलीनवधू के वस्त्रों को धारण किये मदिरावती ने मन्दिर में प्रवेश किया। उसकी सेविकाएँ बाहर ही रह गयी। उसने अपनी इच्छा कामदेव के समक्ष कही तथा प्रार्थना की कि यदि इस जन्म में उस ब्राहमण युवा (यशस्कर के पुत्र) के साथ सम्बन्ध न हो सकें, तो वह अगले जन्म में मेरा सम्बन्ध उससे अवश्य कराये। इतना कहकर अपने आपको ऊर्ध्ववस्त्र से बाँधकर आत्महत्या करनी चाही। अचानक उसका प्रेमी ब्राहमण युवा सामने आ गया और उसको बचा लिया तथा पिछले दरवाजे से निकलकर उसे लेंकर भाग गया। उसके नवागन्तुक मित्र ने मदिरावती के ऊर्ध्ववस्त्र तथा घूँघट को धारण कर लिया। इस प्रकार मदिरावती के रूप को धारण कर बाहर की सेविकाओं से जा मिला। संध्या समय होने के कारण उसका भेष परिवर्तन सफल हुआ। जब वह घर पहुँची, तब वह अन्य स्त्रियों के साथ

मदिरावती की सखी (वही जो कि शंखपुर मे नवागन्तुक को मिली थी) भी उसे विदा देने के लिए आयी। घूघँट उठाकर देखने पर उसे मदिरावती से अधिक प्रिय तथा अपना प्रेमी व्यक्ति ही देखने को मिल गया। एक क्षण मे ही उन्होंने निश्चय दृढ कर लिया तथा दूसरे ही क्षण पृष्ठ - द्वार से दोनों निकल गये। सारी रात चलते रहे। प्रातः काल होने पर वे नगर से दूर जंगल मे पहुँच गये। अन्त में उन्होनें एक अग्रहार (संन्यासियों का मठ) में अपना विवाह किया।

इस उपर्युक्त कथानक में 'मालतीमाधवम्' के प्रायः सम्पूर्ण कथानक की सामग्री मूलरूप मे उपलब्ध होती है।

'मालतीमाधवम्' सम्बन्धी दूसरी कथा

दूसरी कहानी विदूषक की कहानी है, जिसका उपयोग भवभूति ने 'मालतीमाधवम्' के पञ्चम अङ्क की घटना में किया है। यह कहानी इस प्रकार है --

एक बार उज्जैन के राजा आदित्यसेन सायकाल एक बडी अश्वयात्रा करके लौटे। नगर के द्वार बन्द हो जाने कारण उन्होंने एक मठ में ठहरने का प्रयास किया, जो कि नगर के शमशान के समीप मे स्थित था। मठ के कायर ब्राहमणों ने उन्हे एक आक्रमणकारी निशाचर समझा और अपशब्दों से उन्हे सम्बोधित करना प्रारम्भ किया, किन्तु विदूषक जो जाति का ब्राहमण था और जिसमें क्षत्रिय के सभी गुण विद्यमान थे, बाहर आया तथा नवागन्तुक को उसके वेशभूषा से महान पुरूष मानकर नम्रतापूर्वक स्वागत कर उसे उचित आतिथ्य प्रदान किया। दूसरे दिन प्रातः काल राजा ने अपने नगर में प्रवेश किया। विदूषक की सेवा के आभार स्वरूप उसके मठ को 1000 ग्राम दान दिये। उस विदूषक को नगर में अपना पुरोहित बनाया कुछ काल पश्चात् राजा की उदारता के कारण धनी हुये उन ब्राहमणों उच्चपद (श्रेष्ठता) प्राप्ति के निमित्त झगडा हुआ। वे इस बात को भूल गये कि वे अपने तात्कालिक बड़प्पन के लिनये विदूषक के ऋणी थे। उस विदूषक ने अन्य ब्राहमणों की इस नीचता के प्रति अत्यधिक घृणा के भांव प्रकट किये तथा उनसे उपेक्षित रहने लगा। एक दिन वहाँ एक ब्राहमण भिक्षुक आया, जो कि स्पष्टवादी था। इस

ब्राहमण भिक्षुक ने मठ के निम्न स्तर से उठे हुये अति प्रसन्न उन ब्राहमणो की निन्दा थी, जिसके वे पात्र थे तथा उनके समक्ष प्रस्ताव रखा कि वे अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिये अपनी शक्ति की परीक्षा करें। उसने कहा कि शमशान के फॉसी के तख्ते पर तीन लाशें लटक रही है, जो अधरात्रि मे वहॉ जाकर उनकी नासिकाऍ काटकर लाये, उसी को सब लोग अपना नेता स्वीकार करें। परन्तु उन ब्राहमणों ने इस बात से अपने को बचाना चाहा, जब कि विदूषक ने उसे स्वीकार किया । उसने अग्निदेवता से प्राप्त अपनी तलवार ली तथा अर्धरात्रि में उस शमशान स्थल पर गया तथा वहॉ के भयंकर प्रेतों से अविचलित होते हुये उस वीरता के कार्य को सम्पन्न किया। तत्पश्चात् जैसे ही वहॉ से लौटने वाला था, उसने एक शव के ऊपर बैठे एक पुरूष को देखा, जो देवी शक्ति प्राप्त कर रहा था। जब उसने अपनी इच्छित वस्तु को प्राप्त कर लिया, जब समीपस्थ कात्यापनी के मन्दिर में चला गया। विदूषक, जो कि गुप्त रूप से उसके कार्यो को देख रहा था, पीछे-पीछे वहॉ गया। भीषणाकृति उस कापालिक ने देवी से एक वर मॉगा। उत्तर मे उसे यह शब्द सुनने को मिले कि 'वह अपनी इच्छा को पूर्ण तभी कर सकेगा कि जब वह राजा आदित्यसेन की पुत्री को देवि बलि पर चढाये।' तत्काल ही वह एक शव पर चढ गया जिसे एक बेताल ने सजीव किया था । आकाशमार्ग द्वारा वह राजमहल गया तथा कुमारी के साथ लौटा । ज्यों ही वह उसका वध करने वाला था, वीर विदूषक वहॉ पहुॅच गया तथा अपनी अदृश्य तलवान के निश्चित वार से उस कापालिक के सिर को काट डाला । तब वह उसी अदृश्य शब्द द्वारा निर्देशित किया गया कि वह उसी शव पर बिठलाकर राजकुमारी को वापस ले जाये । विदूषक ने वैसा ही किया । दूसरे दिन प्रातः काल आश्चर्यचकित दासियों द्वारा वह राजकुमारी के कक्ष में पाया गया। जब राजा को इसकी सूचना प्राप्त हुयी, तो उन्होंने इस सम्पूर्ण घटना का अन्वेषण किया । विदूषक द्वारा अपनी पुत्री की वीरतापूर्ण रक्षा तथा अपनी पुत्री के प्रति उसके प्रेम से प्रभावित होकर राजा ने दोनों का विवाह निश्चित कर दिया ।

इसके अतिरिक्त महाकवि भवभूति ने शमशान के प्रेतों को मनुष्य का माँस बेचने का भाव भी इसी ग्रन्थ से लिया है।

क्या भवभूति 'मालतीमाधवम्' की कथावस्तु की रचना में इन दोनों कथाओं से प्रभावित थे ?

उपर्युक्त दोनों कथाओं में मालती एवं माधव का तथा मालतीमाधव के किसी अन्य पात्र का कोई भी उल्लेख नहीं आता है, इससे ऐसा प्रतीत होता है कि महाकवि ने इन कथाओं में से कुछ घटनाओं या कुछ तत्वों को बीजरूप से अवश्य स्वीकार किया है । तथा मालती एवं माधव के स्वकल्पित कथानक में नाटकीय दृष्टि से एक उचित स्थान प्रदान कर अपनी नाट्य-प्रतिभा का अपूर्व कौशल प्रदर्शित किया है । क्योंकि प्रथम कथा के एवं मालतीमाधव के कथावस्तु के स्वरूपों में बहुत कुछ साम्य दृष्टिगोचर होता है । दोनों मे दो-दो प्रेमियों एवं दो प्रेमिकाओं के प्रेम का तथा अन्त में दोनों के विवाह का वर्णन है । दोनों मे अध्ययन काल में ही नायिका के प्रति प्रेम की उत्पति होती है । यशस्कर का पुत्र भी पढ रहा है, वहीं पर मदिरावती अपने भाई के साथ किसी अन्य कार्य से आती है, किन्तु वहाँ अपने पर एक-दूसरे को देखने पर परस्पर प्रेम-भाव उत्पन्न हो जाता है । भवभूति का माधव भी न्यायशास्त्र के अध्ययन के लिये पनावती जाता है और वहाँ पर ही कामन्दकी द्वारा माधव एवं मालती का परस्पर एक-दूसरे को दर्शन कराया जाता है । देखते ही दोनों के हृदय में परस्पर प्रेमभाव उत्पन्न हो जाता है ।

प्रथम कथा में नायक का एक मित्र नवागन्तुक ब्राह्मण भी है, जिसके कारण वह अपनी आत्महत्या न कर सका था तथा जिसके द्वारा वह चैतन्यावस्था में लाया गया था, उसने नायक का नायिका से मिलन कराने में पूर्ण सहयोग प्रदान किया है । अन्त मे वह सफल मनोरथ हुआ है । उसी प्रकार

'मालतीमाधवम्' मे भी माधव का मित्र मकरन्द है, वह भी माधव का प्रत्येक अवस्था में सहायक है। मालती के विरह मे निराश माधव की दशा शोचनीय हो रही है । वह अचेत हो जाता है। मवरन्द उसे चैतन्यावस्था प्रदान करता है तथा अन्त मे वह भी अपनी प्रेमिका मदयन्तिका को प्राप्त कर सफल मनोरथ होता है। [1]

प्रथम कथा मे हाथी द्वारा कोलाहल मचाने तथा हाथी के आक्रमण से शंखपुर वाली की रक्षा करने वाला अपना प्रेमी नवागन्तुक व्यक्ति ही है, जो कि नायक की भी आपत्तियों में सहायता करने वाला मित्र है । 'मालतीमाधवम्' की कथावस्तु में भी सिंह का अचानक पिंजडे से बाहर आना तथा कोलाहल मचाने और मदयन्तिका पर आक्रमण किये जाने तथा उसके प्रेमी मकरन्द द्वारा उसकी रक्षा किये जाने का वर्णन है । मकरन्द भी नायक का सहायक एवं मित्र है । [2]

दोनों ही कथानकों में नायक के अपने-2 मित्रों सहित मन्दिर में छिपने तथा नायिकाओं के द्वारा पूजा के लिये उन-उन मन्दिरों में आने और जीवन त्यागने की बात सोचे जाने का वर्णन आता है।

1- माधव. (सकरूणं कृताञ्जलिः) आर्ये, प्रसीद। कथय जीवति मे प्रिया सा ?
हा प्रिये मालति, कष्टमतिवीभत्समापन्नासि ।
कथमपि तदाऽभवस्त्वं कमलमुखि। कपालकुण्डलाग्रस्ता ।
उत्पातधूमरेखाक्रान्तेव कला शशधरस्य ।

- मालतीमाधवम्, 9/50

2- कामन्दकी - (साकूतम्) कथं व्यालनखरप्रहारनिःसृत रक्तनिवहः क्षितितलविषक्तखड्गलता-वष्टम्भनिश्चल सभ्रान्तमदयन्तिकावलम्बितस्ताम्यति वत्सो मकरन्द.
माधवः - कथं प्रमुग्धः एव । भगवति परित्रायस्व माम् ।

- 'मालतीमाधवम्' पृ0 70

परन्तु दोनों ही नायकों के मित्र नायिकाओं के भेष धारण करके मन्दिर से घर लौट जाते है तथा वहाँ पर दोनों ही प्रेमियों की अपनी-अपनी प्रेमिकाओं से भेंट हो जाती है और वे घर से निकलकर बाहर चले जाते है। [1]

दूसरी कहानी में जो कापालिक द्वारा राजकुमारी को देवी पर चढाने तथा शमशान के भयंकर वर्णन का चित्र मिलता है, उसका वर्णन 'मालतीमाधवम्' के पञ्चम अङ्क में प्राप्त होता है। यहाँ पर भी अघोरघण्ट द्वारा मालती को काटकर देवी पर चढाये जाने का वर्णन आता है वहाँ विदूषक आकर कापालिक को मारकर राजकुमारी की रक्षा करता है तथा यहाँ माधव अघोरघण्ट की रक्षा करता है। [2]

'मालतीमाधवम्' में भवभूति की प्रकरण-वक्रता

महाकवि भवभूति ने उपर्युक्त समानताओं सम्बन्धी घटनाओं एव चित्रों को लेकर, अपने नवीन कल्पनाओं , नायक-नायिका आदि पात्रों के नवीन का सृजन कर, 'मालतीमाधवम्' की कथावस्तु को एक मौलिकतासी प्रदान की है। साथ ही उसमें कुछ नवील कल्पनाएँ भी की है। जैसे -- कामन्दकी एवं उसकी शिष्या सौदामिनी के नवीन कथानक। महाकवि ने मालती एवं माधव के प्रेम उत्पन्न कराने का साधन कामन्दकी को ही बनाया है। यह कामन्दकी नायक एवं नायिका के पिता की सहाध्यायिनी बौद्धसन्यासिनी है। प्रारम्भ से अन्त तक इसी के द्वारा दोनों को मिलाने, प्रेम जागृत करने तथा विवाह के

1- मकरन्दः -
अद्योर्जितं विजितमेव्व मया,
किमन्यदद्योत्सवः फलवती मम यौवनस्य ।
यन्मे प्रसादसुमुखेन समुद्यतेयं
देवेन बान्धुवरा मकरध्वजेन ।।
- मा० मा०, 7/4

2- आः रे रे पाप।
कठोरास्थिग्रन्थिप्यतिकरघणत्कारमुखरः ।
खरस्नायुच्छेदक्षणविहितवेगव्युपरमः ।
निरातङ्कः पङ्केष्वव पिशितखण्डेषु नियतअसिर्गात्रंगात्रं सपति लवशस्ते किकिरतु ।।
- मा० मा०, 5/34

बन्धन सूत्र में बाधने का उपक्रम कराया गया है। इसी की शिष्या सौदामिनी द्वारा मकरन्द एवं माधव का महान सहयोगी बनाकर अपनी कथावस्तु की कल्पना है। कामन्दकी नीति मुख्य कथानक को पूर्ण करने में समर्थ है।

महाकवि ने 'मालतीमाधवम्' के प्रथम अङ्क में भी एक नवीन कथानक की कल्पना की है। उन्होने भूरिवसु तथा देवरात के बाल्यावस्था में साथ-साथ पढने तथा पठन-काल में ही प्रतिज्ञा से, कि यदि हम दोनों में से एक के पुत्र व दूसरे के पुत्री उत्पन्न हुयी, तो उनका परस्पर विवाह सम्बन्धी किया जायेगा, दोनों आवद्ध कर दिया है।[1] अध्ययन के पश्चात् क्रमश. उनके पद्मावती-नरेश एवं विदर्भातिपति के आमात्य हो जाने तथा भूरिवसु के कन्या एव देवरात के पुत्र होने तथा उनके बडे होने पर विवाह सम्बन्ध के लिये प्रबन्ध किये जाने आदि से अपने कथानक को प्रारम्भ किया है। अमात्य भरिवसु अपनी कन्या मालती का विवाह अमात्य देवरात के पुत्र माधव से ही करना चाहते है। किन्तु पद्मावती-नरेश ने उनसे अपने नर्मसचिव नन्दन के लिये कुमारी मालती की याचना की है।[2] अमात्य भूरिवसु ने भी श्लिष्ट पदों में अपनी स्वीकृति दे दी है, किन्तु हृदय से नही। इधर कामन्दकी, जो कि दोनों ही अमात्यों की सहाध्यायिनी थी, वह भी इस बात को जानती थी। अतः उसने अपनी नीति द्वारा मालती एवं माधव का प्रेम कराया तथा उन दोनों को विवाह सूत्र में बाँध दिया है। इस प्रकार महाकवि

1- यदैव नो विद्यापरिग्रहाय नानादिगन्तवाससाहचर्यमासीत्तदैवास्मत्सौदामिनीसमक्षमनयोर्भूरिवसुदेव-रातयोः प्रवृत्तेयं प्रतिज्ञा। अवश्यभावाभ्यामपत्यसम्बन्धः कर्तव्य इति ।

- 'मालतीमाधवम्', पृ0 22

2- कामन्दकी -
तां याचते नरपतेर्नर्मसुहृन्नन्दनो नृपमुखेन तत्साक्षात्प्रतिषेधः कोपाय शिवस्त्वपमुपायः।।

- 'मालतीमाधवम्', 1/12

ने अपनी प्रकरण-वक्रता के द्वारा ही नाटक का प्रारम्भ किया गया है।

इसी प्रकार 'मालतीमाधवम्' के नवम अङ्क की कथा को भवभूति की अपनी कल्पना कहा जा सकता है । इस अड्क मे विरही माधव की विक्षिप्तावस्था एव विलापों का वर्णन है। इसका बहुत कुछ भाग 'विक्रमोर्वशीयम्' के चतुर्थ अड्क़ से मिलता-जुलता है। 'विक्रमोर्वशीयम्' के इस अड्क़ में विरही राजा पुरूरवा की विक्षिप्तावस्था एवं विलापों का वर्णन है। अत सम्भव हो सकता है कि भवभूति पर उपर्युक्त घटना सम्बन्धी विक्रमोर्वशीय का ही प्रभाव पडा हो और उन्होने तदनुसार अपने 'मालतीमाधवम्' के नवम् अड्क मे इस प्रकार की घटना का उल्लेख किया हो।

'मालतीमाधवम्' के कथानक का प्रकार

इस प्रकार यह बात स्पष्ट हो जाती है कि 'कथासरित्सागर' के उपुर्युक्त दोनों कथानकों से भवभूति प्रभावित अवश्य है तथा उसी को आधार बनाकर इन्होंने अपनी कल्पित कथावस्तु को निर्माण करने का प्रयास किया है। प्रकरण का इतिवृत्त कविकल्पित ही होता है तथा 'मालतीमाधवम्' मे प्रकरण के प्राय. सभी लक्षण मिलते है। [1] अतः इससे कथानक को लौकिक एवं कविकल्पित ही कहना उपयुक्त होगा, क्योंकि पाठकों एवं दर्शकों के समक्ष यह मौलिक रूप मे ही आता है। इसका प्रधान रस श्रृंगार है। इसका नायक मन्त्री का पुत्र ब्राहमण है तथा वह धीर-प्रशान्त है। कार्यसिद्धि विषदन्तर्हित है। अड्कों की संख्या की दृष्टि से इसमे दस अंक ही है। इसकी नायिका 'कुलीन स्त्री' मालती है। [2]

1- भवेत्प्रकरणे वृत्त लौकिकं कविकल्पितम् ।
श्रृड्गारीऽगी नायकस्तु विप्रोऽमात्याऽथवा वणिज सोपाय धर्मकामार्थपरो धीरप्रशान्तक. ।।
- साहित्यदर्पण, 6/22

2- द्विधा प्रकरणं तत्तु शुद्धं संकीर्णमिव च ।
कुलस्त्री रचितं शुद्धं संकीर्णं वैश्यय कृतम् ।।
- नाट्यशास्त्र

अतः उपर्युक्त कथानक में अनेक प्रकरण-वक्रताओं के द्वारा महाकवि ने इस रचना में अभूतपूर्व सौन्दर्य ला दिया है। और समस्त लक्षणों से समन्वित होने के कारण 'मालतीमाधवम्' की गणना 'शुद्ध-प्रकरण' मे ही करना उपयुक्त होगा।

अर्थ-प्रकृतियों की दृष्टि से 'मालतीमाधवम्' की कथावस्तु की विवेचना

(1) प्रथम अड्क में 'कामन्दकी' द्वारा यह बतलाया गया है कि विधाध्ययन के समय में भूरिवसु एवं देवरात मे इस प्रकार की प्रतिज्ञा मेरी उपस्थिति मे हुयी थी कि यदि उनमें एक को पुत्र व दूसरे को पुत्री होगी, तो दोनों को वैवाहिक बन्धन मे अवश्य बाँध दिया जायेगा- [1] यह प्रतिज्ञा ही 'मालतीमाधवम्' की कथावस्तु का 'बीज' है।

(2) चतुर्थ अड्क मे जब कि दोनों प्रणययुगल में प्रेम अकुरित हो रहा था, उसी समय एक पुरूष प्रवेश कर बतलाता है कि राजा की आज्ञा से नन्दन के साथ मालती का विवाह निश्चित हो गया है। इस समाचार से मालती - माधव को असीम कष्ट होता है। कामन्दकी माधव को बहुत कुछ आश्वासन एवं दिलासा दिलाती है। [2] इस कथानक में पुरूष ने आकर जो समाचार दिया था, उसे मुख्य कथा कुछ क्षणों के लिये विच्छिन्न हुयी थी, किन्तु कामन्दकी के कथन से पुनः चालू हो गयी। अत. यह कामन्दकी का कथन ही 'बिन्दू' है।

(3) . पचम अंक में अघोरघण्ट द्वारा मालती को पकडकर ले जाना तथा कराला देवी पर चढाने के

1- यदेव नो विधापरिग्रहाय नानादिगन्तवाससाहचर्यमासीत्तदेवास्मत्सौदामिनीसमक्षमनयोर्भूरिवसु-देवरातयोः प्रवृत्तेयं प्रतिज्ञा अवश्यमावाभ्यामपत्यसम्बन्ध. कर्तव्य इति ।

मालतीमाधवम्, पृ0 22

2- मालती -
राजाराधनंखलु तातस्य गुरूकम् न पुनर्मालती । (राआराहण करवु तादस्य गुरूअं ण उठा मालदी ।)

सामाजिकों को माधव को मालती प्राप्ति की सम्भावना हो जाती है। यह प्राप्ति की आशा ही 'प्राप्त्याशा है।

(4) अष्टम अक मे कपालकुण्डला मालती को पकडकर ले जाती है तथा नवम अक में कामन्दकी की शिष्या सौदामिनी द्वारा उसे बचा लिया जाता है। तत्पश्चात् सौदामिनी माधव को खोजती हुयी मकरन्द को प्राप्त कर लेती है, तदनन्तर माधव को भी । माधव चेतना मे आते है, उसी समय सौदामिनी मालती की बकुलमाला को माधव को दे देती है तथा मालती की कुशलता की सूचना भी देती है। अब माधव को मालती की प्राप्ति का निश्चय हो जाता है- यही 'नियताप्ति' नामक कार्यावस्था है।

(5) दशम अङ्क मे दोनों का स्थायी मिलन हो जाता है। इस प्रकार नायक माधव को नायिका मालती का समागम ही 'फलागम' नामक कार्यावस्था है।

सन्धियाँ

1- प्रथम अङ्क में 'मुखसन्धि' है।

2- द्वितीय अङ्क, तृतीय अङ्क एवं चतुर्थ अङ्कों में 'प्रतिमुखसन्धि' है।

3- चतुर्थ अङ्क के अन्त में - 'हन्त ! सर्वथा सशयितजन्मसाफल्य सवृत्तास्मि। तत्किं कर्तव्यम्' - इत्यादि माधव के कथन से लेकर पंचम अङ्क की समाप्ति तक 'गर्भसन्धि' है।

4- अष्टम् अङ्क में कपालकुण्डला द्वारा मालती को ले जाने के प्रसङ्ग से लेकर नवम अङ्क के अन्त तक 'विमर्शसन्धि' है।

5- तदनन्तर दशम अङ्क में 'निर्वहणसन्धि' पायी जाती है।

भवभूति के नाटकों के इस समग्र वस्तु-विवेचन के अन्तर्गत आदि से अन्त तक भवभूति की प्रकरण-वक्रता कहीं भी देखी जा सकती है। वस्तुगत धारा में आने वाले उतार-चढाव किस प्रकार मानव के अन्तर्जगत व बाह्य - जगत को निरन्तर उद्वेलित करते है, कितनी गहराई तक स्पर्श करते है तथा

परस्पर मिलकर करूणा, श्रृगार, भयानक आदि रसों के विभिन्न पक्षों को बाल्मीकि और गुणाढय से बिल्कुल अलग होकर प्रस्तुत कर देते है। यह कोई अनुमेय चीज नहीं है। प्रकरण-वक्रता का मूलाधार भी यही है कि एक सीधे - सपाट कथानक को लेकर भवभूति ने उसे अभिनन्दनीय वक्रता प्रदान की है। इस प्रकार इस सारे विवेचन में शब्दश· उपात्त न होने पर भी तीनों नाटकों के इतिवृत्त में पाँचों सन्धियों, उनकी अगभूत अर्थप्रकृति व कार्यावस्थाओं मे परिवर्द्धन, सशोधन व अभिनव उद्‌भावनाओं में वक्रता उसी प्रकार प्रतिबिम्बित है, जैसे बासन्ती पवन मे मादकता स्वत नि सृत होती है।

संदर्भित ग्रन्थमाला

ग्रन्थ	आचार्य कवि	हिन्दी टीकाकार
1- नाट्यशास्त्र.	भरतमुनि	श्री रविशंकर नागर
2- काव्यालड्कारः	रुद्रट	श्री रामदेव शुक्ल
3- हर्षचरितम्	बाणभट्ट	श्री जगन्नाथ
4- काव्यादर्शः	दण्डी	श्री रामचन्द्र मिश्रा
5- ध्वन्यालोकः	आनन्दवर्द्धन	श्री जगन्नाथ पाठक
6- काव्यमीमांसा	राजशेखर	श्री गंगानाथ राय
7- वक्रोक्तिजीवितम्	कुन्तक	श्री राधेश्याम मिश्रा
8- वक्रोक्तिजीवितम्	कुन्तक	श्री परमेश्वरदीन पाण्डेय
9- संस्कृत काव्य शास्त्र का इतिहास		श्री एस.के. डे
10- सरस्वतीकण्ठाभरणः	भोज	श्री स.ए. बरूआ
11- श्रृगारप्रकाशः	भोज	श्री जोश्यार
12- व्यक्तिविवेकः	रूय्यक	श्री ब्रह्मनन्द त्रिपाठी
13- काव्यप्रकाश	मम्मट	श्री सत्यव्रत सिंह
14- अलड्कारसर्वस्वम्	जयरथ	श्री रेवाप्रसाद द्विवेदी
15- वाग्भटालकार	सिंहदेवगणि	श्री सत्यव्रत सिंह
16- चन्द्रालोक		श्री जे.एल. मानवतली
17- साहित्यदर्पण,	विश्वनाथ	श्री यत्यव्रत सिंह
18- काव्यालड्कारसूत्राणि	वामन	श्री हरगोविन्द्र शास्त्री
19- औचित्यविचारचर्चा	क्षेमेन्द्र	श्री ब्रजमोन झा
20- भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा		श्री नगेन्द्र
21- अरस्तु का काव्यशास्त्र		श्री शिवप्रसाद द्विवेदी
22- साहित्यमीमांसा	म. मड्कख	श्री गौरीनाथ शास्त्री
23- पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा		डा0 सावित्री सिन्हा
24- वक्रोक्तिवाद और छायावाद		श्री विजयेन्द्र नारायण सिंह

25- अभिज्ञानशाकुन्तलम्	कालिदास	श्री देवदत्त शास्त्री
26- विक्रमोर्वशीय	कालिदास	श्री परमेश्वरदीन पाण्डेय
27- रघुवंशम्	कालिदास	श्री कृष्णमणि त्रिपाठी
28- मालविकाग्निमित्रम्	कालिदास	श्री रमाशंकर पाण्डेय
29- कुमार सम्भवम्	कालिदास	श्री मल्लिनाथ
30- मत्स्य पुराण		श्री एच·एच· विल्सन
31- भागवतपुराण		श्रीधर शास्त्री
32- महाभारत		श्री रामकुमार राय
33- उत्तररामचरितम्	भवभूति	श्री रमाशंकर मिश्रा
34- मालतीमाधव	भवभूति	श्री रामचन्द्र मिश्रा
35- महावीरचरितम्	भवभूति	श्री रामचन्द्र मिश्रा
36- वाल्मीकिरामायणम्	वाल्मीकि	श्री शिवराम शर्मा
37- दशरूपकम्	धनञ्जय	श्री आचार्य धनिक
38- शिशुपालवधम्	माघ	श्री मल्लिनाथ
39- रसगङ्गाधर	जगन्नाथ	श्री बदरीनाथ
40- लघु सिद्धान्त कौमुदी	वरदराज	श्री महेशसिंह कुशवाहा
41- ऋग्वेद संहिता (वेद)		सायण भाष्य तथा हिन्दी टीका
42- अथर्ववेद संहिता (वेद)		सायण भाष्य तथा पं० रामस्वरूप शर्मा की हिन्दी टीका
43- संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास		श्री वाचास्पति गैरोला
44- संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास		श्री देवदत्त शास्त्री
45- संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास		श्री आर्थर मैक्डीनल

46- विक्रमोर्वशीय — कालिदास — श्री अवनिकुमार पाण्डेय

47- भवभूति और उनकी नाट्यकला — श्री अयोध्या प्रसाद सिंह

48- कालिदास दर्शन — श्री एस·पी· भारद्वाज

49- Principles of Criticism — I.A. Richards

50- Practical Criticism — I.A. Richards

51- The Sourecs of the Play — Shri Yut Kale

52- Di Keith the Sanskrit Dramah — D. Keith